ग्रामीय अर्थशास्त्र

ग्रामीय अर्थशास्त्र

लेखक

श्रीयुत बृजगोपाल भटनागर

इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०

१९३३

विषय-सूची

भूमिका

हमारे देश की जनता का बहुत बड़ा हिस्सा गाँवों में रहता है। अधिकांश लोग खेती-संबंधी कारबार कर के अपनी जीविका चलाते हैं। ऐसी दशा में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम गाँवों के रहने वालों और उन की जीविका निर्वाह की रीति के संबंध में विशेष रूप से अध्ययन करें। साथ ही हम यह भी जानने का प्रयत्न करें कि उन की आमदनी इस योग्य है या नहीं कि वे लोग उस से अपना जीवन सुख और संतोष के साथ निर्वाह कर सकें। यदि हमारी जाँच से उन की आमदनी संतोष-जनक न मालूम हो तो यह जानने का प्रयत्न किया जावे कि किन किन उपायों से उनकी उन्नति हो सकती है। इस पुस्तक का मुख्य ध्येय इन्हीं बातों का ज्ञान प्राप्त कराना है।

'भारतीय जनता बृटिश राज्य के भारत में स्थापित होने के बाद पहले की अपेक्षा ग़रीब हो गई है' यह कथन कहाँ तक सच है इस विषय में चाहे मत भेद हो परंतु यह स्पष्ट है कि भारत की जनता इस समय ग़रीब है।

नीचे हम एक नक़शा देते हैं जिसमें भिन्न भिन्न लेखकों के अनुसार भारत में प्रति मनुष्य की वार्षिक आमदनी का अनुमान दिया गया है।

नंबर	पुस्तक के नाम जहाँ से यह अंक लिए गये हैं	क्षेत्र	वर्ष जिसका हिसाब लगाया गया है	कुल आमदनी इतने करोड़	प्रति वर्ष प्रति मनुष्य की आमदनी
१	दादा भाई नौरोजी कृत 'पॉवर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (१८७१)	बृटिश भारत	१८६७—१८६८	३४०	२०
२	सन् १८८२ ई० की आर्थिक रिपोर्ट'	,,	१८८१	५२५	२७
३	विलियम डिग्वी कृत 'प्रासपरेस इंडिया'	,,	१९९८	४२९	१७.५
४	' आर्थिक रिपोर्ट ' १९०१—१९०२	,,	१९०१	६७५	३०

५	डाक्टर बालकृष्ण कृत 'इंडस्ट्रियल डिक्लाइन अव् इंडिया'	संपूर्ण भारत	१९११—१९१२	५३९	२१
६	पी० ए० वाडिया और जी० एन० जोशी कृत 'वेल्थ अव् इंडिया' (१९२४)	बृटिश भारत	१९१३—१९१४	१२१०	४४
७	ऑरनल्ड लिप्टन कृत 'हैपी इंडिया' (१९२२)	” ”	१९१९—१९२०	२८६४·५	१४
८	शाह और खम्बाता कृत 'वेल्थ एंड टैक्सेबिल कैपसिटी अव इंडिया' (१९२४)	संपूर्ण भारत	१९००—१९१४	११०६	३६
			१९१४—१९२२	१८६२	५८·५
			१९००—१९२२	१३८०	४४·५
			१९२१—१९२२	२३६४	७४
९	फ़िन्डले शिराज़ कृत 'साइंस अव् पब्लिक फाइनेंस'	बृटिश भारत	१९२२	२८६६	११६

यदि हम ऊपर दिये हुए नक़्शे में से सब से बड़ी रक़म को ही—जो फ़िड्ले शिराज़ साहब की है—अपने विचार का मूलमंत्र मान लें तो भी हम यह देखते हैं कि प्रति मनुष्य प्रतिमास आमदनी के लगभग नौ रुपये ग्यारह आने ही आते हैं। यह रक़म यदि ज्यों की त्यों ली जावे तो भी इस योग्य नहीं है कि इस मँहगी के समय में एक आदमी के सुख और संतोष के लिए काफ़ी हो। फिर भी नौ रुपये ग्यारह आने का औसत तभी निकलता है जब कि हम यह मान लें कि उपरोक्त आमदनी के अंक भारत की जनता में बराबर बाँट दिये गए हैं, परंतु यह किसी प्रकार सच नहीं है। इसलिए यह निश्चित है कि हम ग़रीब हैं। इसे कोई झूठ नहीं सिद्ध कर सकता। इसलिए इस बात का ज्ञान प्राप्त करना सब से अधिक आवश्यक है कि हम राष्ट्रीय संपत्ति की उन्नति कैसे कर सकते हैं, जिससे भारत के प्रत्येक मनुष्य को जीवन की सभी साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने की सामग्री मिल जाये।

सन् १८८० तथा १९०१ ईस्वी की 'अकाल-जाँच-कमेटियों' (Famine Commissions) ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया था कि भारत की जनता के बहुत बड़े हिस्से में—जो गाँवों में रहती है—अकाल का इसलिए अधिक प्रकोप रहा, क्योंकि अधिकतर ग्रामीण जनता खेती-बारी से ही पेट पालती है और खेती-बारी अधिकतर वर्षा पर निर्भर रहती है। जहाँ जहाँ वर्षा की कमी रही वहाँ वहाँ अकाल का रूप भयंकर रहा। इन तकलीफ़ों को दूर करने के लिए इन दोनों कमेटियों ने बहुत सी बातों के साथ इस बात की भी सिफ़ारिश की थी कि जहाँ तक हो सके वहाँ तक लोगों को एक भारी संख्या में खेती ही में न लगा कर, उनके लिए दूसरे उद्योग-धंधों का प्रबंध किया जावे। इन सिफ़ारिशों का यह भी नतीजा निकला कि सरकार और जनता दोनों ही खेती की ओर से लापरवाह होने

लगे और दूसरे उद्योग-धंधों की ओर झुकने लगे। यहाँ तक कि भारत के बहुत से नेताओं की भी यही धारणा हो गई कि भारत का कल्याण खेती के सिवा अन्य उद्योग-धंधों की उन्नति करने से ही हो सकता है। यद्यपि हमारा यह कहना ठीक न होगा कि खेती-बारी की उन्नति से ही भारत का कल्याण होगा, फिर भी हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि भारत के कल्याण के लिए उसकी खेती-बारी और अन्य उद्योग-धंधों दोनों ही की उन्नति करना जरूरी है। परंतु भारत की खेती-बारी की अच्छी तरह उन्नति किये बिना यहाँ अन्य उद्योग-धंधों में उन्नति करना असंभव है।

यहाँ के कपड़े बुनने के उद्योग का इतिहास ही हमारे इस कथन का समर्थन करता है। अब से दस वर्ष पहले तक भारतवर्ष में ऐसी बहुत ही कम कपास की क़िस्में बोई जाती थीं जिनके सूत से बढ़िया कपड़ा तैयार किया जा सकता। कपड़े बनाने के कार-ख़ानों को लाचार होकर मोटा कपड़ा ही बनाना पड़ता था। अब जब कि हम ऊँचे दर्जे का कपास उत्पन्न करने जा रहे हैं, हमारे लिए यह संभव होता जाता है कि उससे महीन कपड़े भी कारख़ानों में बनाये जा सकें जो दूसरे देशों से अब तक लगभग साठ करोड़ रुपये के हर साल यहाँ आते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे कपड़ा बनाने के उद्योग-धंधे की उन्नति तब तक न हो सकी थी जब तक हमने ऊँचे दर्जे के कपास की क़िस्में पैदा करने की कोशिश नहीं की थी।

यही दशा शक्कर के व्यवसाय की भी रही। भारतवर्ष में शक्कर की खपत संसार के सभी देशों से अधिक है और संसार के सभी देशों से अधिक ज़मीन यहाँ गन्ने की खेती के काम में आती है। इस पर भी हर साल करोड़ों रुपये की शक्कर जावा, मारिशस आदि देशों से हमारे यहाँ आती है। कारण यही है कि हमारे किसान लोग जो गन्ना पैदा करते हैं वह अन्य देशों के गन्ने के बराबर शक्कर नहीं दे सकता। यदि

हमारे किसान भी विदेशियों की तरह ऊँचे दर्जे के गन्ने की खेती करने लगें तो हमारी करोड़ों की लक्ष्मी—जो शक्कर के ख़रीदने में बाहर जाती है—अपने ही देश में रह जावे। यदि शक्कर बनाने का व्यवसाय उन्नति कर जावे, तो जो लाभ अन्य देश वाले उठाते हैं उसे अपने ही देश वाले उठावें। सैकड़ों में से यह केवल दो ही उदाहरण हैं जिनसे यही सिद्ध होता है कि भारत के अन्य उद्योग-धंधों की उन्नति अधिकतर भारत की खेती-बारी की ही उन्नति करने से हो सकती है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि हमें समस्त उद्योग-धंधों की ओर से लापरवाह हो जाना चाहिए। हमारे कहने का मतलब यही है कि जब तक भारत की खेती-बारी की उन्नति नहीं की जावेगी तब तक वह अन्य उद्योग धंधों में आगे नहीं बढ़ सकता। इस छोटी सी पुस्तक का मुख्य उद्देश्य सर्वसाधारण का ध्यान भारत के इस सब से महत्वपूर्ण उद्योग-धंधे की ओर आकर्षित करना है।

अन्त में यह लिखना परम आवश्यक है कि इस पुस्तक को प्रकाशित करने में मुझे अपने प्रिय मित्र श्री धीरेन्द्र वर्मा से विशेष सहायता मिली है। इस के बिना इस पुस्तक का वर्तमान हिंदी रूप कदाचित् और भी अधिक असंतोषजनक होता। मेरे साथ पुस्तक के प्रूफ़ देखने तथा छपाई की त्रुटियों को दूर करने में उनसे मुझे जो अमूल्य सहायता मिली है उसके लिए मैं अपने प्रिय मित्र का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

कामर्स डिपार्टमेंट,
विश्वविद्यालय, प्रयाग।
१५-१२-१९३२

ब्रज गोपाल भटनागर।

पहला अध्याय

हिंदुस्तान में भिन्न भिन्न प्रकार के गाँव।

हिंदुस्तान के गाँवों और वहाँ रहनेवालों के दैनिक कार्य का अध्ययन करने ही का नाम 'ग्रामीय अर्थशास्त्र' है। इस परिभाषा का केवल यही मतलब है कि हम गाँववालों के निजी और उनके समाज-संबंधी उन्हीं कामों का अध्ययन करेंगे जिन का कि घनिष्ठ संबंध मनुष्य-जाति के कल्याणकारी उपायों, उन की प्राप्ति और उन के उपयोगों से है। ग्रामीय अर्थशास्त्र की ऊपर दी हुई परिभाषा से यही साफ़ मालूम होता है कि उनके सिद्धांत सार्वजनिक अर्थशास्त्र के सिद्धांतों से भिन्न नहीं हैं अर्थात् सार्वजनिक अर्थशास्त्र की तरह ग्रामीय अर्थशास्त्र में भी अर्थशास्त्र के वे ही सिद्धांत पाये जाते हैं। अंतर सिर्फ़ यही है कि ग्रामीण जीवन के अनुसार अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का उस की ख़ास ख़ास हालतों का विचार रख कर अध्ययन करना पड़ता है।

भारत में ग्रामीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए यह जान लेना बहुत ज़रूरी है कि यहाँ कितने तरह के गाँव होते हैं। एक तो वे गाँव हैं जिनके रहनेवाले सब पास ही पास एक जगह पर रहते हों। ऐसे गाँव यहाँ सर्वत्र समथल भूमि या मैदान में पाए जाते हैं, जैसे, संयुक्त प्रांत, बिहार, बंगाल, इत्यादि। दूसरे वे हैं जिन के रहनेवाले आपस में एक दूसरे से दूर, अपने अपने खेतों पर घर बनाकर रहते

हैं। इस तरह के गाँव भारत के पहाड़ी हिस्सों में पाए जाते हैं, जैसे, गढ़वाल, कुमाऊँ, टेहरी और मध्य प्रांत के कुछ पहाड़ी हिस्से।*

---

* गाँवों की आबादी का कारण कोई ख़ास व्यवस्था की बात नहीं है परंतु वह केवल कुदरती है। यही बात हम सारे भारत के समथल हिस्सों में देखते हैं। किंतु हिमालय आदि के पास के गाँवों की बात दूसरी है। पहाड़ी जगहों में लोगों का इकट्ठा होकर रहना असंभव है। एक दूसरे की आपस में मदद करने के लिए ही लोग एक दूसरे के पास और ख़ास कर ऐसी जगहों में, जहाँ की ज़मीन मिली हुई बस्ती बनाने के प्रतिकूल न थी, रहने लगे। पहले-पहल गाँव घने जंगलों के बीच में बसा करते थे, क्योंकि फ़सल को हमेशा हिरन और सुअरों का और मनुष्यों को बड़े बड़े जंगली जानवरों का डर लगा रहता था। इसके सिवा चारों तरफ़ घूमते हुए डाकुओं का गिरोह बना रहता था और गाँवों के लोगों में एक दूसरे से ठीक पटती नहीं थी। इससे इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वहाँ की अवस्थाओं को देखकर कहीं कहीं एक ख़ास व्यवस्था के साथ गाँव बसाये गये हों। इस तरह गाँवों की व्यवस्था करने का एक दूसरा कारण भी था। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि एक दल का दूसरे दल से जो संबंध था, उसका भी, गाँवों की व्यवस्था और परिमाण आदि निश्चित करने में हिस्सा रहा है। संयुक्त-प्रांत और पंजाब के गूजर, जाट और अहीर आदि कुछ किसान लोग अब भी अपना जातीय समुदाय क़ायम रखे हुए हैं। वे केवल अपना निज का एक गाँव ही नहीं बसाते बल्कि एक बड़े भारी हिस्से तक फैले रहते हैं। अहीरों और जाटों के ऐसे उपनिवेश मथुरा ज़िले और संयुक्त प्रांत के कुछ पच्छिमी भागों—जैसे बुलंदशहर, मेरठ, सहारनपुर, आदि में पाए जाते हैं। गूजर और जाटों के ऐसे उपनिवेश सारे पंजाब में पाए जाते हैं।

पहाड़ों में—जहाँ जगह कम होती है और जहाँ जुताई-बुआई के लायक़ ज़मीन टुकड़ों में इधर-उधर बँटी रहती है—गाँवों की झोपड़ियाँ भी कुछ यहाँ और कुछ वहाँ रहती हैं। यहाँ किसानों के मकान उनके खेतों में बने रहते हैं। उनके लगान आदि के प्रबंध करने के लिए उन में से कुछ खेतों और कुछ झोपड़ियों को मिलाकर एक गाँव बना देते हैं।

अब हम पहिली तरह के गाँवों को लेते हैं। ऐसे गाँव चाहे ज़िले के बीच में बसे हों या दूर, वहाँ आनेजाने वालों का सुभीता रेल, मोटर या नाव द्वारा हो सकता हो या वे ऐसे सुभीते से दूर हों, वहाँ की बस्ती गाँव के बीचोबीच होती है। गाँव की बस्ती के चारों तरफ़ पोखर होते हैं जो भिन्न भिन्न जगहों में तलैया या कुलम आदि के नाम से पुकारे जाते हैं। इन्हीं पोखरों और तलैयों में से मिट्टी निकाल निकाल कर गाँवों के घर बनाये गये थे। अब इन्हीं के चारों तरफ़ गाँव का सारा कूड़ा-कर्कट और गाय-बैलों का गोबर फेंका जाता है। हर एक गृहस्थ अपने अपने घर के कूड़े आदि की अलग अलग ढेरी बनाता है। (मद्रास प्रांत में कूड़े-कर्कट और गोबर बहुधा घरों के पिछवाड़े की ओर रखे जाते हैं जहाँ कि कुछ साग-पात बोया जाता है।)

इन्हीं पोखर आदि की ही क़तार में आस-पास जो बग़ीचे और खुली हुई जगहें होती हैं वहाँ उन लोगों का खरिहान रहता है। इसके बाद खेत मिलते हैं जो तीन घेरों में बँटे रहते हैं। बस्ती से क़रीब या दूर रहने के अनुसार ही इन खेतों के तीन विभाग किये जाते हैं। क्योंकि इसी पर उन में खाद पहुँचाना निर्भर है। इन खेतों का पहला घेरा गोंडा, गोहन या गोयड कहलाता है, दूसरा मंझा और तीसरा घेरा हार या पालू कहलाता। आबादी भी जाति जाति के लिहाज़ से भिन्न भिन्न मुहल्लों में बटी रहती है। ग्रामीय अर्थशास्त्र में किसी भी गाँव के भिन्न भिन्न जाति के लोगों की व्यवस्था उस गाँव की उत्पत्ति पर निर्भर है। *

* भारत के गाँवों की उत्पत्ति नीचे लिखे हुए दो में से एक तरीक़े से हुई है। या तो किसी जाति के या एक पंथ के ही कुछ लोग एक जगह आकर बस गए हों और वही बस्ती आगे चल कर एक गाँव बन गया हो, या किसी एक आदमी ने किसी कारण से उस बस्ती को बसाया

पर अक्सर ऊँची जाति के लोग गाँव के बीच ही में रहते हैं और सब से नीच जाति के लोग गाँव के किनारे किनारे रहते हैं। लोगों के रहने के घरों के सिवाय हर एक गाँव में एक आम जगह होती है जिस में सभी लोग आकर विश्राम या किसी सार्वजनिक कार्य के लिए आपस में मिल सकते हैं। इसे चौपाल या गुडी कहते हैं।

हो। बैडन पावल साहब ने पहले प्रकार के गाँवों को जातीय या साम्प्रदायिक गाँव (Tribal villages) और दूसरे प्रकार के गाँवों को असाम्प्रदायिक और अजातीय गाँव कहा है। पहले प्रकार के गाँवों की उत्पत्ति के बारे में उन का कहना है कि या तो किसी जाति के या क़ाफ़िले के लोगों ने—जिन की संख्या काफ़ी रही हो—उस ज़मीन को जीत लिया हो और वहाँ की ज़मीन को आपस में बाँट लिया हो, या कोई एक ही कुटुम्ब अपने बहुत से बंधु-बांधवों के साथ पहले किसी एक जगह में आ कर बस गया हो और दो-चार पीढ़ी के बाद उसी कुटुम्ब के नाती-पोते वहीं पर अपना अपना घर बना कर रहने लगे हों। यह ठीक पता नहीं लग सकता कि इन दो में से किस तरीक़े से जातीय या साम्प्रदायिक गाँवों की उत्पत्ति हुई है पर इतना ज़रूर है कि इन में दूसरे प्रकार के गाँवों की अपेक्षा ज़्यादातर एक ख़ासियत देख पड़ती है। जातीय गाँवों में लगभग सभी किसान एक ही जाति या एक ही कुनबे के होते हैं, केवल नौकर-चाकर दूसरी जाति के होते हैं। दूसरी ख़ास बात वहाँ के ज़मींदारों में ज़मीन के बटवारे के संबंध में पाई जाती है। यह सिद्धांत 'भाई-चारा' का सिद्धांत कहलाता है। इस के अनुसार एक कुटुम्ब के तीन पीढ़ी तक के लोगों को उस गाँव की सारी ज़मीन उन की वंशावली के हिसाब से बाँटी जाती है और फिर इस के बाद चौथी, पाँचवीं, और आगे की पीढ़ी के लोग बराबर बाँट लेते हैं। आजकल 'भाई चारे' के गाँव में तीन पीढ़ी वाला बटवारा कहीं नज़र नहीं आता। कारण यह है कि इस को बीते हुए बहुत समय हो गया है और अब जो भाई-चारे का बटवारा मिलता है सिर्फ़ दो क़िस्म का है—एक तो वह जहाँ हर शख़्स बराबर बाँटे हुए हैं, और दूसरा वह जहाँ कि ज़मीन क़ब्ज़े के अनुसार बँटती है। यद्यपि ऐसे जातीय गाँव के ज़मींदारों और मालगुज़ारों में ज़मीन का बटवारा करने के लिए "भाई-चारे" का

यह चौपाल बहुधा एक नीम, पीपल या बड़ के पेड़ के नीचे एक चौरस उठी हुई ज़मीन होती है या किसी मंदिर का आँगन होता है। इसी जगह गाँव के बड़े-बूढ़े लोग रोज़ शाम को इकट्ठा होकर ग्राम संबंधी विषयों पर वाद-विवाद करते हैं। यहीं पर पुलिस का सब-इंस्पेक्टर या उस गाँव का पटवारी उन देहाती लोगों को अपना प्रभुत्व दिखलाता है। और यहीं पर कभी कोई रमता योगी अपने पवित्र चरणों से उनके गाँव को पवित्र कर गाँववालों को संत-समागम का स्वर्गीय सुख देता है। फिर हर गाँव का एक विशेष देवता होता है, जैसे दूल्हा देव, भोंड़ देव, भैंसासुर, धननेश्री, महामाया इत्यादि। कहीं कहीं इनके मंदिर होते हैं और कहीं कहीं नहीं।

बिखरी हुई आबादी वाले गाँव भारतवर्ष के पहाड़ी हिस्सों में पाये जाते हैं। हर गाँव में कुछ पुरवे बसे होते हैं और प्रत्येक पुरवे में दो दो या तीन तीन मकान होते हैं, और हर पुरवे के साथ कुछ खेत

सिद्धांत सर्वसाधारण है, पर साथ ही बहुत से गाँवों में 'पट्टीदारी' की प्रथा भी जारी है। एक से अधिक गाँव एक ही जमींदार या मालगुज़ार के हाथ में होता है जिस का एक ही कुटुम्ब होता है। गाँव की पीढ़ी के हिसाब से गाँव भिन्न भिन्न हिस्सों में लोगों में बँटा रहता है। आगरा ज़िले के लगभग सभी गूजर और अहीरों के गाँव इसी प्रकार के हैं।

दूसरे अजातीय गाँव हैं। इन गाँवों की उत्पत्ति बहुधा इस प्रकार से होती है। किसी भी एक कुटुंब के लोगों ने जब देखा कि उनका सारे का सारा गाँव लोगों से आबाद हो रहा है तो वे लोग दूसरी जगह की तलाश में निकले और उसको आबाद कर लिया। ऐसा कई जगह होता आया है और अब भी कहीं कहीं ऐसा होता है। ऐसा उस समय हुआ है जब कि सरकार या कोई बड़ा तालुक़ेदार ग़ैर-आबाद ज़मीन को—जिस पर अब तक खेती नहीं की गई थी—किसी उत्साही या उद्यमी किसान को खेती के लिए दे देता है। मिस्टर बेनेट के शब्दों में ऐसे गाँव भिन्न भिन्न जाति के कुछ लोगों का एक समुदाय ही हैं। ये लोग गाँव की सीमा में रह कर खेती-बारी के ज़रिये

होते हैं जो इन के बसने के पहले जंगली पेड़ों से ढके हुए थे और जिन को इन लोगों ने बराबर करके खेती के लायक़ बना लिया था। मैदानों की तरह पहाड़ी गाँवों में ऐसे बड़े बड़े खेत बहुत कम पाये जाते हैं। इसी से ऐसे गाँवों में गोहन, मंझा और हार नामक खेतों के तीन प्रकार नहीं पाये जाते हैं।

सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भारतीय गाँव एक ऐसी संस्था है जिसमें कि कुछ लोग, आपस के स्वार्थ के लिये एक समाज में रहते हैं और एक दूसरे से सहायता पाते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है किसी गाँव के सभी रहनेवालों की कोई एक ही संपत्ति हो या सब एक ही खेत को जोता करते हों।* इसका केवल यही मतलब है कि कुछ कुटुम्ब जिनकी

अपनी जीविका चलाते हैं। आपस में एक दूसरे की रक्षा के विचार से या उस ज़मीन पर अधिक दिनों तक रहते रहते उससे और वहाँ के रहनेवालों से प्रेम हो जाने से या वहाँ के एक ज़मींदार या मालगुज़ार के नीचे रहने से लोग एक प्रकार से इकट्ठे होकर रहते हैं। ऐसे गाँवों में ज़मींदारों के बीच ज़मीन का बटवारा करने में पट्टीदारी की प्रथा ही ज़्यादातर प्रचलित है। पर साथ ही ऐसे भी कुछ उदाहरण मौजूद हैं जहाँ कि एक ही आदमी द्वारा बसाये हुए गाँव के सभी लोगों में बराबर बराबर ज़मीन बाँटने की प्रथा हो गई है या यह बटवारा वहाँ के रहनेवालों के धन या उनके हल (खेती करने की शक्ति का एक माप है) के अनुसार होता है। देखिए बेडन पावल लिखित "लैंड सिस्टम अव् ब्रिटिश इंडिया," भाग १, और "दि इंडियन विलेज कम्यूनिटी।"

*देहाती समाज के संबंध में सर हेनरी मेन ने अपनी किताब 'दि विलेज कम्यूनिटी' (The Village Community) में लिखा है—"एक गाँव की ज़मीन का बहुत से लोगों में मुश्तरका होना एक नियम था और ज़मीदारों का अलग अलग ज़मीन का मालिक होना एक विशेषता थी।" फिर ये एक जगह लिखते हैं—"बहुत से लोगों का एक जगह एकत्रित होना उस ज़मीन पर ही निर्भर था जिसे वे सब साथ साथ जोतते थे। पर

आर्थिक स्थिति एक दूसरे से जुदा है अपने अपने रोज़गार जैसे खेती, जुलाहे या बढ़ई के काम इत्यादि चलाते हुए वहाँ रहते हैं।

जीवन-निर्वाह के उपायों को इकट्ठा करने में कुटुम्ब एक जीव माना जाता है। इस कुटुम्ब के लोग जितने प्रकार के धंधों में लगे हों उन सब का स्थायी और अस्थायी मूलधन उस कुटुम्बनामक जीव का ही होता है। इसके सिवाय दूसरी बातों में भी कुटुम्ब एक जीव समझा जाता है। हर एक गाँव में कई किसानी पेशेवाले कुटुम्ब रहते हैं, चाहे वह ज़मीन जिसपर वे खेती करते हैं, उन्हीं की हो या वे लोग उसके लिए ज़मींदार, मालगुज़ार अथवा सरकार को लगान देते हों। ज़मींदार या मालगुज़ार चाहे उस गाँव में रहे, या न रहे, पर जब वह गाँव में रहता है तो वह बहुधा अपने गाँव की आबादी के बीच में घर बना कर रहता है और वह समाज का अगुवा समझा जाता

ग्रामीण समाज की यह परिभाषा भारत के किसी गाँव के लिए लागू नहीं हो सकती। भारतीय ग्रामीण समाज के लिए हमें किसी ऐसे शब्द का उपयोग न करना चाहिए जिस का अर्थ किसी प्रकार साम्यवादी (Communistic) हो। 'समाज' शब्द का अर्थ केवल यही हो सकता है कि कई गाँवों में कुछ कुटुम्ब एक ऐसी प्रथा के नीचे रहते हों जिससे वे किसी ज़मीन के सहयोगी ज़मींदार होते हैं। इसका यह मतलब नहीं निकलता कि उन सबों की एक ही ज़मीन व सब चीजें एक ही होती हैं। (कैंपबेल, माडर्न इंडिया, पृ० ८०-९०)। समाज का केवल यही अर्थ होता है कि वह एक जन-समुदाय है जो एक गाँव में रहकर अपने अपने भिन्न भिन्न अधिकारों के साथ वहाँ आस-पास के खेतों में खेती-बारी करते हैं। इसी प्रकार मिस्टर बेनेट साहब गोंडा के १८७२-७४ ईस्वी वाले बंदोबस्त की रिपोर्ट पृ० ४५, ४६ में लिखते हैं—"मैं ग्रामीण समाज का यही अर्थ लगाता हूँ कि वह एक ऐसा जन-समुदाय है जो एक गाँव में रहता है और जिसमें कि लोग खेती या खेती-संबंधी दूसरे काम करके अपनी अपनी जीविका चलाते हैं।"

है। गाँव के सारे लोग उसी से सारे झगड़ों का निबटारा करा लेते हैं। दक्षिण भारत के रैय्यतवारी गाँव में यह पद गाँव के पटेल या मुंसिफ़ को मिलता है।

भारतीय गाँवों के किसानों और ज़मीदारों के सिवा और भी बहुत से ऐसे कुटुम्ब रहते हैं जो कि खेती से कुछ संबंध रखते हुए दूसरा रोज़गार करते हैं। लगभग सभी गाँवों में बढ़ई और लुहार रहते हैं जो कि किसानों के हल तथा अन्य ज़रूरी चीज़ों को बनाते या सुधारते हैं। वहाँ कुम्हार, तेली, जुलाहे आदि भी रहते हैं जो कि गाँव की सारी ज़रूरतें पूरी करते रहते हैं। हर एक गाँव में नाई, धोबी, मोची, मेहतर, कहार और भिश्ती रहते हैं जो हमेशा गाँववालों की सेवा करते रहते हैं। फिर अक्सर गाँव में पुरोहित जी या मौलवी भी रहते हैं जो तिथि-त्योहारों पर जजमानों का काम कराते रहते हैं। ऐसे लोगों की नौकरी की तनख़्वाह अक्सर हर एक फ़सल के बाद वहाँ के प्रचलित नियम के अनुसार अनाज में ही दी जाती है, पर अब जब लोगों का शहर में आने-जाने का सुभीता होने लगा है और लोगों के विचार भी बदलते जा रहे हैं तो अनाज की जगह सिक्के में वेतन देना शुरू कर दिया है।

हर एक गाँव में साहूकार होता है जो गाँव के लोगों को बहुधा रुपया ब्याज पर उधार दिया करता है। भिन्न भिन्न स्थानों में इस साहूकार के पृथक् पृथक् नाम हैं, जैसे सावजी, महाजन, धनी, चेट्टी, आदि। गाँव की उपज के संबंध में वह शहर और गाँव के बीच बहुधा एक दरमियानी आदमी का काम करता है। जीवन की अन्य ज़रूरी चीजें, जैसे गुड़, नमक, तम्बाकू आदि भी वह बेंचता है। वह बड़ा भला और इज्ज़तदार आदमी समझा जाता है। दूसरों को तो मदद देता ही है पर, साथ ही वह अपने लिए भी मनमाने टके पैदा कर लेता है। उसके ब्याज के दर बहुत ज्यादा होते हैं पर साथ ही

बेचारे की ज़िम्मेदारी बड़ी और ख़तरा भी बहुत रहता है। कभी कभी ज़मींदार या मालगुज़ार ही साहूकारी का भी काम करता है।

अब जन-संख्या की बढ़ती के साथ साथ गाँव में ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जिन्हें हम बिना ज़मीन के मज़दूर कह सकते हैं और जिन का पाया जाना अब ग्रामीय अर्थशास्त्र के लिहाज़ से मार्के की बात हो गई है। पहले ज़माने में भी हर एक गाँव में चमार, पासी आदि जाति के बहुत से मज़दूर हुआ करते थे जो अनाज लेकर किसानी कारबार में दूसरों की मज़दूरी किया करते थे। अब ऐसों की संख्या बहुत बढ़ गई है और उन्हें अनाज की जगह अब पैसे भी मिलने लगे हैं। उनमें से कुछ बड़े बड़े कारख़ानों वाले शहरों में चले जाते हैं और वहाँ से रुपया पैदा कर अपने घर भेजते हैं। जब कभी घर वापस आ जाते हैं तो खेती शुरू कर देते हैं। उनमें एक ख़ास बात यह होती है कि उन्हें खेती का अनुभव तो होता नहीं, वे लोग लगान बढ़ा कर देने लगते हैं क्योंकि वे ख़ुद बहुत सा रुपया शहर से कमा कर लाये रहते हैं। इस प्रकार लगान बढ़ जाने से वहाँ के पुराने पेशेवाले किसानों की बड़ी हानि होती है।

गाँवों का शासनकार्य

हर एक गाँव का एक मुखिया होता है जो मुक़द्दम, पटेल, मुखिया, तलियार आदि के नाम से पुकारा जाता है। उसके नीचे एक या दो चौकीदार होते हैं जो गाँव में पुलिस का काम करते हैं। गाँव की सारी कार्रवाई की रिपोर्ट पहले उसके पास पहुँचती है और फिर अगर उसकी तबीयत आ गई तो उसके बाद सरकिल पुलिस अफ़सर या तहसीलदार को ख़बर लगती है। गाँव में चोरी आदि की जाँच पड़ताल या अन्य दूसरे काम गाँव का मुखिया ही करता है। उसे लोगों से लगान वसूल करने से कोई मतलब नहीं रहता। जिस

गाँव में खुद ज़मींदार रहता है वहाँ बेचारे मुखिया की कुछ ज्यादा क़दर नहीं होती और कहीं कहीं ज़मींदार या मालगुज़ार ही मुखिया बनता है।

गाँव का हिसाब-किताब रखनेवाला भी एक अफ़सर हर एक गाँव में रहता है। उसे पटवारी या करनाम कहते हैं। गाँव के हर एक किसान के खेत का नाप और हिसाब उसके पास रहता है। ज़मींदारी प्रथावाले गाँवों में भिन्न भिन्न ज़मींदारों की ज़मीन का हिसाब पटवारी के खेवट नाम के रजिस्टर में रहता है और साधारण किसानों के खेत, उनके हक़-हक़ूक़ात का हिसाब खतौनी नाम के रजिस्टर में होता है। रैय्यतवारी मौज़ों में पटवारी के पास केवल वही रजिस्टर रहता है जिसमें किसान के हक़-हक़ूक़ात लिखे हों। इसके सिवा हर एक पटवारी के पास उस गाँव का एक नक़शा होता है जिसे शजरा कहते हैं जिसमें हर खेत के नंबर पड़े रहते हैं। एक ख़सरा या खेत-बहीखाता होता है जिसमें शजरे के अनुसार सब खेतों की एक फ़ेह-रिस्त होती है। उन खेतों के संबंध में कुछ ख़ास ख़ास बातें होती हैं, जैसे (१) किसानी के हक़ में तबदीली, (२) किसान का नाम, (३) फ़सल और सिँचाई की चर्चा। उसके पास जमाबन्दी नाम का एक बहीखाता भी होता है जिसमें ज़मींदार और रैय्यतों की पटाई हुई रक़में लिखी जाती हैं। पटवारी हर एक गाँव के लिए एक ज़रूरी चीज़ है। अगर किसी किसान को यह पता लगाना है कि उसके पास कितनी ज़मीन है और उसे कितना लगान देना पड़ेगा या अगर किसी ज़मींदार को यह पता लगाना है कि किसी किसान के पास उसकी कितनी ज़मीन है और उसका कितना लगान तो उसे पटवारी के पास जाना पड़ता है। ज़मींदारी वाले मौज़ों में पटवारी का ओहदा क़रीब क़रीब ज़मींदार के बाद है। अगर उसी गाँव में दो या अधिक ज़मींदार हो गये तब तो सब का मालिक यह पटवारी ही हो जाता है और मौक़े मौक़े से दोनों को कचहरी में मुक़दमें लड़ा लड़ा कर मिटा देता है।

दूसरा अध्याय

खेती की आर्थिक विशेषताएँ।

हम पहले यह कह चुके हैं कि गाँवों में रहनेवालों में से अधिकतर लोग खेती-बारी ही करते हैं। इस लिए ग्रामीय अर्थशास्त्र के अध्ययन करने में हमें सब से पहले खेती-बारी के अर्थशास्त्र के नियमों की ओर ध्यान देना चाहिए। खेती अवश्य ही अर्थशास्त्र के अन्यान्य पहलुओं पर निर्भर है, तो भी उस में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो कि उसे उद्योग-धंधे से अलग कर देती हैं और कुछ ऐसी भिन्न अवस्थाएँ पैदा कर देती हैं जिसके नीचे सार्वजनिक अर्थशास्त्र के नियम चालू रहते हैं। खेती और तिजारत में कुछ विभिन्नताएँ हैं। दोनों तरह की चीज़ों को पैदा करने और उनको बेच देने के नियमों में कुछ ख़ास विभिन्नताएँ हैं, उनका वर्णन हम यहाँ करेंगे।

(१) खेती और उद्योग-धंधे में सब से अधिक जानी हुई विभिन्नता तो यह है कि खेती ज्यादातर प्रकृति देवी की कृपा पर निर्भर रहती है। समय, आब-हवा, ऋतु और स्थान इत्यादि का उद्योग-धंधे से बड़ा संबंध है, पर खेती से तो इनका ऐसा घना संबंध है कि उसे कोई अलग नहीं कर सकता। इसके सिवा खेती पर टिड्डी-दल आदि कीड़ों व वनस्पति और ढोरों की तरह तरह की बीमारी का भी बड़ा असर पड़ता है। इन सब बातों के कारण उपज बहुत ही अस्थिर

और अनिश्चित सी रहती है। भारी खेती करने से ज़रूर ही इन सब अड़चनों का असर कुछ कम सा हो जाता है; पर जहाँ एक ख़ास परिमाण में खेती हो रही है या जहाँ कहीं हम एक ही किसान की खेती की ओर ध्यान देते हैं तो बड़ी मुसीबतों का सामना करना, पड़ता है।

(२) खेती के काम में अन्य उद्योग-धंधों की बनिस्बत मशीन वग़ैरह बहुत कम काम में लाई जा सकती हैं। यद्यपि हमने हिंदुस्तान में अभी खेती की मशीनों और आज कल के उपायों को काम में लाना शुरू ही किया है पर हम कहाँ तक उनका उपयोग बढ़ा सकेंगे। एक ख़ास परिमाण में खेती के लायक़ ज़मीन होने के कारण ही खेती की मशीनों का उपयोग सीमा के भीतर हो सकता है। उद्योग-धंधे में तरह तरह से प्रकृति के ऊपर क़ाबू कर लेने से बहुत कम बाधाएँ आती हैं। व्यापारिक संघ-शक्ति तथा ख़ास जानकारी से उपज की हमेशा बढ़ती होती रहती है। खेती में चाहे कितनी ही उन्नति की जावे मशीनों को काम में लाने का बहुत ही कम मौक़ा है। इसी कारण से उद्योग-धंधे की बनिस्बत खेती में स्थायी मूलधन अस्थायी से कहीं ज्यादा होता है।

(३) चूँकि खेती में भूमि का बड़ा ऊँचा पद रहता है इससे अगर उसी खेत में फ़सल पैदा करने के दूसरे हथियारों को बढ़ाकर के उपज को बढ़ाने की कोशिश की जावे तो उसी उपज में पहले के हिसाब से अधिक ख़र्चा लगेगा। पर व्यापार की दशा इससे विपरीत है। खेती में यह अवस्था कुछ हद तक अधिक ज़मीन लगा कर या मशीनों का उपयोग कुछ बढ़ा कर रोक दी जा सकती है। परंतु आगे चल कर ये दोनों उपाय भी बेकाम हो जावेंगे। इस तरह से ज़मीन बढ़ाते रहने पर हर एक देश में यह अवस्था आ जावेगी जब कि हमें खेती के लायक और ज़मीन न मिल सकेगी। जब यह अवस्था आ

जाती है तो प्रति बीघा अधिक फ़सल पैदा करना तो दूर रहा, उस ज़मीन के उपजाऊपन को बनाये रखने में इतनी तकलीफ़ें उठानी पड़ेंगी कि मशीन और मूलधन के लगाने से जो कुछ अधिक फ़ायदा होता रहेगा वह भी तहस-नहस हो जावेगा। आगे चल कर खेतों की 'उपज बढ़ाने में खर्च बढ़ता है' इस सिद्धांत के आगे सिर झुका देना पड़ेगा। इस सिद्धांत को क्रमागत-ह्रास (Law of diminishing returns) कहते हैं।

(४) खेती के मूलधन का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना बहुत कम हो सकता है। अर्थशास्त्र के सारे कार्यक्षेत्र में उसके मुख्य सिद्धांत लागू होते हैं। यदि एक आदमी एक खेत से अपना पेट नहीं पाल सकता तो वह उसे छोड़ देगा। अगर उस खेत में पैदा होनेवाली फ़सल की क़ीमत कम हो गई तो वह उस में दूसरी फ़सल बोना शुरू कर देगा। लेकिन तो भी किसी भी उद्योग-धंधे की अपेक्षा ज़मीन में मूलधन के एक जगह से दूसरी जगह हटा देने से, लाभ में बहुत बड़ा फ़र्क़ हो जाता है। मूलधन तरह तरह की हालतों में, तरह तरह की मात्रा में एक जगह से दूसरी जगह जाता है। 'स्टाक एक्सचेंज' में बिल्कुल थोड़ा सा फ़र्क आने पर हिस्से के बेचने या ख़रीदने का मौक़ा आ जाता है। परंतु ज़मीन की हालत इस से बिल्कुल विपरीत है। भूमि पर से मूलधन उठा लेने से बड़ा झंझट और नुक़सान उठाना पड़ता है। फिर ज़मीन में भी—एक किसान की ज़मीन और एक शहर में रहनेवाले की ज़मीन में—बड़ा अंतर है। खेत सिर्फ़ खेत ही नहीं है वह किसान का सर्वस्व है। तकलीफ़ें आने पर भी किसान आशा पर आशा लगाये अपने भाग्य को टटोलते हुए अपने खेत का पिंड अंत तक पकड़े रहता है।

(५) किसान का उसके खेत की उपज के मूल्य पर वश नहीं रहता। लेकिन उद्योग-धंधे या व्यापार में, चाहे वह किसी तरह का

हो, व्यापारी बहुधा अपनी चीज़ों का दाम अपने कब्ज़े में रखता है। ख़ास कर जब कि उसके मुक़ाबले वाले बहुत कम रहते हैं तब तो उसे और भी सुभीता पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के लोहे के कारख़ाने के समान बड़ी कंपनियां तो अपनी चीज़ों के ऐसे दाम लगाती हैं जिसे कि उन के मुक़ाबले वालों को भी मानना पड़ता है। खेती में यह बात नहीं है। भारत के २२,९०,००,००० किसानों में से हर एक का अनाज के बाज़ार की हालतों पर इतना कम असर होता है कि उपज के दाम लगाने की नीति को वे सँभाल नहीं सकते। चाहे एक किसान अपने हिसाब से कम पैदा करे या अधिक, उपज की क़ीमत पर उस का बहुत कम असर होता है। यद्यपि उपज और बाज़ार की दशा में आपस में संबंध रहता है पर यहाँ यह कह देना उचित ही होगा कि व्यापार में किसी चीज़ के पैदा करनेवाले का बाज़ार पर बड़ा क़ब्ज़ा रहता है; पर खेती में इसके विपरीत बाज़ार की हालतों का किसान पर बड़ा असर पड़ता है। इससे हमारे पहले कथन का समर्थन होता है कि किसान भविष्य में उपज की क़ीमत घटने या बढ़ने की आशा से अपनी उपज बदल न देगा।

(६) खेती में व्यापार की तरह उपज की क़ीमत घट जाने पर भी किसान—जो कि अपने लागत मात्र ख़र्च पर ही फ़सल पैदा करता है—अपनी खेती छोड़ नहीं देता। अर्थशास्त्र के विचार से साधारण तौर पर, बराबरी का ख़्याल रखते हुए अलग अलग व्यापारियों के अलग अलग दाम होते हैं। हमेशा कम या ज्यादा समझदार, कम या ज्यादा योग्य, कम या ज्यादा हिम्मतवाला बिरला ही भाग्यवान व्यापारी होता है। किसी भी समय किसी भी चीज़ का दाम बहुधा उतना ही हो जाया करता है जितना कि उस का लागत मात्र खर्च होता है। बहुत से तो उस रोज़गार से अलग हटने लगते हैं क्योंकि एक बार की पैदावार में उन्हें बाज़ारू भाव से अधिक ख़र्च करना पड़ता है। और

बहुत से लोग जो इस में अपनी अधिक आमदनी होते देखते हैं तो उस रोज़गार में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगते हैं। पर पैदावार की दूसरी दूसरी अवस्थाओं के अनुसार उस पैदावार का लागत मात्र ख़र्च बदलता रहता है और उस चीज़ का दाम ले-दे कर के लागत मात्र ख़र्च पर ही आ जाता है। नतीजा यह होता है कि जो रोज़गारी लागत मात्र पर भी अपनी चीज़ पैदा नहीं कर सकता वह उस रोज़गार से हाथ खींच लेता है और वह उस चीज़ के एक दाम तय करने में ज्यादा असर नहीं रखता है। जो लागत से भी कम मूल्य में पैदा कर के फ़ायदा उठाता रहता है उस का उस चीज़ के मूल्य निश्चित करने में बड़ा असर रहता है और वह उसके लागत का ख़र्च कम करा देता है।

खेती में लागत से अधिक ख़र्च में पैदा करनेवाला किसान अपनी खेती में व्यापार के अलावा कुछ ज्यादा दिनों तक रुक सकता है। चूँकि खेती में मूलधन और मेहनत में कम अन्तर है, इसलिए साधारण उद्योग-धंधे की अपेक्षा ऐसे किसानों की संख्या ज्यादा हो सकती है। ऐसे किसानों के ज्यादा देर तक किसानी करते रहने के कारण ज़रूरत से कुछ ज्यादा पैदावार होने लगती है जिसका नतीजा अक्सर बुरा होता है। साधारण व्यापार में साधारण पूँजी-पति प्रथा के अनुसार खपत से माँग बहुधा ज्यादा होने लगती है। ऊपर कहे गये किसानों की तरह व्यापार में व्यापारियों के अभाव से या उपज में कमी होने से उपज की वह अवस्था जल्दी ही आ जाती है जब कि खपत और माँग की तादाद एक ही हो जाती है। और वह व्यापारी जो लागत मात्र ख़र्च में अपनी चीज़ पैदा नहीं कर सकता दूसरा रोजगार शुरू कर देता है जिस में उसे लाभ होता है। पर खेती में ऐसे किसानों के लिए एक क़िस्म की खेती से दूसरी खेती में जाना या खेती छोड़ कर दूसरे रोज़गार में पड़ना कठिन हो जाता है। मान लिया जाय कि वह सभी तरह की खेती में लागत मात्र ख़र्च में उपज

पैदा नहीं कर सकता, तो भी वह अपने खेतों को छोड़ दूसरे रोज़गार में लग जाने में अपने सामने कठिनाइयाँ पाता है। यदि उसने अपनी खेती छोड़ दी तो खेत तो बना ही रहेगा। खेत तो सभी छोड़े जाते हैं और यह दशा किसान की कमज़ोरी से नहीं परंतु ज़मीन के प्राकृतिक अवगुणों से हो जाती है। किंतु भारतवर्ष में यह भी असंभव है, क्योंकि अव्वल तो भारतवर्ष में रोज़गार ही इतने कम हैं कि एक ग़रीब किसान अपनी खेती छोड़ कर किसी दूसरे रोज़गार का सहारा ले सके, दूसरे हिंदुस्तानियों में बपौती ज़मीन पर इतना ज्यादा प्रेम होता है कि वे बड़ी बड़ी मुसीबतें सहकर भी उसे छोड़ना नहीं चाहते।

(७) खेती और व्यापार में आख़िरी विभिन्नता मज़दूरी के बारे में पाई जाती है। अवश्य ही ऐसे बहुत से रोज़गारी हैं जो कि अपने आप ही या अपने ही बाल-बच्चों की सहायता से अपना रोज़गार चलाते हैं और कुछ ऐसे भी किसान हैं जो कि बाहर से कुछ मज़दूर अपने काम के लिए लगाते हैं, परंतु यह तो मज़दूरी के सार्वजनिक नियमों के कुछ अपवाद हैं। नियम तो यह है कि व्यापार के विपरीत खेती में किसान क़रीब क़रीब सारी मज़दूरी अपनी ही लगाता है और जैसे जैसे औज़ारों का उपयोग बढ़ता जाता है वैसे वैसे बाहरी मज़दूर घटते जाते हैं।

बेचने का अर्थ

साधारण उद्योग-धंधे की अपेक्षा खेती में पैदावार के बेचने का खर्चा ज्यादा होता है। इसके कई कारण हैं—

(१) पहला यह कि खेती की उपज को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने का दाम कुछ अधिक पड़ता है क्योंकि खेती की उपज की चीज़ें आकार और वज़न में कुछ भारी होती हैं। ऐसी हालत में एक लाख के मोती के भेजने में जो ख़र्चा लगेगा उससे कहीं ज्यादा ख़र्चा एक

लाख के गेहूँ में लगेगा। यद्यपि माल भेजने का कुछ ऐसा इन्तज़ाम किया गया है कि जो चीज़ें सस्ती परन्तु आकार में बड़ी हों उन पर कम किराया लगाया जावे। पर यह एक साधारण बात ही है। खेती की उपज के उपयोग करने वाले को उसका जो मूल्य देना पड़ता है उस मूल्य का ज्यादा हिस्सा उस उपज के आने-जाने के ख़र्च का होता है पर व्यापार में यह बात नहीं होती।

(२) दूसरा कारण यह है कि खेती की पैदावार उस के उपयोग करने वाले के हाथों में पहुँचने के पहले कई कई अवस्थाओं को पार करती है। मकान बनाने का लोहा उस के पैदा करने वालों के पास से एकदम मकान बनाने वाले के पास पहुँचता है। पर खेती की पैदावार उपयोग करने वाले के पास पहुँचने के पहले कई बार हाथ बदलती है। गेहूँ पहले खेत से काटा जाता है, फिर वह धीरे धीरे बाज़ार पहुँचता है, फिर वह थोक फ़रोश के पास जाता है। फिर उसे छोटा रोज़-गारी ख़रीदता है, फिर चक्कीवाले के पास जा कर उस का आटा पीसा जाता है। तब वह खाने वाले के पास पहुँचता है। इस तरह बार बार उस उपज के हाथ बदलने से उस की क़ीमत बढ़ती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उस उपज का सच्चा उपयोग करने वाला या अपने ख़ास काम में लाने वाला जो उसका दाम ख़र्च करता है उस दाम में से वास्तविक उपज का दाम तो बहुत थोड़ा रहता है, पर बीच बीच में जो उसे तरह तरह की अवस्थाओं से पार होना पड़ता है उन्हीं अवस्थाओं में ज्यादातर दाम पच जाता है। कारख़ाने वाली चीज़ों में यह बात कम होती है।

(३) तीसरा कारण यह है कि खेती में संघ-शक्ति या कोई विशेष अवस्था नहीं होती। लाखों में से हर एक किसान पैदावार की तरह बेचने के बारे में भी तरह तरह का विचार करता जाता है। किसानों में यह बात नहीं हो सकती कि वे सब मिलकर एक उसूल या एक

विचार को आदर्श मान कर काम करें। आजकल रोज़गार-धंधे में ज़्यादा पैदावार, सफल सहयोगिता इत्यादि बड़े मार्के की बातें हैं। पर किसान को सिर्फ़ साधारण तरीक़ों से या बिना किसी प्रकार की सहयोगिता के ही संतुष्ट रह जाना पड़ता है, क्योंकि वे भारत के कोने कोने में इस प्रकार फैले हैं कि उन की कोई संघ-शक्ति क़ायम करना महा कठिन काम है।

तीसरा अध्याय

खेती और खेती के योग्य भूमि

पौधों के उत्पन्न करने का अर्थ है एक प्रकार के अनेकों पौधों को इकट्ठा करना ताकि उपज सरलता से एकत्रित हो। इससे उपज आसानी से इकट्ठा ही नहीं हो जाती किंतु जैसा कि हम देखेंगे इसके साथ ही उपज का परिमाण भी बढ़ जाता है। एक ही जाति के बहुत से पौधों को इस प्रकार से इकट्ठा करने को फ़सल कहते हैं। जब हम ऐसी फ़सल का जंगलों की क़ुदरती पैदावार से मुक़ाबला करेंगे तब हमें खेती का मतलब साफ़ प्रकट हो जावेगा। बिना जोती हुई ज़मीन पर गिर कर इकट्ठे हुए बीजों से जो पौधे आपही आप निकल पड़ते हैं उन्हें उनकी क़ुदरती उपज कहते हैं। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इस प्रकार जितने पौधे होते हैं उनसे कहीं ज़्यादा तादाद में बीज गिरे रहते हैं। इस प्रकार पौधों में एक प्रकार की प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न हो जाती है। यह प्रतिद्वंद्विता दो प्रकार की होती है। पहली यह कि एक पौधे से उसके बीज उसके चारों तरफ़ गिर जाते हैं। इन बीजों की संख्या उस पौधे की जाति पर निर्भर है। लेकिन जिस जगह पर वे बीज गिरते हैं वह स्थान उस प्रकार के जितने पौधों को भोजन देकर पाल-पोस सकता है उतने से ज़्यादा पौधे उत्पन्न करने के लायक़ तो अवश्य ही उन बीजों की संख्या होती है। इस तरह एक ही प्रकार के भिन्न

भिन्न पौधों में एक प्रकार की प्रतिद्वंद्विता होती है। दूसरी यह कि जिस स्थान में किसी एक प्रकार के पौधे के बीज गिरते जाते हैं उसी स्थान में दूसरे प्रकार के पौधों के भी बीज गिरते जाते हैं। इन चीज़ों से भी पौधे उत्पन्न होते हैं और इस तरह भिन्न भिन्न प्रकार के पौधों में आपस में प्रतिद्वंद्विता होती है। इस प्रकार की प्रतिद्वंद्विता के परिणाम को स्वाभाविक या सहज उत्पत्ति कहते हैं। इनमें वही पौधे रहते हैं जो प्रतिद्वंद्विता में बाज़ी मार कर उठ खड़े हुए हैं। इस प्रकार प्रकृति के साम्राज्य में भिन्न तरह के पौधों या एक ही जाति के भिन्न भिन्न पौधों में आपस में प्रतिद्वंद्विता होती रहती है, और जो मज़बूत पौधा होता है वही बढ़ने लगता है। जितने जंगली पौधे इस वक्त मौजूद हैं वे सब सदियों की प्रतिद्वंद्विता से बाज़ी मार कर खड़े हुए हैं और इसी प्रकार कई पौधे हैं जिनमें कि प्रतिद्वंद्विता की वही उपयोगितायें आ गई हैं और वे सब अब भी साथ साथ खड़े हुए हैं। इसलिए जंगल में तरह तरह के पेड़ पाये जाते हैं। पर ऐसे बहुत से उदाहरण देखने में आते हैं जहाँ कि एक ही तरह के पेड़ लगातार बहुत दूर तक फैले रहते हैं। साल का जंगल इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। इसी तरह हरिद्वार के नदीपार दूसरी तरफ़ के शीशम के जंगल, गंगा के किनारे पर के झाऊ के जंगल और यहाँ-वहाँ फैले हुए करील के जंगल, काँस और बाँसुरी के जंगल इत्यादि इसके अच्छे उदाहरण हैं।

जब हम फ़सल की ओर ध्यान देते हैं तो वहाँ दूसरी ही बात पाते हैं। उदाहरण के लिए गेहूँ की फ़सल को लीजिए। पहला अंतर स्वाभाविक उपज और फ़सल में यह है कि फ़सल में यह प्रयत्न किया जाता है कि जितने बीज बोये जावें क़रीब क़रीब उतने ही पौधे काटे जावें, पौधे नाहक़ ही बीच में न मर जावें। जितनी कुल फ़सल होती है उसमें से अगले वर्ष उतनी ही उपज करने के लायक़ बीज छोड़ कर बाक़ी की सारी उपज को किसान अपने अन्य कामों के लिए रख

छोड़ता है। फिर फ़सल में दो या दो से अधिक प्रकार के पौधों की प्रतिद्वंद्विता नहीं होने पाती, क्योंकि फ़सल उत्पन्न होते ही बेकार के पौधों को किसान उखाड़ कर फेंक देता है। जो कुछ प्रतिद्वंद्विता रहती है सो केवल एक ही प्रकार के भिन्न भिन्न पौधों में रह जाती है। खेती का यही सार है कि उसमें अन्य प्रकार के पौधों की प्रतिद्वंद्विता नहीं होती। पौधे बोने के पहले ज़मीन पर से बेकार चीज़ उठा दी जाती है और जितने बीज बोये जाते हैं उतने पौधे उत्पन्न होकर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक पौधा फ़सल पैदा करता है। प्राकृतिक उत्पत्ति की प्रतिद्वंद्विता को दूर कर देने से उस प्रतिद्वंद्विता के परिणाम भी दूर हो जाते हैं। पौधों में इस प्राकृतिक चुनाव के बदले बनावटी चुनाव पाया जाता है। और यह बनावटी चुनाव तब होता है जब कि फ़सल काटी जाती है और उत्तम पौधों की उपज अगले साल के लिए बीज के नाम से रख दी जाती हैं। पौधों के बनावटी चुनाव का आधार पौधों की वह योग्यता नहीं है जो प्राकृतिक चुनाव की आधार होती है। प्रकृति के मुताबिक़ केवल वे ही पौधे आगे बढ़ पाते हैं जो सब से ज़्यादा मज़बूत होते हैं, पर किसान के पौधों के चुनाव का आधार एक पौधे से अधिक तादाद में और अच्छे बीज पैदा होना है। प्रकृति में पौधों का चुनाव उनके बचपन में हो जाता है। पर बनावटी संसार में पौधों के पूरे बढ़ जाने पर उनका चुनाव होता है। खेती से प्राकृतिक प्रतिद्वंद्विता को दूर कर देने का परिणाम यह होता है कि पौधों की मज़बूती और बढ़ने की प्राकृतिक शक्ति दूर हो जाती है। इन दोषों को दूर करने के लिए किसान को वनस्पति जीवन के उन तत्वों को क़ाबू में रखना पड़ता है जिससे कि उसके पौधों को वही भोजन और वृद्धि कुदरती पौधों की तरह आसानी से मिलती रहे। ऐसा वह तभी कर सकता है जब कि उसे पौधों के भोजन आदि की आवश्यकताओं का ज्ञान हो।

जानवरों की दशा के विपरीत पौधे स्थायी अर्थात् एक स्थान पर अपने जीवन भर खड़े रहने वाले होते हैं और उन्हें जड़-जगत से भोजन मिलता है। पौधे दो तरफ़ से बढ़ते हैं। उनकी जड़ें नीचे ज़मीन में और उनकी शाखाएँ ऊपर हवा में जाती हैं। उन्हें दोनों तरफ़ से भोजन मिलता है। मिट्टी, पानी और खनिज पदार्थ से उनको कई प्रकार के नमक मिलते हैं जो उन पदार्थों में सने हुए रहते हैं। हवा से उन्हें कार्बन (Carbon) नामक वस्तु मिलती है। इस तरह पौधों का नीचे और ऊपर दोनों स्थानों के तत्वों से घनिष्ठ संबंध रहता है। खेती के प्रत्येक काम का यह उद्देश्य होता है कि पौधों को उनकी वृद्धि के लिए सब ज़रूरी चीज़ें प्राप्त होती रहें। किसानों को अपना कर्त्तव्य अच्छी तरह पालन करने के लिए यह जान लेना चाहिए कि पौधों का ज़मीन और हवा से क्या संबंध है और उन्हें उनसे कैसे भोजन प्राप्त होता है।

भूमि के दो हिस्से होते हैं। एक तो परिमाणु और दूसरा हर दो परमाणुओं के बीच की जगह। इन दोनों की मिक़दारों का संबंध बड़े महत्व का विषय है। अच्छी तरह से समझने के लिए हम अपने सामने एक त्रिवर्गाकार पदार्थ का उदाहरण लेते हैं। इसके भीतर हम एक गोलाकार वस्तु समझ सकते हैं। इस तरह अगर हम उसके भीतर छोटे छोटे आठ गोले रखें, या सौ या हज़ार गोले रक्खें परंतु उसूल सब में एक ही हैं। और सब का मिक़दार वही है जो पहले गोले का था। पर एक ही नाप के बहुत से गोले बराबर से उसमें नहीं समाये जा सकते। पहले उदाहरण का एक नमूना चित्र नं० १ में देखिये।

चित्र नं० २ में हमने दिखाया है कि वे ही गोले दूसरी तरह से बराबर बराबर से उसमें कैसे समाये जा सकते हैं ताकि एक दूसरे से

ज़रा पास पास हों और उनके बीच के ख़ाली स्थान पहले वाले से कम हों।

मिट्टी के भिन्न भिन्न परमाणु सब एक आकार व मिक़दार के नहीं होते। मान लीजिए कि चित्र नं० २ में दो गोलाइयों के बीच के प्रत्येक ख़ाली स्थान में भी एक एक छोटी गोलाई है। इसके लिए चित्र नं० ३ देखिये।

इस चित्र के अनुसार सब गोलाकार परमाणुओं के बीच के कुल ख़ाली स्थानों का मिक़दार बहुत थोड़ा ही रह जाता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न परमाणुओं की असमानता का यही परिणाम होता है कि उनके बीच के ख़ाली स्थानों की मिक़दार घट जाती है क्योंकि बड़े बड़े परमाणुओं के बीच के स्थान में छोटे छोटे परमाणु अपना घर कर लेते हैं। इस परिणाम के विरोध करने के लिए दूसरे साधन भी उपस्थित हैं। इनमें से ख़ास साधन यह है कि मिट्टी के बहुत से टुकड़े आपस में मिल कर एक ढेला बन जाते हैं, फिर ये ढेले और दूसरे ढेलों से मिल कर मिट्टी का एक बड़ा टुकड़ा बन जाता है। इस तरह एक ही ढेले के तरह तरह के परमाणुओं के बीच में तो स्थान होता ही है, साथ ही परस्पर उन ढेलों के बीच में भी ख़ाली स्थान रह जाता है।

अब तक हमने यह मान लिया है कि मिट्टी के परमाणु ठोस होते हैं, पर यह ज़रूरी बात नहीं है। मिट्टी में मिले हुए कुछ पदार्थ जैसे कंकड़ इत्यादि में छेद होते हैं। इस दशा का वही परिणाम होता है जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं। इस तरह मिट्टी में ऐसे परमाणु मौजूद हैं जो कहीं आपस में बीच के स्थानों की मिक़दार को बढ़ाते हैं और कहीं घटाते हैं। दूसरी बात यह है कि जैसे जैसे परमाणुओं का व्यास छोटा होता जाता है वैसे वैसे उन परमाणुओं का क्षेत्रफल बढ़ता जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि दो परमाणुओं के बीच का ख़ाली स्थान परमाणुओं के आकार और उनके क्रम पर निर्भर होता है।

ये दो बातें—अर्थात् परमाणुओं के बीच के स्थान के क्षेत्रफल का और परमाणुओं के क्षेत्रफल का परमाणुओं के आकार-मिक़दार पर निर्भर होना—मिट्टी की प्रधान और मार्के की बातें हैं जिन्हें हमें सदैव ध्यान में रखना चाहिए। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं इन दोनों बातों पर मिट्टी का रेतीला, मटियार अथवा चिकना होना निर्भर है, और इसका मिट्टी के पानी ग्रहण करने की शक्ति से बहुत अधिक संबंध है। हम आगे चलकर इस संबंध में विस्तार से बतायेंगे। खेती के लिए सब से पहला तरीक़ा खेत का जोतना है। पीछे हमने बताया है कि यह काम हल चलाने वा पटेला (पाटा या कोपर) चलाने से होता है। खेत के जोतने का मतलब यह है कि उसकी मिट्टी उथल-पुथल हो जावे। जिससे उसके परमाणु आपस में इस प्रकार मिल जावें कि कोई ख़ास फ़सल पैदा हो सके। ऐसा करने से भिन्न भिन्न परमाणुओं के बीच का स्थान और बढ़ता जाता है जिससे पौधों की जड़ें उसमें बड़ी आसानी से प्रवेश कर सकती हैं। तरह तरह की फ़सल के लिए तरह तरह के परिमाण में जुताई होती है। गेहूँ के लिए ख़ूब जुताई करनी पड़ती है जिसमें सब ढेले अच्छी तरह से फूट जावें और परमाणु एक दूसरे से अलग हो जावें। चने के लिए साधारणतः एक ही बार जुताई की ज़रूरत होती है।

भूमि और पानी का संबंध

यह जानने के लिए कि "भूमि सदैव सूखी ही नहीं रहती बल्कि उसमें पानी भी मिला रहता है" किसी विशेष प्रयोग की ज़रूरत नहीं है। परंतु भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टी में भिन्न भिन्न परिमाण में पानी रहता है। यही नहीं किन्तु एक प्रकार की मिट्टी में भिन्न भिन्न काल में पृथक् पृथक् परिमाण में पानी रहता है। जो मिट्टी खोद कर बहुत दिनों से निकाली गई है और जिस पर सूरज बहुत दिनों

से गर्मी पहुँचाता रहा है उसकी अपेक्षा उसी वक्त की खोदी हुई मिट्टी में अधिक पानी रहता है। मिट्टी के भिन्न परमाणुओं के बीच जो स्थान रहता है उसमें तथा उन परमाणुओं के चारों तरफ़ पानी पाया जाता है। साधारण अवस्था में किसी भी मिट्टी के टुकड़े में इतना पानी नहीं होता कि उसके परमाणुओं के बीच के ख़ाली स्थानों में पूरा पूरा समा सके। बाक़ी जगहों में हवा होती है। पानी उन परमाणुओं के चारों तरफ़ रहता है। ज़मीन में पानी का प्रवाह भूतलाकर्षण (surface tension) और गुरुत्वाकर्षण (gravitation) के नियमों द्वारा होता है। भूतलाकर्षण का प्रधान कर्तव्य ज़मीन की सब से ऊपर की सतह के सब परमाणुओं में बराबर बराबर परिमाण में पानी को क़ायम रखना है। यह दो प्रकार से होता है। हम कह चुके हैं कि प्रत्येक परमाणु के चारों तरफ़ पानी की एक झिल्ली (film) सी रहती है और जल से भरे इन परमाणुओं के बीच में भी एक ऐसा स्थान रहता है जिनमें हवा रहती है। तो भी इन परमाणुओं के चारों तरफ़ के पानी से परस्पर संबंध रहता है। अब सब परमाणुओं में बराबर बराबर पानी क़ायम रखने का पहला तरीक़ा यह है। जब सब से ऊपर की सतह के एक परमाणु के चारों ओर से पानी सूख कर उड़ जाता है तो उसी सतह के पड़ोस के परमाणुओं का पानी खिंच कर इस प्रकार उस सूखे परमाणु के चारों ओर हो जाता है कि उस सतह के सभी परमाणुओं में फिर से बराबर बराबर परिमाण में पानी हो जावे। दूसरा तरीक़ा यह है कि जिस तरह एक ही सतह के परमाणुओं को चारों ओर के पानी में आपस में संबंध है उसी प्रकार नीचे ऊपर की सतह के हर एक परमाणु के चारों ओर के पानी में आपस में संबंध है। इससे जब ऊपर की सतह के परमाणुओं के चारों तरफ़ का पानी सूखकर उड़ने लगता है तो उनमें नीचे के परमाणुओं से इस प्रकार पानी खिंचने लगता है कि सभी सतहों के सभी परमाणुओं में बराबर पानी हो जावे।

किन्तु ज़मीन में पानी के प्रवाह का आधार केवल भूतलाकर्षण ही नहीं है। दूसरा आधार गुरुत्वाकर्षण है। भूतलाकर्षण तो पानी को चारों ओर प्रवाहित करता है। पर गुरुत्वाकर्षण केवल नीचे की ओर ही उसे खींचता है। इससे पानी के प्रत्यक्ष प्रवाह का आधार इन्हीं दो शक्तियों के समत्व (equilibrium) पर निर्भर है। इस समत्व का यह परिणाम होता है कि हम जैसे जैसे धरातल के नीचे जाते हैं वैसे वैसे गुरुत्वाकर्षण की शक्ति बढ़ती जाती है और अधिक पानी मिलता जाता है। वैसे वैसे नीचे के परमाणु के चारों ओर के पानी की झिल्ली (film) मोटी होती जाती है, और इस तरह के जलयुक्त परमाणु के बीच का अन्तर कम होता जाता है यहाँ तक कि थोड़ा और नीचे जाने से वह अन्तर एक दम लोप हो जाता है। इस अवस्था को बहुधा पानी की सतह (water table) कहते हैं।

इस प्रकार प्रकृति-जगत में ऊपर तो मिट्टी रहती है बीच में दूसरी तह (sub-soil) और सबसे नीचे चट्टानें होती हैं। और यदि ये चट्टानें बिल्कुल ठोस नहीं हैं—जैसा कि सिंधु और गंगा के दोआब (plain) में है तो फिर उसकी अवस्था वैसी ही होती है जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं। ऐसी अवस्थाओं में पानी की तह—वितल (sub-soil) से कुछ पास रहती है। और इसके और ऊपर की सतह में जो पानी रहता है, इन दोनों में समत्व स्थापित हो जाता है। किंतु यह समत्व की अवस्था बहुत कम होती है और इसमें बहुत कम बाधाएँ होती हैं। मिट्टी की सतह का सम्पर्क हवा से रहता है और हवा का संबंध गति से रहता है, जिससे ज़मीन के ऊपरी परमाणुओं का पानी भाप बन कर उड़ जाया करता है। इसका नतीजा यह होता है कि गुरुत्वाकर्षण के नियम के ख़िलाफ़ नीचे का पानी ऊपर की ओर खिंचता जाता है। परंतु यदि ज़मीन के ऊपर ही पानी

का परिमाण बढ़ जावे तो उनके परमाणुओं के चारों ओर ज्यादा पानी हो जाता है, जो नीचे की ओर गुरुत्वाकर्षण के अनुसार खिंचता जाता है। नीचे की ओर इस प्रवाह को रिसना (percolation) कहते हैं। शायद हमें यह भ्रम हो कि यह पानी दो परमाणुओं के बीच के स्थान से नीचे बह जाता हो पर वास्तव में ऐसा नहीं होता है। वह मिट्टी के परमाणुओं के चारों तरफ़ की पानी की झिल्ली (film) के द्वारा ही नीचे उतरता है। मिट्टी की ऐसी बहुत कम अवस्था होती है जब कि उसमें सिर्फ़ पानी पानी ही रह जावे। दो परमाणुओं के बीच अक्सर ख़ाली जगह होती है जिसमें हवा होती है और पानी उन परमाणुओं के चारों ओर भरा होता है। अब अगर पानी ऐसी मिट्टी पर गिरेगा तो वह ऊपर की सतह में भर जावेगा जिससे कि नीचे की सतहों की हवा भीतर ही बन्द रह जावेगी और यह बन्द हवा ऊपर के उस पानी को नीचे के परमाणुओं के चारों ओर के पानी तक, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, न आने देगी।

साधारण अवस्था में नीचे की ओर तथा सभी अवस्था में ऊपर की ओर पानी का प्रवाह भूतलाकर्षण पर निर्भर रहता है। पानी को नीचे की ओर प्रवाहित करने में उसे गुरुत्वाकर्षण से सहायता मिलती है। पर उसी पानी का जब ऊपर प्रवाह होने लगता है तो उस गुरुत्वाकर्षण से उसका विरोध होता है। इससे पानी नीचे की ओर तो किसी भी गहराई तक गिर सकता है पर पानी की ऊपर चढ़ने की शक्ति नियमित ही रहेगी। यदि मिट्टी के परमाणु बहुत बड़े और बराबर के न हुए तो वे एक दूसरे से बहुत ज्यादा पास पास न रहेंगे। उनकी आकर्षण शक्ति कमज़ोर पड़ जावेगी। हम देख चुके हैं कि जब मिट्टी के परमाणु छोटे होते हैं तब उस मिट्टी का क्षेत्रफल बढ़ जाता है तथा उसके परमाणु आपस में एक दूसरे से ख़ूब मिल जाते हैं। ऐसी मिट्टी में भूतलाकर्षण बड़े महत्व का काम करता है अथवा वह पानी को पानी

की सतह (water-table) से बहुत ऊपर उठाता है। इससे कुछ हद तक मिट्टी के कणों के बारीक होने से उसके पानी की गति को सहायता मिलती है। पर यदि मिट्टी के कण और भी महीन हों तो हमें एक और शक्ति भिन्न भिन्न परमाणुओं में काम करती हुई मालूम होती है। इस मिट्टी के परमाणुओं के महीन होने की भी हद होती है जिस हद से आगे बढ़ने से उस मिट्टी के जल के प्रवाह में रुकावट पहुँचती है। पर यह अवस्था बहुत कम आती है। अब आगे ज़रा यह विचार करना चाहिए कि प्रकृति-जगत में मिट्टी के भीतर के पानी की कितनी गति है। इस बात का केवल साधारण ज्ञानमात्र हो सकता है क्योंकि जिन बातों पर यह गति निर्भर है वे भी भिन्न भिन्न मिट्टी और अवस्थाओं में बदलती जाती हैं।

जिन बातों पर हम अब तक विचार कर चुके हैं उनके सिवाय मिट्टी के भीतर पानी का प्रवाह बहुत कुछ उस मिट्टी की सतह की प्रकृति तथा उसकी जल-विषयक अवस्थाओं पर निर्भर रहता है। गरमी के दिनों के बाद ज़मीन जैसी कड़ी रहती है, यदि ऊपर की ज़मीन भी वैसी कड़ी, ठोस और बहुत नीचे तक सूखी हुई हो तो जब बरसात का पहिला पानी गिरेगा, तब वह ऊपर की सतह ही पर खूब फैल जावेगा, जिससे ज़मीन के अंदर की हवा नीचे ही बंद हो जावेगी और पानी नीचे न प्रवेश कर सकेगा जहाँ कि वह परमाणुओं के चारों ओर के पानी से मिल सकता और पहले-पहल ऊपर की सतह के परमाणुओं के चारों तरफ़ ही झिल्ली (film) बना पावेगा।

इस अवस्था में जब तक कि ऊपर की सतह के परमाणुओं के पानी की झिल्ली नीचे के परमाणुओं के पानी की झिल्ली से न मिल जावे तब तक पानी का नीचे की ओर बहुत धीरे धीरे प्रवेश होगा। पर जैसे ही लगातार सभी परमाणुओं के चारों ओर पानी हो जावेगा वैसे ही उसमें उसका शीघ्र प्रवेश होने लगेगा। ऊपर के कथन से हमें यह

पता लग जाता है कि मिट्टी में पानी के क़ायम रखने में जुताई का कितना प्रभाव पड़ता है। जिस फ़सल के लिए अधिक या लगातार पानी की ज़रूरत पड़ती है उसके लिए खेत की इस प्रकार जुताई होनी चाहिए ताकि उसकी मिट्टी ख़ूब महीन हो जावे। पर जिस खेत में हम ऐसी फ़सल बोते हैं जिसके लिए अधिक व लगातार पानी की ज़रूरत नहीं होती उस खेत का साधारण जुताई से ही काम निकल जाता है और हमें यह भी पता लग जाता है कि जब ख़ूब वर्षा हो रही है तो फिर मिट्टी को महीन करने के लिए ज्यादा जुताई की ज़रूरत नहीं रहती और न उस खेत को ज्यादा गहराई तक जोतने की ज़रूरत पड़ती है क्योंकि लगातार पानी गिरने से ज़मीन के ऊपर की सतह से और नीचे की पानी की सतह (water-table) से उचित संबंध क़ायम हो जाता है। दूसरे यह कि यदि यह संबंध क़ायम न भी हो तो भी कुछ हानि नहीं होती, क्योंकि लगातार वर्षा होने से ऊपर की उस मिट्टी को पानी मिलता ही रहता है। इसी प्रकार उस स्थान में वहाँ की मिट्टी को महीन करने के लिए अधिक जुताई की ज़रूरत नहीं पड़ती। पर जो ज़मीन सूखी है और जहाँ कम वर्षा होती है वहाँ ज्यादा जुताई की ज़रूरत होती है ताकि ऊपर की सतह के पानी से नीचे की पानी की सतह से संबंध क़ायम हो जावे और ऊपर का पानी नीचे की सतहों में सरलता से प्रवेश कर सके। इसलिये जुताई का केवल यही उद्देश्य नहीं है कि मिट्टी खुल जावे, उसमें बीज गिरा दिया जावे और उस पौधे की जड़ ज़मीन को पकड़ ले, वरन् उसका उद्देश पानी को प्रवाहित करते रहना भी है। और जुताई का परिमाण फ़सल फ़सल की प्रकृति, ऋतु और स्थान स्थान की आबहवा के ऊपर निर्भर है।

भूमि और वनस्पति-भोजन से उसका संबंध

पौधों को मिट्टी में मिले हुए पानी द्वारा भोजन मिलता है। जैसे जानवरों का भोजन कार्बनिक पदार्थ (organic substance) का होता

है वैसे ही पौधों का भोजन अकार्बनिक (inorganic substance) पदार्थों का होता है। कुछ ऐसे तत्व हैं जो कि पौधों को पैदा करने के लिए बहुत जरूरी हैं और जिन्हें पौधे अपनी जड़ों द्वारा खींचते हैं। इसलिये यह विश्वास दृढ़ करने के लिए कि अमुक पौधा बहुत अच्छा होगा किसान को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह जिस मिट्टी में अपनी फ़सल उत्पन्न करना चाहता है उसमें वे तत्व उपस्थित हैं या नहीं। इन आवश्यक तत्वों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। पहले वे जो हवा और पानी से प्राप्त होते हैं, जैसे कार्बन (carbon), ओषजन (oxygen), उद्‌जन (hydrogen) और दूसरे वे जो मिट्टी से प्राप्त होते हैं, जैसे नोषजन (nitrogen), हरिन (chlorine), गंधक (sulphur), पोटेसियम (potassium), खटिक (calcium), मगनीसम (magnesium,) और लोहा, इत्यादि।

इस तरह पौधा मिट्टी से सदैव यह आवश्यक तत्व खींचता रहता है और यदि उपज को क़ायम रखना है तो जिस मिट्टी से ये आवश्यक तत्व एक बार किसी फ़सल द्वारा खींच लिए जाते हैं, उन्हें उस मिट्टी में भर देना चाहिए। पर पौधे इन तत्वों का तभी उपयोग कर सकते हैं जब कि वे घुल सकने लायक़ हों और उस मिट्टी के पानी के साथ द्रव पदार्थ होकर पौधों तक पहुँच सकें। इससे हम वनस्पति भोजन को घुलनशील और न घुलनेवाले (soluble and insoluble) पदार्थों में बाँट देते हैं। इसलिये मिट्टी की पूरी जाँच करके देख लेना चाहिए कि उसमें के वे तत्व न घुलनेवाले (insoluble) हैं या घुलनशील (soluble)। यदि घुलनशील न हों तो उन्हें वैसा बनाने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि न घुलने वाले पदार्थ से पौधों को भोजन नहीं मिल सकता।

हम यह कह चुके हैं कि एक बार फ़सल बोने से, उस फ़सल के द्वारा मिट्टी के वे आवश्यक तत्व जो वनस्पतियों के भोजन हैं मिट्टी से

निकल जाते हैं और उस मिट्टी में उन तत्वों की कमी हो जाती है। यही नहीं, अन्य उपायों से भी मिट्टी से वे तत्व निकल जाते हैं। पहाड़ी ज़मीन में पानी गिर कर नीचे समाता है फिर झरने के रूप में वही प्रकट होता है। इन झरनों द्वारा वे तत्व जो द्रव बनकर वनस्पति को भोजन पहुँचाते हैं, बाहर निकल कर नदियों में बह जाते हैं। समतल ज़मीन में भी बहुधा पानी नीचे प्रवेश कर पानी की सतह (water-table) को ऊपर उठा देता है जिससे पानी ऊपर से प्रवाहित होकर उन तत्वों को साथ लेते हुए नदी में जा मिलता है। इसके सिवा साल में एक ऐसा समय भी आता है जब कि ख़ास कर गंगा के मैदानों में पानी ऊपर को फूट पड़ता है और अपने साथ उन तत्वों को बहा ले जाता है। इसलिये पौधा अपने विस्तार के लिए केवल उसी भोजन पर निर्भर नहीं रहता जो उसे उसकी जड़ की पहुँच में मिल जावे। वह तो काफ़ी भी नहीं होता। पानी जब ऊपर को चढ़ता है—जैसा कि हम कह आये हैं तो उसके साथ वे तत्व भी ऊपर पहुँच कर और पौधों की जड़ों की पहुँच में आकर उन्हें भोजन पहुँचाते हैं।

वनस्पति भोजन खाद पर कहाँ तक निर्भर है यदि हम इसकी जाँच करें तो पता लगेगा कि वनस्पति को पुष्ट करने के लिए मिट्टी से बहुत कम क़ाम निकलता है। पर साथ ही ऐसा भी कहीं नहीं देखा गया है कि बग़ैर खाद डाली हुई मिट्टी में कोई फ़सल पैदा न हो सकी हो। मिट्टी में अगर कोई तत्व बरसों तक न मिलाया जावे तो भी उसमें क़िसी न क़िसी प्रकार की किसी भी परिमाण में फ़सल ज़रूर पैदा होगी। इससे सिद्ध होता है कि मिट्टी में ऐसे तत्वों को फिर से भर देने के उपाय उपस्थित हैं। बहुधा यह क्रिया आँधी के आने से होती है। हमें मालूम है कि आँधी से बड़ी बड़ी चट्टानें टूट टूट कर कुछ काल में चकनाचूर हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त ज़मीन को अधिक तादाद में धूप, मेंह और आँधी के झकोरे नए तत्व देते हैं और मेह के

साथ के कर्बन द्विओषिद (carbon dioxide) से पौधों की जड़ें नीचे मिट्टी में बड़ी वेगवान हो जाती हैं। और इस प्रकार कुछ खनिज पदार्थ वहाँ इकट्ठा होकर वनस्पति-भोजन बन जाते हैं।

अब हम यह जाँच कर देखेंगे कि किसी भी पौधे के लिए कितने वनस्पति भोजन की जरूरत होती है या उसे कितना मिला करता है। यह पता लगा है कि यदि औसत दर्जे की खेती हुई तो एक एकड़ में गेहूँ की खेती करने पर उस फ़सल द्वारा उस ज़मीन का बीस पौंड स्फुरिकाम्ल (phosphoric acid) और छत्तीस पौंड पोटाश (potash) खिंच जाता है। एक एकड़ ज़मीन की नौ इंच गहराई का वज़न लगभग पचास लाख पौंड होता है। और जिस मिट्टी में प्रति सैकड़ा स्फुरिकाम्ल (phosphoric acid) या एक प्रति सैकड़ा पोटाश (potash) हो तो इतने वज़न की ज़मीन में इन दोनों में से कोई भी एक पदार्थ लगभग अढ़ाई हज़ार पौंड होगा। इन तत्वों का प्रतिशत परिमाण फ़सल फ़सल के अनुसार भिन्न भिन्न होता है। पर एक प्रतिशत ही औसत परिमाण है। इससे इतनी ज़मीन में एक सौ पचीस वर्ष तक फ़सल पैदा करने के लायक़ काफ़ी स्फुरिकाम्ल (phosphoric acid) होगा। इस ऊपर की नौ इंच ज़मीन पर मेह, आँधी और धूप की गति भी चलती रहती है। उस ज़मीन के पौधे अपने भोजन के लिए उस नौ इंच ज़मीन पर ही निर्भर नहीं रहते। इसलिए उस फ़सल के लिए अटूट परिमाण में स्फुर (phosphorus) मिल जाता है। इसलिये इस बात का डर नहीं रहा कि उसमें ऐसे तत्व कम हैं, पर विचार तो इस बात का करना चाहिए कि उसमें से किस परिमाण में वे तत्व द्रव पदार्थ (soluble substance) बनकर उन पौधों तक पहुँचते हैं और कितने उन पौधों द्वारा खिंच जाते हैं।

जिस दर से ये तत्व द्रव (soluble) हो जाते हैं वह बहुत सी बातों पर निर्भर है। मुख्यतः ये सब रसायनिक क्रियायें हैं और ये

रसायनिक क्रियायें अपनी गति के लिए उन शक्तियों पर निर्भर रहती हैं जो उन्हें संचालन करती हैं। इन सारी रसायनिक क्रियाओं में एक समानता होती है जिस पर उनकी गति का वेग निर्भर रहता है। इस प्रकार जो ज़मीन हवा, धूप और मेह के सामने खुली पड़ी रहती है उसमें ये तत्व जल्दी द्रव-रूप (soluble form) में आ जाते हैं। जुताई से मिट्टी के कण महीन हो जाते हैं जिससे हवा के ओषजन (oxygen) से उस रसायनिक क्रिया को अत्यन्त सहायता मिलती है। जितनी अधिक ज़मीन में हवा का प्रवेश हो सकेगा उतना ही अधिक उसमें उस क्रिया का संचालन होगा। रसायनिक क्रिया की वृद्धि गरमी से भी होती है। इसलिये ठंडे स्थानों की अपेक्षा गर्म स्थानों में तथा ठंडी ऋतु की अपेक्षा गर्म ऋतु में वे तत्व अधिक शीघ्रता से द्रव (soluble) पदार्थ बनने लगते हैं।

ज़मीन में द्रव (soluble) खनिज पदार्थों के ह्रास को रोकना एक ऐसी समस्या है जिसका गूढ़ संबंध शोषण (absorption) से है। हम यह कह चुके हैं कि ज़मीन के द्रव खनिज पदार्थ उसके पानी के साथ बह जाते हैं। यह कथन एक अंश मात्र में ही ठीक है। उदाहरण के लिए हम मिट्टी काए का टुकड़ा लेते हैं, उसमें किसी नमक का पानी अगर छोड़ें तो जो पानी उस मिट्टी के नीचे गिर जाता है उसकी जाँच करने से यह पता लगेगा कि उसमें नमक की वह मात्रा नहीं रह गई जो पहले थी। कुछ मात्रा मिट्टी में ही मिल जाती है। यह उस मिट्टी और नमक के क़िस्म पर निर्भर है। ज़मीन में कुछ ऐसे पदार्थ हैं जैसे कि चिकनी मिट्टी (clay) और ह्यूमस (humus) जो उसकी नमक को सोख लेने (absorption) की शक्ति को बढ़ाते हैं।

ऊपर के कथनों से यह प्रकट हो जाता है कि जुताई से वनस्पति भोजन का क्या संबंध है। मिट्टी के परमाणुओं को महीन करने से वे अधिक परिमाण में धूप, मेह और हवा के सामने आ जाते हैं और दृढ

(insoluble) वनस्पति-भोजन द्रव (soluble) बन जाते हैं। दूसरे यह कि मिट्टी को उलट-पलट करने से नीचे की मिट्टी ऊपर आ जाती है और उसके मेह आदि के सामने आ जाने से वनस्पति भोजन की तादाद बढ़ जाती है। यदि जुताई उचित समय में और उचित रीति से हुई तो मिट्टी का उपजाऊपन काफ़ी समय तक रक्खा जा सकता है।

यह विदित ही हो गया कि नोषजन (Nitrogen) एक गुणकारी वनस्पति भोजन है। यह भी सच है कि नोषजन (Nitrogen) का उपयोग वनस्पति नोषेत (Nitrate) के रूप में ही कर सकता है। नोषेत (Nitrate) उन नमकों में से एक है जो मिट्टीद्वारा बहुत कम सोख लिया जाता है। इससे वह मिट्टी से बहुत सरलता के साथ उड़ जाता है। मिट्टी की जाँच करने से यह पता लगता है कि मिट्टी का कुल नोषजन (Nitrogen) जैसे जैसे मिट्टी की सतह से दूर होता जाता है वैसे वैसे कम होता जाता है। हम यह भी साफ़ देखते हैं कि नोषजन (Nitrogen) भिन्न भिन्न ऋतुओं में मिट्टी में पृथक् पृथक् परिमाण में नोषेत (Nitrate) के रूप में रहता है। ऐसी ज़मीन में जिसमें हाल ही में खेती हुई हो ऐसी एक एकड़ ज़मीन की दो फ़ीट मिट्टी से केवल आठ पौंड नोषजन (Nitrogen) निकलेगा। पर वही ज़मीन अगर कुछ दिन तक बिना कोई फ़सल बोये पड़ी रही हो तो उसके एक एकड़ की दो फ़ीट मिट्टी से दो सौ तिहत्तर पौंड नोषजन (Nitrogen) मिलेगा। इस ज़मीन की दो अवस्थाओं के नोषजन के परिणाम के इस बड़े अंतर के समझाने के लिए केवल यह कह कर नहीं टाल दिया जा सकता कि जो नोषजन पहले दृढ (insoluble) पदार्थ था वही अब द्रव (soluble) हो गया है। यहाँ पर एक दूसरी शक्ति भी काम करती है।

नोषजन चूँकि ज़मीन की ऊपरी सतह में रहता है इससे उस शक्ति का यहाँ पर संचालन होता रहता है। मिट्टी की ऊपरी

सतह को हमेशा कार्बनिक-पदार्थ (Organic substance) मिलता रहता है। यह कार्बनिक पदार्थ (Organic substance) या तो उन वृक्षों के सखे पत्ते हैं जो कभी वहाँ पर हरे-भरे मौजूद थे या उन पौधों की जड़ें हैं जिन की फ़सल कट गई है या जङ्गली जानवरों की विष्ठा हैं या गाय घोड़े के गोबर व लीद हैं या खली आदि की तरह कृत्रिम खाद हैं या हरी फ़सल के ऊपर से जोत देने से यह पदार्थ बन जाता है। ये कार्बनिक पदार्थ जिनमें बहुत नोषजन होता है बहुधा खेत में पड़े पड़े सड़ कर अंत में ह्यूमस (Humus) नामक पदार्थ बन जाते हैं। इस ह्यूमस से मिट्टी का ऊपरी रंग काला सा हो जाता है। मिट्टी की ऊपरी सतह में या ख़ास कर ढीली मिट्टी में कीटाणु (Bacteria) नामक जो कई प्रकार के जीवजंतु होते हैं उन्हीं सब से वे कार्बनिक पदार्थ सड़ जाते हैं और वे सड़ कर बहुत सा नोषेत बनाते हैं। इस नतीजे की यहाँ जाँच करने की जरूरत नहीं, पर हम यदि इस कथन को मान लें तो हमें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि नोषेत (Nitrate) की उत्पत्ति मिट्टी की उन तमाम बातों पर निर्भर रहती है जिनका संबंध उस मिट्टी के जीव-जंतुओं से है। ये जीव-जंतु चेतन जगत की चीजें हैं और इनके जीवन के लिए भूमि में एक विशेष गुण की ज़रूरत है। इससे भूमि इन जीव-जंतुओं की क्रियायों के लिए एक विस्तृत क्षेत्र है जिसमें बहुत सी रसायनिक क्रियाएँ होती रहती हैं। इन रसायनिक क्रियाओं में वे भी हैं जो ज़मीन के नोषजन (Nitrogen) पदार्थ को नोषेत (Nitrate) में बदलने में सहायक होती हैं। इसलिये भूमि की आन्तरिक अवस्था को उस विशेष हालत में रखना बहुत आवश्यक है जिससे कि ये कीटाणु ख़ूब अच्छी तरह रह सकें। ज़मीन की यह आन्तरिक अवस्था कृषि-कला पर निर्भर है। इसलिये नोषजन (Nitrogen) को द्रवरूप (soluble form) में बदलने में कृषि-कला का प्रभाव बहुत कुछ होता है।

चौथा अध्याय

पौधा और उसका ज़मीन के ऊपर और अन्दर की जल-वायु से संबंध।

हम पीछे कह चुके हैं कि वनस्पति अचल होते हैं। वे एक जगह से दूसरी जगह जानेवाले नहीं होते और उनमें जो बढ़ने का गुण है—जैसा कि जानवरों में भी है—उसी से वे भी जीवधारी माने जाते हैं। बढ़ने का अर्थ यहाँ एक मिश्रित पदार्थ का बन जाना और रसायनिक शक्ति का संचालन है। इस संचालन के लिए शक्ति की आवश्यकता है और यह शक्ति अन्य रसायनिक पदार्थों के नाश से उत्पन्न होती है। यह नाशकारी परिवर्तन जिसका ऊपरी रूप श्वास का आना जाना है तभी तक जारी रह सकता है जब तक कि घर्षण के लिए काफ़ी सामग्री हो। जानवरों के संबंध में घर्षण की सामग्री भोजन के उपयोग से तैयार होती है जिसमें बहुत से ऐसे मिश्रित पदार्थ हैं जो उन जीव-जंतुओं द्वारा नाश कर दिये जाते हैं। वनस्पति-जगत में घर्षण की सामग्री साधारण रसायनिक क्रियाओं से प्राप्त होती है जिसका संचालन सूर्य की किरणों से होता है। इस प्रकार का घर्षण केवल पौधों में होता है जिनका भोजन उन्हीं पदार्थों में होता है जो उस घर्षण की सामग्रियाँ हैं। वनस्पति जिस भोजन से अच्छी तरह से बढ़ सकता है उसकी खपत

तभी पूरी हो सकती है जब कि पानी, जिसे पौधों की जड़ें पीती हैं, उन आवश्यक नमकों को देने के लिए काफ़ी हो जो वनस्पति-जीवन के लिए आवश्यक हैं। इसलिये पुष्ट पौधों की उपज करने में मिट्टी के उस पानी पर अधिकार करना बहुत ज़रूरी है जिसमें हमेशा कई तरह के नमक मिले रहते हैं। जुताई का बड़ा भारी महत्व इस बात में है कि उससे कुछ हद तक मिट्टी की पानी को सोखने की ताक़त पर असर पड़ता है। साथ ही पौधों का एक दूसरा पहलू भी है जिसका हमें यहाँ पर विचार कर लेना चाहिए। हम पीछे कह चुके हैं कि पौधों के दो भाग होते हैं, एक तो जड़ जो भूमि में गड़ी रहती है दूसरे पिंड-शाखा और पत्तियाँ जो ऊपर हवा में होती हैं। इन ऊपरी भागों के द्वारा कार्बन (Carbon) नाम की हवा पौधों को प्राप्त होती है जिससे कि उन पौधों के अंग पुष्ट होते हैं। ऊपर वायु में हमें कार्बन दि अक्षेद (Carbon dioxide) मिलता है और पत्तों के नीचे के भाग में स्टोमेटा (Stomata) होता है। इन स्टोमेटा (Stomata) द्वारा कार्बन दि अक्षेद (Carbon dioxide) पत्तों के भीतर तक प्रवेश करता है। और वहाँ पर्ण हरिण (Chlorofil) के प्रभाव से प्रकाश की ज्योति में माड़ी (starch) के रूप में परिणत हो जाता है। यह माड़ी (starch) आगे चलकर शक्कर बन जाती है, और इस शक्कर के रूप में पौधों के सारे अंगों को भोजन पहुँचाता है और उससे उपयोगी पौधों को जीवन मिलता है। इससे हम देख सकते हैं कि कार्बन दि अक्षेद (Carbon dioxide) के पौधों तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि स्टोमेटा (Stomata) खुले रहें। और कार्बन दि अक्षेद (Carbon dioxide) को माड़ी (starch) के रूप में बदल जाने के लिए प्रकाश की ज़रूरत है। पौधे अपनी जड़ों द्वारा जो पानी पीते हैं और जो पानी उन पौधों के सब हिस्सों में फैल जाता है उसके भाप बनाने के लिए भी स्टोमेटा की आवश्यकता होती

है। पौधों में उनके ठोस पदार्थों की अपेक्षा पानी का अंश कई सौ गुना अधिक होता है तो भी इस पानी के उनके भीतर उचित संचालन की विशेष आवश्यकता है। कहीं ऐसा न हो जावे कि जिससे ज्याद: परिमाण में पानी भाफ बनकर उड़ जावे। इस संचालन का काम स्टोमेटा करता है। पौधों से पानी के भाप बन जाने की मात्रा गरमी पर तथा हवा में मिले हुए जलकणों के परिमाण पर निर्भर रहती है। जब कभी सूखी या गरम हवा में जितना पानी पौधों की जड़ें खींचती हैं उससे ज्यादा उनकी पत्तियों से उड़ जाता है तब स्टोमेटा बंद हो जाते हैं। स्टोमेटा के इस बंद हो जाने से पत्तों की हवा का प्रवेश तथा उस हवा में मिली हुई कार्बन दि अक्षेद (Carbon dioxide) के परिमाण का प्रवेश रुक जाता है। परिणाम यह होता है कि माड़ी (starch) का बनना भी रुक जाता है। इस प्रकार से हवा में मिले हुए पानी का पौधों पर सीधा प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार से चाहे जड़ों को काफ़ी तादाद में पानी मिलता भी हो क्योंकि गर्म और सूखे मई मास में—जैसा कि बहुधा मैदानों में होता है—पौधों की बढ़ती में बाधा पहुँचती है। इस विषय का अच्छा उदाहरण गन्ना है। वह मार्च में बोया जाता है तथा गरमी के दिनों में उसमें ख़ूब सिंचाई होती है। पर उस पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ता, परंतु बरसात के पानी पड़ते ही मानो उसे अमृत मिल जाता है।

पौधों के ऊपर हवा में मिले हुए जल-कणों का ऊपर लिखे हुये तरीक़े से असर होता है, पर किसान को हवा के इसी एक पहलू से मतलब नहीं रहता। हम देख चुके हैं कि भूमि के कणों के चारों तरफ़ पानी रहता है व इस पानी का भूमि के कणों के बीच की हवा से संबंध रहता है और भाप का दोनों स्थानों की हवा में आना-जाना चलता रहता है। भाप के इस आवागमन का वेग ज़मीन के ऊपर की हवा के सूखे-पन और गर्मी पर तथा भूमिकणों के चारों ओर के पानी के उड़ जाने

पर नीची सतहों से जिस वेग से पानी उन्हीं स्थानों में आ जाता है उस वेग पर निर्भर रहता है। पत्तों की तरह संभव है कि भूमिकणों के चारों ओर के पानी के सूखने का वेग उसके स्थानों में नीची सतहों में से पानी आ जाने के वेग से अधिक हो जावे। ऐसी अवस्था में भूमि की ऊपरी सतह एकदम सूखी पड़ जावेगी क्योंकि पत्तों के स्टोमेटा (stomata) की तरह भूमि में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो ऐसी अवस्था आ जाने पर भूमिकणों के चारों ओर के पानी को भाप बनने से रोक सके। खेती में पौधों के संबंध में हवा के जलयुक्त होने के ऐसे अनेक पहलू हैं पर इसमें भी जो अधिक मार्के का पहलू है उससे और आबहवा से जो घनिष्ट संबंध है उसे हमें नहीं भूल जाना चाहिए। हवा के जलकण यद्यपि भूमि तथा पौधों से प्राप्त होते हैं पर उनका मुख्य उद्गमस्थान समुद्र है। हवा में कितने जलकण भाप के रूप में समा सकते हैं यह उसकी गर्मी पर निर्भर है। इससे समुद्रों के ऊपर की गर्म हवा में अधिक जलकण रहेंगे। यहाँ से हवा उठकर उन जलकणों को भूमि के ऊपर ले जाती है और उसका संयोग ठंडी हवा से होता है जिसमें जल ग्रहण करने की कम ताक़त होती है। अधिक परिमाण में समुद्री हवा के साथ में जो जलकण जाते हैं उन्हीं से मेघ तय्यार होता है। इससे किसी भी स्थान की आबहवा और वहाँ की खेती इस समुद्री हवा के उड़ान के रुख़ पर निर्भर है। हम अब यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि यदि किसान यह जान ले कि अब की हवा किधर से किस दिशा की ओर उड़ेगी तो उसकी खेती पर क्या असर होगा। हमारा आकाशसंबंधी (meteorological) समस्याओं का ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा नहीं है जिससे कि किसान हवा के प्रवाह के रुख की ठीक ठीक पहले से ही घोषणा कर सके। हवा के रुख़ की पहिचान किसान के लिए बड़े महत्व का विषय है। इससे हम यहाँ के उस वायुप्रवाह के रुख़ के संबंध की चर्चा करेंगे जो कि ऋतुओं से है। हवा के जलकणों का

विचार करते हुए हमने कह ही दिया है कि ऊपर कहे हुए नतीजे के पैदा करने में गर्मी एक मुख्य कारण है। इसके सिवा पौधों के श्वास के आवागमन और पाचन के वेग के संचालन और गर्मी के बीच घनिष्ट संबंध है। पृथ्वी की गर्मी तीन बातों पर निर्भर है यथा भूगर्भ से निकली हुई गर्मी, सूखे पत्ते, हरे पत्ते, हरे पेड़ आदि पदार्थों से प्राप्त हुई गरमी और सूर्य्यद्वारा प्राप्त हुई गर्मी। व्यावहारिक विचार से सूर्य्य की गर्मी सब से ज्यादा महत्व की है। उस गर्मी से जो अक्षांश (Latitude) पर निर्भर रहती है हमारे उपर्युक्त कथन का समर्थन होता है। सूर्य्य से पैदा हुई गर्मी में जो चढ़ाव उतार होता है उसको भूगर्भ से मिली हुई गर्मी संभाल कर रखती है और सूखे पत्ते आदि पदार्थों से जो गर्मी पैदा होती है वह यद्यपि बहुत गर्मी देती है पर खेती की साधारण दशाओं में उसका बहुत कम असर होता है। लकड़ी के जलाने से जो गर्मी पैदा होती है वही उसके हवा आदि के संयोग से सड़ कर पैदा होती है। इन दोनों उपायों से वह ठोस पदार्थ—लकड़ी—छोटे छोटे रसायनिक पदार्थ कार्बन दि अम्लेत (Carbon dioxide) पानी आदि बन जाते हैं। जो काम लकड़ी के जलाने से कुछ मिनटों में हो जाता है वही काम उसके सड़ने से महीनों और वर्षो के बाद होता है। दोनों अवस्थाओं में समानता तो तब प्रकट होती है जब ऐसे पदार्थ गड्ढे आदि ऐसे स्थानों में रख दिये जावें जहाँ कि वे सरलतापूर्वक सड़ सकें। इस प्रकार से जो गर्मी पैदा होगी वह उन सड़ती हुई वस्तुओं में आग सुलगा देने में समर्थ होगी।

किसी समय या किसी स्थान में भूमि या हवा में जो गर्मी होगी उसका परिमाण सूर्य्यद्वारा प्राप्त हुई शक्तियों पर जो अनेक प्रभाव पड़ते हैं, उन्हीं के फलस्वरूप होगा। सूर्य्य की किरणें पृथ्वी पर पहुँचने के पहले वायु-मंडल से होकर आती हैं। इससे वायु उन

किरणों की कुछ शक्ति को अपने में ग्रहण कर लेती है जिससे उसमें गर्मी आ जाती है। इस प्रकार वायु जो सूर्य्य की किरणों की गर्मी को ग्रहण कर लेती है, उसका परिमाण वायु के जलकणों के परिमाण पर निर्भर रहता है। किसी भी अन्य पदार्थ की अपेक्षा पानी को गर्म करने में अधिक गर्मी की आवश्यकता होती है। इससे सूखी हवा को गर्म करने के लिए सूर्य्य की किरणें उसमें से निकलते हुए, कम गरमी छोड़ जावेंगी। यदि जलकणयुक्त हवा को भी उतना ही गर्म करना है तो उससे अधिक सूर्य की गरमी उस जलकणयुक्त हवा में रह जावेगी।

फिर पृथ्वी पर गिरती हुई सूर्य्य-किरण की कितनी शक्ति बीच में ही ग़ायब हो जाती है, इस पर भी गर्मी निर्भर रहेगी। भूमि के रंग और उसकी गर्मी प्रवाहित करने की शक्ति पर सूर्य्यकिरणों की शक्ति का वायु-मंडल में लुप्त होना निर्भर रहेगा। इस लुप्त हुई शक्ति का वास्तविक गर्मी पर कितना प्रभाव पड़ता है, यह भूमि की गर्मी ग्रहण कर लेने की शक्ति पर निर्भर रहेगा। और इस भूमि की गर्मी ग्रहण करने की शक्ति में भूमि भूमि के अनुसार अंतर होता है। यह अंतर भिन्न भिन्न भूमि में पृथक् पृथक् परिमाण में पानी रहने पर निर्भर रहता है। वायु-मंडल की तरह जिस भूमि में अधिक पानी रहेगा उसे गर्म करने में अधिक गर्मी की आवश्यकता होगी।

हमने यहाँ गर्मी को वायु-मंडल की उस अवस्था का रूप मानकर विचार किया है जिसका असर मुख्यतः पौधों के ऊपरी भाग पर पड़ता है। अब हम यह विचार करेंगे कि वायु-मंडल की गर्मी पर भूमि की गर्मी का क्या प्रभाव पड़ता है। वायु-मंडल की अपेक्षा वास्तव में भूमि या उस पर उत्पन्न हुए पौधे ही गर्मी को निगल जाते हैं। वायु के जल-कण की तरह ऋतु के फेर से आबहवा का भिन्न भिन्न असर पड़ता है। पर इसके सिवा उस आबहवा में दिन प्रतिदिन

अंतर पड़ता रहता है जिसका कि खेती के काम पर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ता। इसे भी हमें ध्यान में रखना आवश्यक है।

भारत में केवल नदियों से इतना ही लाभ नहीं होता कि उनके द्वारा जरूरत से ज्यादा पानी बाहर बहा दिया जावे। यह नदियाँ भूमि में हवा भी पहुँचाती हैं और विशेष कर उसे ओषजन (Oxygen) और नोषजन (Nitrogen) भी वायु-मंडल से लाकर देती हैं। बरसात के दिनों में वितल (subsoil) में पानी की तह बहुत ऊपर उठी रहती है। उसके बाद नदी नीचे से पानी खींचने लगती है और अपने साथ उसे बहाकर ले जाती है। जब भीतर पानी की सतह नीची हो जाती है तो उसकी जगह में बाहर से हवा भरने लगती है। इसलिये जैसे ज़मीन के ऊपर से नदी पानी को खींच ले जाती है वैसे ही अब ज़मीन के भीतर से भी पानी को खींच कर ले जाती है। ज़मीन में हवा भर देने से किसान को क्या लाभ होता है, यह उत्तरी बिहार के हिस्सों में देखा जाता है। जब वहाँ कभी कभी बाढ़ आती है और नदी ज़रूरत से ज्यादा गिरे हुए पानी को बहा नहीं सकती, जब किसी ज़मीन में तलातल पानी भरा रहता है तो उसमें फिर हवा नहीं समा सकती, तब कुछ समय के बाद उस ज़मीन के भीतर हवा की कमी हो जाती है और उसमें के रसायनिक तत्वों और फ़सल का नुक़सान होता है। हवा की जितनी कमी होती है उतना ही फ़सलों को धक्का पहुँचता है।

ज़मीन में हवा के समाने की आवश्यकता लोगों पर अब प्रकट होने लगी है। इसके ठीक वही फ़ायदे हैं जो किसी कमरे में ताज़ी हवा के भर जाने से होते हैं। हमें मालूम है कि मिट्टी कोई ठोस पदार्थ नहीं है पर उसके छोटे छोटे परमाणु होते हैं और जिन दो परमाणुओं के बीच में हवा का ख़ाली स्थान होता है, जुताई का उन ख़ाली स्थानों के क्षेत्रफल का बढ़ाना भी एक उद्देश्य होता है। उन ख़ाली स्थानों में

दो चीज़ें होती हैं, पानी और हवा। पानी तो परमाणुओं के चारों तरफ़ होता है और उसके बीच बीच में हवा होती है। इस पानी के अंदर बड़ा भारी प्राणिवैज्ञानिक परिवर्तन (Biological change) होता रहता है। यह दो प्रकार से होता है। पहले तो पौधों की जड़ें हमेशा अपना भोजन और पानी खींचती रहती हैं और इसके साथ साथ जीवन-मूल प्रक्रिया (Protoplasmic activity) सम्बन्धी क्रियायें भी होती रहती हैं जिसमें नोषजन (Nitrogen) को तो जड़ें निगलती रहती हैं और कार्बन दि अक्षेत (Carbon dioxide) तैयार होता रहता है। इससे जड़ों का काम निरंतर श्वास का लेते रहना है। इस काम के लिए ऊपर से उसमें ओषजन ज़रूर जाती रहनी चाहिए और ज़रूरत से ज्यादा कार्बन दि अक्षेत को बाहर ज़रूर निकलते रहना चाहिए। दूसरे मिट्टी के भीतर आर्गनिक-पदार्थ (Organic substance) को सड़ाने वाले कीटाणु (Bacteria) द्वारा हलचल होती रहती है। ये जीव-जंतु सदैव जीते रहते हैं और वनस्पति की तरह साँस लेते रहते हैं। ओषजन (Oxygen) के लिए उनकी पौधों के साथ प्रतिद्वन्द्विता होती रहती है और वे कार्बन दि अक्षेत को अधिक तादाद में पैदा करते रहते हैं। यदि ज़मीन में काफ़ी हवा हुई तो ज़मीन के इन जंतुओंद्वारा आर्गनिक पदार्थ (Organic substance) के तोड़े जाते रहने से कोई हानि नहीं होती। पर यहाँ हवा की कमी होने पर जो नीचे तक ख़मीर (Fermentation) उठता है उससे बड़ी हानि होती है। तब वहाँ एक दूसरे प्रकार के जंतु प्रकट हो जाते हैं। नीचे के तत्वों में जो कुछ ओषजन (Oxygen) रह जाता है उसी को खाना शुरू कर देते हैं और नोषजन (Nitrogen) अलग होकर हवा में उड़ जाती है और मिट्टी से अलग हो जाती है। इससे ज़मीन में हवा की कमी होने से फ़सल को बड़ा भारी घाटा सहना पड़ता है।

बरसात के दिनों में जमीन के भीतर हवा के आने-जाने में रुकावट

का नतीजा साफ़ प्रकट होता है। इससे ज़मीन के भीतर वनस्पति के लिए लाभकारी नोषेत (Nitrate) नामक पदार्थ सत्यानाश हो जाता है और मिट्टी के गुण भी बरबाद हो जाते हैं। इसके बाद जाड़े के दिनों में खेत में अच्छी फ़सल से पचास फ़ी सदी कम फ़सल होती है। इसका एक ही सरल उपाय हो सकता है। खेत की ज़मीन एकदम समतल कर दी जावे जिससे कि खेत का हर हिस्सा बराबर बराबर पानी सोखे और ज़रूरत से ज़्यादा पानी निकाल दिया जावे। यह ध्यान में रहे कि वह पास के दूसरे खेतों में न जाने पावे नहीं तो वहाँ भी वैसा ही उपद्रव होगा।

हवा से ओषजन (Oxygen) लेने के सिवा ज़मीन को उससे दूसरा लाभ भी होता है। अरहर, चना, उरद, मूँग, मटर आदि कुछ पौधों की जड़ों में एक प्रकार की गाँठें होती हैं। उन गाँठों में कीटाणु (Bacteria) होते हैं। ये कीटाणु हवा के नोषजन (Nitrogen) को वनस्पति भोजन के रूप में बदलते रहते हैं। इससे खेती में बड़ा फ़ायदा होता है। नोषजन (Nitrogen) से इस प्रकार वनस्पति भोजन बनाना केवल कीटाणुओं (Bacteria) का ही काम नहीं है। गर्म देशों में अगर ज़मीन में काफ़ी हवा हुई और पानी और आर्गेनिक पदार्थ भी उसमें रहे तो भी नोषजन (Nitrogen) से वनस्पति भोजन तैयार हो जाता है। भारत की खेती के इतिहास को देखने से मालूम होता है कि इस प्रकार नोषजन से वनस्पति-भोजन बन जाने पर खेती को कितना लाभ पहुँचता है। रुहेलखंड में वर्षों से बिना खाद के गन्ने की खेती हो रही है; पर उसकी उपज में कुछ कमी नहीं हुई। आईन-ए-अकबरी के लिखे अनुसार अभी भी उसी परिमाण में वहाँ की उपज पाई जाती है। ज़मीन की हवा के नोषजन (Nitrogen) से जो वनस्पति भोजन बन जाता है और उससे जो लाभ पहुँचता है, यह उसीका उदाहरण है।

ज़मीन के भीतर हवा रहने से जो फ़ायदे होते हैं उनका साक्षी स्वयं पौधा है। उत्तर बिहार जैसे मैदानों में जहाँ हवा बड़ी मुश्किल से नीचे प्रवेश कर सकती है, वहाँ जड़ें सतह के पास ही पास रहती हैं, अधिक नीचे प्रवेश नहीं कर सकतीं। पर प्रायद्वीप की काली ज़मीन में, जहाँ गर्मी में बहुत सी ज़मीन फट जाती है और जिसकी ऊपरी सतह एकदम सूख जाती है, वहाँ जड़ें बहुत नीचे तक फैलती हैं क्योंकि पानी सतह के बहुत नीचे रहता है और उसमें हवा अच्छी तरह से प्रवेश कर सकती है। काली ज़मीन पर बोये हुए अलसी और अफ़ीम के पौधों की जड़ें गहराई तक फैली रहती हैं।

भारत में ऐसी बहुत कम ज़मीन मिलेगी जिसमें प्रकृतिद्वारा ही ख़ूब हवा भर दी गई हो। इससे खेतों की बराबर जुताई करने की बड़ी आवश्यकता है। अभी तक यहाँ की जुताई के तरीक़े कच्चे ही रहे हैं। ज़मीन में हवा के रहने से जो फ़ायदा होता है उसका तथा और पौधों की जड़ों को मज़बूत बनाने की ओर ध्यान रखते हुए जुताई के तरीक़ों और जुताई के यंत्रों में काफ़ी उन्नति करने की बड़ी आवश्यकता है।

इसके सिवा बरसात के दिनों में ज़मीन में किस वेग से और किस तादाद से पानी जाता है उसका भी विचार कर लेना चाहिए। पानी ज़मीन में सरलता से कैसे प्रवेश करे इसका भी उपाय खोज निकालने की बड़ी आवश्यकता है। फिर जहाँ-जहाँ जिस परिमाण में हवा होती है वहाँ वहाँ उस परिमाण में अनाज भी पैदा होता है। चीज़ तो वही पैदा होती है पर ज़मीन में हवा रहने या न रहने से उसकी उत्तमता में ज़रूर अंतर पड़ जाता है। तिरहुत के परगना सरहसा में, रायबरेली के ज़िले में या बिलोचिस्तान की पुस्तंग की घाटी में, जहाँ की ज़मीनों में औसत से ज्यादा हवा होती है, ख़ूब बढ़िया तम्बाकू पैदा होती है। संयुक्त प्रान्त में गोरखपुर की कड़ी ज़मीन की अपेक्षा मेरठ ज़िले के गन्ने बड़े अच्छे होते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

किसान का प्रकृति पर वश

हमने संक्षेप में अब तक इस बात पर विचार किया है कि पौधों का उसके आस-पास की अवस्थाओं से क्या संबंध रहता है। हमने यह भी देख लिया है कि ऐसी अवस्थायें दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जिन पर मनुष्य का अधिकार हो सकता है और दूसरी वे जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं होता। अब हम खेती की परिभाषा कर सकते हैं। खेती मनुष्यों के उन कामों का नाम है जिनके द्वारा वह पौधों के चारों ओर की अवस्थाओं को अपने अधिकार में रख सके और उन अवस्थाओं को अपनी फ़सल के योग्य बना सके। ये अवस्थायें इतनी ज़्यादा हैं और आपस में एक दूसरे से इस प्रकार मिली हुई हैं कि उन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन करना कठिन है तो भी उनमें से दो चार मुख्य मुख्य के उदाहरण देते हैं—यथा गर्मी, मिट्टी का पानी, खनिज या नोषजन (Nitrogen) वाले वनस्पति भोजन, भूमि की आन्तरिक अवस्था जिसका प्रभाव जड़ों पर पड़ता है, हवा में पानी का होना, प्रकाश आदि जिनका असर पौधों के ऊपरी हिस्से पर पड़ता है। पौधों की बढ़ती में इन सभी अवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। यहाँ पर हम पौधों की भौतिक (Physical) अवस्थाओं पर विचार करेंगे। पौधों के चारों ओर की अवस्थाओं में उनके चारों ओर के वनस्पति

और जीव-जंतु भी आ जाते हैं जो उन पौधों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करते हैं जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं। प्रतिद्वन्द्विता के माने यहाँ भोजन के लिए प्रतिद्वन्द्विता है। इस प्रतिद्वन्द्विता का उस पौधे की रसायनिक क्रांति पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

पौधों में और उसके चारों ओर की अवस्थाओं में जो क्रांति होती है उसे समझने के लिए एक छोटा सा उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए कि किसी जोती हुई ज़मीन में, जो बीज बोने के लिए तैयार की गई है, कुछ बीज बो दें। पर बीजों को उसमें बखेर देने के बदले उन सब बीजों को एक टीन के डब्बे में रखकर गाड़ दें। इस प्रकार उन बीजों में अंकुर नहीं फूटेंगे। जो बीज ज़मीन में बखेर कर बोये जाते हैं उनकी अवस्था में और इस टीन के डब्बे में भर कर बोये हुए बीजों की अवस्था में अंतर यह है कि टीन के डब्बे वाले बीजों में उस मिट्टी का पानी उन बीजों तक पहुँच नहीं पाता। वहाँ गर्मी तो ठीक है, हवा में ओषजन (oxygen) है, पर उसमें पानी नहीं है। इस पानी के न रहने से ही उन बीजों में अंकुर न निकल सके। और इस एक ही अवस्था के न रहने से उन बीजों में से पौधे न निकल सके।

उदाहरण के लिए दूसरे प्रकार के पौधे लेते हैं। मटर को ही लीजिए। मटर के कुछ बीजों को एक बोतल में पानी भर कर उतनी गर्मी में रख दें जितनी गर्मी में मटर के पौधे शीघ्र निकल आते हैं। पर इस अवस्था में वे बीज केवल सड़ जावेंगे। यहाँ उचित गर्मी भी है और पानी भी मिल रहा है पर चूँकि बीज बोतल में बंद थे इससे उन्हें वह ओषजन (Oxygen) न मिल सका जो उन्हें हवा के द्वारा मिल जाता। इससे यहाँ ओषजन के अभाव से बीजों में से अंकुर न निकल सके। अब एक तीसरा उदाहरण और लीजिए। रेतीली मिट्टी भरे दो घड़े लीजिए और उन दोनों में मटर के बीज बो दीजिए। इस घड़े को तो ६०° डिगरी फैरेनहाइट की गर्मी में रक्खें और दूसरे

को पानी जमने के कुछ डिगरी ऊपर रखें। पहली दशा में तो शीघ्र अंकुर फूटने लगेंगे क्योंकि वहाँ सभी अवस्थायें उपस्थित हैं पर दूसरे में ज़रा भी अंकुर न फूटेंगे। इन दोनों में यहाँ केवल गर्मी का अंतर है। जहाँ उचित मात्रा में ताप नहीं पहुँच सकता वहाँ के बीजों से अंकुर नहीं फूट सकता।

ऊपर हमने ऐसे तीन सरल उदाहरण दिये हैं जिनसे यह मालूम होता है कि पौधों के उत्पन्न करने के अनेक कारणों में से एक के अभाव से उनकी उत्पत्ति कैसे रुक जाती है। इसी प्रकार हमें ध्यान में रखना चाहिये कि पौधों के चारों ओर की अवस्थाओं में कई ऐसी बातें हैं जिनमें से किसी भी एक के अभाव से अन्य बातों के होते हुए भी पौधों की उत्पत्ति में रुकावट पहुँचती है। ऊपर के उदाहरण तो ऐसे थे जिनमें एक अवस्था का बिल्कुल अभाव बतलाया गया था। पर यदि किसी पौधे के चारों ओर उसकी उत्पत्ति के लिए सारी अवस्थायें भी मौजूद हों और उनमें से कोई भी एक ज़रूरत से कम मात्रा में हो तो फिर और दूसरी अवस्थाओं में चाहे कितनी उन्नति की जावे तो भी केवल एक ही अवस्था के अधूरे-पन से पौधा न लग पावेगा। पौधा तो तभी फूल-फल सकेगा जब कि पौधे की उत्पत्ति तथा उसके जीवन-काल में उसके चारों तरफ़ की सभी अवस्थायें लगातार उचित उचित परिमाण में हों।

पर ऐसा समय बहुत ही कम आता है कि किसी भी पौधे की सभी लाभकारी अवस्थायें उसके चारों तरफ़ उचित मात्रा में उपस्थित हों। संयुक्त प्रान्त में बिना आबपाशी वाले खेतों में गेहूँ की औसत उपज प्रति एकड़ बारह मन और आबपाशी वाले खेतों में पंद्रह मन है। इससे यह सिद्ध होता है कि बिना आबपाशी वाले खेतों में किसी अवस्था में पानी के अभाव से उपज में कुछ कमी हो गई। पता लगाने से मालूम हुआ है कि एक एक एकड़ ज़मीन में पचहत्तर मन गेहूँ तक पैदा हुआ है। इससे जहाँ कहीं पचहत्तर मन से कम

उपज होती हो वहाँ यही समझना चाहिए कि किसी बात में ज़रूर कमी रह गई है। यदि यह कमी आबहवा की वजह से है तो किसान अपनी उपज को बढ़ाने का प्रयत्न नहीं कर सकता क्योंकि आबहवा पर उसका अधिकार नहीं है। अगर वह कमी किसी ऐसी बात में रह गई हो जो मनुष्य के अधिकार में है तो ऐसी अवस्था में किसान उस कमी को पूरी करके अपनी उपज बढ़ा सकता है। यहाँ कृषिकला का एक दूसरा पहलू हमें दिखाई पड़ा अर्थात् किसान कुछ बाधाओं को दूर कर सकता है जिनसे उसकी खेती में रुकावट पहुँचती है। इस कथन के समर्थन में कुछ उदाहरण लीजिए। गरमी के दिनों में कपास के पौधे और उसके चारों तरफ़ की अवस्थाओं में क्या उथल-पुथल होती है सो देखिये। दिन में पत्तियों द्वारा जो सूर्य्य-किरणों की शक्ति खींची जाती है उसी शक्ति की सहायता से वनस्पति भोजन तैयार होता है। रात में यह नहीं हो सकता। इससे उस पौधे ने पहले से जो भोजन संचित कर रक्खा है केवल उसी के सहारे वह पौधा बढ़ सकेगा। इसलिये रात को उस पौधे की बढ़ती में रुकावट का कारण प्रकाश की कमी हो गई। यद्यपि ऐसी अवस्था की कल्पना भारत जैसे देश में नहीं की जा सकती पर तो भी प्रकाश के न रहने से पौधे शीघ्र ही मर जावेंगे। प्रातःकाल सूर्य्योदय होते ही स्टोमेटा (Stomata) के ज़रिये कार्बन दि अक्षेत (Carbon dioxide) आने लगता है और वनस्पति भोजन तैयार होने लगता है। पर जैसे जैसे सूर्य्य ऊपर चढ़ता जाता है वैसे वैसे गरमी बढ़ती जाती है। इससे स्टोमेटा (Stomata) के ज़रिये पानी सूखने लगता है। जिस परिमाण में पौधों की जड़ें पानी पीती जाती हैं इससे भी अधिक परिमाण में वह सूखने लगता है। पानी की इस हानि को रोकने के लिए स्टोमेटा (Stomata) बंद हो जाते हैं और इससे ओषजन (Oxygen) की खपत बंद हो जाती है, जिसका नतीजा यह होता है कि वनस्पति भोजन के बनने में फिर बाधा पहुँचती

है। जब संध्या होने लगती है तो स्टोमेटा फिर से खुल जाते हैं और जब तक फिर अँधेरा नहीं हो जाता तब तक वनस्पति भोजन तैयार होता रहता है।

ये पौधों की बढ़ती में रुकावट डालने वाली कुछ ऐसी अवस्थाओं के उदाहरण हैं, जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं रहता। केवल ये ही अवस्थायें नहीं हैं जो इस तरह से काम करती रहती हैं। कुछ ऐसी भी अवस्थायें साथ में मौजूद हैं जिनपर मनुष्य का अधिकार है। ऊपर के उदाहरण में चौबीस घंटे के भीतर किसी एक समय में भूमि के जलकणों के कारण पौधों की बाढ़ में रुकावट पहुँचती है। पर हमें यह मालूम है कि किसी हद तक भूमि के इन जलकणों पर मनुष्य का अधिकार हो सकता है। बहुधा मिट्टी में कुछ वनस्पति भोजन मिला देने से उपज बढ़ जाती है। इस अवस्था में उपज उस वनस्पति भोजन की मात्रा पर, चाहे वह नोषजन (Nitrogen) हो या स्फुरस (Phosphorus) हो या चाहे कुछ और हो, निर्भर रहता है। इससे प्रत्येक सफल किसान का यह कर्तव्य है कि जिन जिन कारणों से पौधों की बाढ़ में रुकावट पैदा होती है उन सब का ज्ञान प्राप्त करले और उनकी पूर्ति करने का प्रयत्न करे।

ऊपर के उदाहरण में दिन में सूर्य्य के ऊपर चढ़ने में जो पौधों की बाढ़ में बाधा पहुँचती है वह भूमि के जलकणों के सूख जाने से होती है। गेहूँ के दो खेतों को, जिनमें से एक में तो आबपाशी हुई हो और एक में न हुई हो, लीजिए। जब हम भूमि के जलकणों के प्रभाव का पता लगा लेंगे तो हमें मालूम होगा कि आबपाशी से वे भूमि-कण जो पौधों की बाढ़ में रुकावट डालते थे, हटकर दूर हो जाते हैं। इससे नतीजा यही होता है कि वहाँ की फ़सल खूब तैयार होती है। यहाँ उस रुकावट का थोड़ी देर तक ही असर रहेगा और उसके दूर होते ही अच्छी फ़सल निकल आवेगी।

अब हम गेहूँ की जगह नील की खेती का उदाहरण लेते हैं और यह मान लेते हैं कि उसके खेत में खूब पानी भरा हुआ है। यहाँ पानी भरे रहने के कारण नीची सतहों के भूमि की कणों के बीच की हवा कम हो जाती है और ओषजन (Oxygen) की खपत कम हो जाती है, जिसकी नील की फ़सल को बड़ी ज़रूरत होती है। यहाँ हवा की कमी ही पौधों की बाढ़ के रुकावट का कारण हुई और जब तक वह हद से ज्यादा पानी अलग न कर दिया जावे तब तक फ़सल कभी तैयार न होगी। डन्डा सड़ कर गिर जावेगा। उस फ़सल की मृत्यु के आने के पहले अगर उस खेत में हवा का प्रवेश करा दिया जावे तो पौधा ठीक हो जावेगा। और अगर न कराया जावे तो वह कमज़ोर ही रहेगा या मर ही जावेगा। इस प्रकार पौधों से और उसके चारों तरफ़ की अवस्थाओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। उन अवस्थाओं के हेर-फेर होने से वे पौधे मर जावें या कमज़ोर हो जावें तो आश्चर्य्य की बात नहीं। इस प्रकार उन अवस्थाओं के उलट फेर को और उसके बाद फ़सल के बाहरी रूप को देखकर हम यह कह सकते हैं कि फ़सल कमज़ोर है या सड़ गई।

ऊपर हमने जितने उदाहरण दिये हैं उन सब से यह पता लग जाता है कि फ़सल के स्वास्थ्य की दशा या उसके रोग की दशा के रूप में अधिक अन्तर नहीं होता। इसीसे किसान को चाहिए कि वह सदैव फ़सल में थोड़ा अंतर आते ही उसकी वास्तविक दशा को समझ ले और शीघ्र उपाय करके उसे अधिक ख़राब होने से बचाये। जिस प्रकार से मनुष्य के शरीर में रोग की दशा बात, पित्त, कफ़ तीनों में से किसी एक के बढ़ने या घटने से प्रकट होती है उसी प्रकार भूमि के पौधों के लिए लाभकारी किसी भी तत्व के दूसरे लाभकारी तत्वों की अपेक्षा घट जाने से या बढ़ जाने से उसमें की फ़सल के लिए रोग की दशा उत्पन्न हो जाती है।

ये बीमारियाँ जिनका अभी वर्णन हो चुका है, जीव वैज्ञानिक (Physiological) हैं। यानी भूमि के भीतर के तत्वों के समुचित रूप से कार्य्य न करने से होती हैं। इसके सिवा दूसरे प्रकार की बीमारियाँ भी होती हैं। पौधों पर कई प्रकार के कीड़ों (fungi) का हमला होता है जो उसके भीतर प्रवेश कर या पत्तों में बैठकर उसे सत्यानाश कर देते हैं। यहाँ अब हम वनस्पति और उसके चारों तरफ़ की एक दूसरी अवस्था की अर्थात् जन्तु जगत के संबंध की चर्चा करेंगे। जब फ़सल पर टिड्डी आदि का हमला होता है तब तो उन दोनों पदार्थों--फ़सल और टिड्डी—में बड़ा भारी झगड़ा होता है और टिड्डा आदि पतंगों को वहाँ से हटाये बिना काम नहीं चलता। पर दूसरी अवस्थाओं में—ख़ासकर जब फ़सल पर कीड़ों (fungi) से पैदा हुई बीमारी का धावा होता है—तो एक साधारण बात से ही यह हल हो जाता है कि दोनों में से कौन जीतेगा। गिरुई (wheat rust) इस बात का अच्छा उदाहरण है। यदि खेत ऐसा हुआ कि उसमें पानी भर जाता है, तो उस खेत की भीतरी हवा कम हो जावेगी। हवा के कम हो जाने से नोषजन (Nitrogen) भी कम हो जावेगा। नोषजन (Nitrogen) के कम हों जाने से पौधे कमज़ोर हो जावेंगे और वे कीड़ों (fungi) के हमले को सहन न कर सकेंगे। इससे पौधों और कीड़ों (fungi) में जो मज़बूत होगा वही एक दूसरे को मार देगा। यद्यपि पौधे टिड्डी-दल से लड़कर पार नहीं पा सकते, पर कुछ ऐसी बीमारियाँ फुंगी (fungi) के समान होती हैं जिन्हें मज़बूत पौधे परास्त कर देते हैं। उस समय यदि पौधों पर इनका हमला हुआ तो दवा यह न होगी कि उन बीमारियों को दूर कर दिया जावे बल्कि उचित तो यही है कि उन पौधों को इतना मज़बूत बना दिया जावे कि जिससे वे इन छोटी छोटी बीमारियों पर विजय पा लें।

हम अब तक खेती के काम की ओर पूरी तरह दृष्टिपात करते रहे हैं। हमें अब यह मालूम हो चुका है कि पौधों के चारों ओर की अवस्थाओं में से प्रत्येक का एक एक दर्जा होता है और यह भी मालूम हो चुका है कि हर एक जाति के पौधों के बढ़ने के लिए इन सब अवस्थाओं का एक ख़ास संग्रह होता है जिसको सर्वोत्तम अवस्था (Optimum) कहते हैं। हमने यह भी सीख लिया है कि इन्हीं अवस्थाओं के अनुसार फ़सल का चुनाव करना चाहिये। हमने यह भी जान लिया है कि जो अवस्थाएं हमारे वश की हैं उन्हें इस तरह अपने काम में लावें कि उनसे अधिक से अधिक फ़ायदा हो सके। हम यह भी देख चुके हैं कि पौधों के चारों ओर की अवस्थाएं किन किन बातों पर निर्भर रहती हैं। इन्हीं बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से सारी किसानी सफल या असफल हो सकती है।

छठवाँ अध्याय

खेती में किसान का कर्तव्य

हम पीछे कह चुके हैं कि आबहवा में समय समय पर और स्थान स्थान पर अन्तर पड़ता रहता है। इस अन्तर को ध्यान में रखना किसान के लिये अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक किसान को यह बात विदित है कि संयुक्त प्रांत में बरसात के शुरू में कपास का बोना ठीक है और अक्तूबर में बोना बिल्कुल व्यर्थ है। इसी प्रकार वह कभी भी अच्छी आबपाशी वाली भूमि में चना, और साधारण रेतीली भूमि में गन्ना न बोवेगा। इस प्रकार पौधों को दो अवस्थाओं का मुकाबला करना पड़ता है। मुख्य अवस्था ऋतु और आबहवा संबंधी है जो आकाश-संबंधी (meteorological) अवस्था पर निर्भर है। दूसरी अवस्था स्थान संबंधी है जो भूमि की आन्तरिक और रसायनिक अवस्था का परिणाम है। इन दोनों अवस्थाओं में विशेष रूप से कोई अंतर नहीं देखा जा सकता तो भी यह अंतर साफ़ प्रकट है। अब पौधों और आबहवा के संबंध का पता लगाकर हम यह पूरा पूरा जानने का प्रयत्न करेंगे कि पौधों की बढ़ती में क्या क्या रुकावटें होती हैं।

हमें अब आबहवा का पूरा अभिप्राय समझ लेना चाहिए। आबहवा का प्रधान गुण परिवर्तन है। वर्षाकाल से शीतकाल में, शीत काल से ग्रीष्म काल में, और फिर ग्रीष्मकाल से वर्षाकाल में सदैव इसी

प्रकार परिवर्तन होता रहता है। ऋतुओं में स्थान स्थान के अनुसार कोई विशेष विभिन्नता नहीं होती। एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने से केवल क्रमागत परिवर्तन होता हुआ मालूम पड़ता है। बंगाल में गंगा के द्वारा पंजाब जाने से मई और जून के महीने में गर्मी क्रमशः कुछ अधिक और हवा में कुछ कुछ सूखापन मालूम पड़ता है और दिसंबर तथा फ़रवरी तक जाड़े में क्रमशः शीत बढ़ती हुई मालूम पड़ती है। पर यह परिवर्तन केवल क्रमशः होता है। इस प्रकार कलकत्ता और लाहौर की आबहवा में अंतर मालूम होने लगता है। पर इन दोनों स्थानों के माध्यमिक स्थानों में—यथा, कानपूर, इलाहाबाद, में—कोई ख़ास परिवर्तन नहीं दिखाई देता। आबहवा की इस एक अवस्था की तुलना अगर हम भूमि के बहुरूपीपन से करें तो यह मालूम होगा कि बहुरूपीपन भूमि का ख़ास गुण है। थोड़ी ही दूर में भूमि की आन्तरिक और रसायनिक परिस्थिति एकदम दूसरी हो जाती है।

यह हम बता चुके हैं कि प्रत्येक पौधे को अच्छी तरह उगने के लिए अनेक अवस्थाओं के सर्वोत्तम मेल (optimum) की ज़रूरत होती है। अवस्थाएँ जैसे जैसे बदलती जाती हैं वैसे वैसे वहाँ के पौधों की बाढ़ कम होती जाती है। अंत में जब हम इस सर्वोत्तम अवस्था (optimum) से बहुत दूर निकल जाते हैं तो वहाँ वह पौधा बिल्कुल पैदा ही नहीं हो सकता। ऊपर इस अवस्था (optimum) के विषय में तथा उसके फ़सल की उपज के संबंध में जो बातें कही गई हैं उन्हें हम वास्तविक रूप से कृषि-संसार में देखते हैं। उदाहरण के लिए गेहूँ की फ़सल लीजिए। पंजाब के पूर्व से गेहूँ की खेती का महत्त्व कम होता है और बंगाल में आकर एकदम ग़ायब हो जाता है। संयुक्त प्रांत में कपास के विषय में भी यही बात देखने में आती है। मथुरा में ख़रीफ़ में कपास एक मुख्य फ़सल है। जैसे जैसे उसके पूर्व की ओर जाने लगते हैं वैसे वैसे वह घटने लगती है और पूर्वी

ज़िलों में आकर वह एकदम ख़तम हो जाती है। यहाँ यह कहने का तात्पर्य्य नहीं कि इन अवस्थाओं में फ़सल के रक़बे पर केवल एक आबहवा का ही असर होता है, पर सारांश यह है कि आबहवा का इस पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है।

अब तक हम ने फ़सल के मुख्य मुख्य प्रकार तथा धान, गेहूँ इत्यादि एक फ़सल को एक मान कर विचार किया है। पर इन फ़सलों के भी छोटे छोटे उपविभाग होते हैं। इन प्रत्येक उपविभागों में प्रत्येक की कुछ विशेषताएँ होती हैं जिन पर ज़मीन और उसके चारों ओर की आबहवाओं का भी असर पड़ता है। और ज़मीन और आबहवा की वे ख़ास अवस्थाएँ जो गेहूँ के उपविभागों पर प्रभाव डालती हैं इन विभागों की सर्वोत्तम दशाएँ (optimum conditions) कही जा सकती हैं। नतीजा इसका यह होता है कि एक ख़ास सीमा (area) के अंदर एक फ़सल हो सकती है। इसी वजह से हम भारतवर्ष में हर फ़सल के लिए एक ख़ास सीमा पाते हैं जहाँ वह फ़सल बहुत अच्छी तरह से पैदा हो सकती है। गेहूँ की सीमाएँ (zones) पंजाब से लेकर बिहार तक हैं जिनमें कि गेहूँ की किसी न किसी क़िस्म के लिए सर्वोत्तम अवस्था (optimum condition) पाई जाती है। इसी तरह चावल के भी उप-विभाग हैं। इस प्रकार फ़सल के प्रत्येक भाग के उप-विभाग होते हैं और प्रत्येक उपविभाग की भिन्न भिन्न सर्वोत्तम (optimum) अवस्थाएँ और उनकी सीमाएँ होती हैं। इस प्रकार किसान को चाहिये कि बुद्धिमानी के साथ फ़सल के उपविभागों को बोने के लिए चुने जैसी कि सर्वोत्तम (optimum) अवस्था उसके खेत में मौजूद हो। पर इस बुद्धिमानी के साथ चुनाव करने पर भी उस फ़सल के लिए रक़बा बढ़ाया नहीं जा सकता। इससे किसान के लिए यह जान लेना परमावश्यक है कि आबहवा से ही यह पता लग सकता है कि कहाँ किस फ़सल की अच्छी उपज हो सकती है। और

व्यवहारिक दृष्टि से आबहवा की सब से अधिक विशेषता यह है कि उस पर मनुष्य का अधिकार नहीं रह सकता। और यही अवस्थाएँ हैं जो एक फ़सल की सीमा नियत कर देतीं हैं, जिसके भीतर कृषि-कर्म चल सकता है।

ज़मीन का उपजाऊपन तथा उसपर मनुष्य का अधिकार

खेती के काम के लिए भूमि में कुछ रसायनिक और यंत्र संबंधी (mechanical) योग्यता की आवश्यकता है। उसकी यंत्रसंबंधी (mechanical) आन्तरिक अवस्था ऐसी हो कि पौधों की जड़ें उसमें सरलता पूर्वक प्रवेश कर सकें, और उसमें स्थिर भाव से मज़बूत जमी रह सकें। उसके भीतर से पानी का आवागमन अधिक स्वतंत्र और शीघ्र न हो जैसे कि रेतीली ज़मीन में होता है। नहीं तो जितनी बार उसमें से पानी निकलता जावेगा उतनी ही बार उसमें से उसीके साथ साथ वनस्पति भोजन बह कर निकल जावेगा। पर साथ ही वह इतनी ठोस भी न हो कि पानी उसमें से बिल्कुल निकल ही न सके। क्योंकि मिट्टी में से होकर जो सदैव ताज़ा पानी और उस पानी के साथ साथ हवा आती रहती है वे दोनों खेती के लिए बहुत आवश्यक हैं। वे उन खनिज पदार्थों और हवा को वनस्पति भोजन बना देते हैं जो उनके संयोग के बिना बेकार पड़े रहते हैं या कभी कभी वनस्पति के लिए हानिकारक हो जाते हैं। ताज़े पानी और हवा का संयोग होना ऐसा है मानो स्वयं प्रकृति ही उस भूमि की जुताई कर रही हो और बिना किसी दूसरी सहायता के ही वे उस मिट्टी को बहुत उपजाऊ बना देते हैं, जिनका कि वे स्वयं निर्माण करते हैं, यदि वह ज़मीन लहर के थपेड़ों से और मूसला-धार जलधारा से बचकर कहीं बनी रही। पर मिट्टी को इस प्रकार

तैयार करने में मनुष्य द्वारा भी बहुत सी कृत्रिम सहायता मिलती है। ज़मीन को जोतकर वह प्रकृति को इस काम में सहायता देता है कि प्रकृति उस मिट्टी को इस योग्य बना दे कि उसमें पौधे उग सकें और उसमें से हवा और पानी सरलता से आ-जा सकें। उसका ज़मीन में खाद डालने का भी यही उद्देश्य रहता है। क्योंकि खाद डालने से खेत के रसायनिक गुण बढ़ जाते हैं। उसमें की मिट्टी हलकी हो जाती है और उसमें पौधों की जड़ें शीघ्र प्रवेश कर सकती हैं। इससे रेतीली ज़मीन कुछ ठोस और मज़बूत हो जाती है तथा उसकी आन्तरिक और रसायनिक अवस्था भी सुधर जाती है।

रसायनिक दृष्टिकोण से ज़मीन में वे जड़ पदार्थ (inorganic substances) अवश्य होने चाहिएँ जो पौधों के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इसमें तथा मिट्टी के रसायनिक गुणों में थोड़े से परिश्रम से मनुष्य बहुत उन्नति कर सकता है। यथा बंजर ज़मीन में भी कुछ आवश्यक पदार्थ डाल कर उसे उपजाऊ बना सकता है।

इन सब उपायों से ज़मीन का उपजाऊपन मनुष्य के वश में आ सकता है। वह उस ज़मीन की प्रकृति के अनुसार उसमें इस प्रकार अनाज बो सकता है जिसकी फ़सल कट जाने के बाद उसकी दूसरी फ़सल के लिए—जिसे कि वह अब बोना चाहता है—वह ज़मीन आसानी से तैयार की जा सके। वह अपनी ज़मीन में से बेकार चीज़ें निकाल कर या उसमें आवश्यक चीज़ें और अच्छी मिट्टी मिला कर उसकी प्रकृति को सदैव के लिए बदल सकता है।

मनुष्य का भूमि के जलकणों पर भी बड़ा अधिकार रहता है। इससे इसका भी विचार कर लेना आवश्यक है। इस अध्याय में हम अभी तक जितनी बातें कह चुके हैं उन सब का नाम काश्तकारी या किसानी है।

पौधों की जड़ों का उनके ऊपर के बाल या रेशेद्वारा भूमि के टुकड़ों और उनके चारों तरफ़ के पानी से संयोग होता है। इन्हीं बालों या रेशोंद्वारा भूमि के भीतर का पानी और उनमें के द्रव (Soluble) पदार्थ और नमक उन जड़ों के भीतर पहुँचते हैं। भूमि के भीतर का पानी दौड़ दौड़ कर उसी ओर जाता है जिधर कि पौधों की बालवाली जड़ें होती हैं। जितने अधिक परिमाण में उस मिट्टी में पानी होगा उतनी ही सरलता से उसमें की जड़ों में पानी पहुँचेगा। ये जड़ें सदैव श्वास लेती रहती हैं और उनके द्वारा कई मिश्रित आर्गेनिक (Organic substance) पदार्थों में ओषजन (Oxygen) के द्वारा आपस में घर्षण होता रहता है। बहुधा यह ओषजन (Oxygen) उस पानी में मिला हुआ पाया जाता है जिसे कि जड़ें पीती हैं और भूमि के भीतर जिस परिमाण में पानी का हवा से सम्पर्क रहेगा उसी पर इस ओषजन (Oxygen) का परिमाण निर्भर रहेगा। इसलिए उस मिट्टी के भीतर बहुत पानी की आवश्यकता है। पर बहुत अधिक भी न हो; नहीं तो भूमि के भीतर जो हवा है उसमें से ओषजन (Oxygen) की मात्रा कम हो जावेगी जिससे पौधों की जड़ों को साँस लेने में रुकावट पड़ेगी। यहाँ तक कि पौधे ख़राब होने लगेंगे। यद्यपि पौधे पौधे में अंतर होता है पर बहुधा पौधों के लिए अधिक पानी वाली मिट्टी की आवश्यकता होती है जिससे पानी दौड़ दौड़ कर पौधों की जड़ों तक पहुँच सके।

यह किसानी का एक मुख्य कार्य्य है। यद्यपि यही सबों में मुख्य कार्य्य नहीं है और इस कार्य्य को करने की प्रणाली उस स्थान की आबहवा पर निर्भर रहेगी। कहीं पानी अधिक और कहीं कम बरसता है। भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न उपायों से काम लेना पड़ता है। किसानी का कोई ख़ास दर्जा नहीं मान लिया जा सकता और इस बात का हमें अनुभव करना चाहिए। गर्म देशों में अभी हाल ही में खेती

के वैज्ञानिक उपायों का आविष्कार हुआ है, पर हमारे हाथों में जो किताबें आती हैं वे ठंढे देश के अनुभवों के आधार पर लिखी गई हैं। ये ऐसे देश हैं जहाँ गर्मी कम होती है और साधारण पानी गिरता है और यहाँ भाप बनकर बहुत कम पानी उड़ जाया करता है। वहाँ मुख्य सवाल आबपाशी करने का नहीं परंतु ज़रूरत से ज़्यादा पानी को खींच कर निकाल देने का रहता है। इसके विपरीत भारत के किसी किसी भागों में पानी कम गिरता है और गर्मी ज्यादा पड़ती है। यहाँ पानी बहुत ज़्यादा भाप बन अधिक परिमाण में उड़ जाता है। इससे यहाँ तो यह सवाल रहता है कि पानी को कैसे इकट्ठा करें और इस थोड़े से पानी से अधिक लाभ कैसे उठावें।

अब हम यह विचार करेंगे कि किसानी के सर्व साधारण कार्य्य अर्थात् जुताई से पौधों की बढ़ती में कौन सा लाभ होता है। जुताई के पहले मिट्टी के बहुत से छोटे-मोटे टुकड़े होते हैं जो आपस में मिले रहते हैं। इन सब मिट्टी के टुकड़ों में पानी फैला रहता है। यह पानी ऊपर की मिट्टी तक पहुँचता रहता है जिसका संसर्ग हवा से रहता है। ऊपरी सतह का वह पानी सूखने लगता है और नीचे से फिर ऊपर की ओर दूसरा पानी खिंचने लगता है। सूखे वायुमंडल में नम वायु-मंडल की अपेक्षा अधिक परिमाण में भाप बनेगी और रात की अपेक्षा दिन में अधिक भाप बनेगी क्योंकि दिन में वायुमंडल में जलकणों का कम परिमाण होता है। पर रात को इसकी क्षति की कुछ कुछ पूर्ति होती जावेगी। अंत में वह अवस्था पहुँच जावेगी जब कि यह क्षति पूरी न हो पावेगी। मिट्टी के पानी की मात्रा बहुत कम हो जावेगी, ज़मीन की ऊपरी सतह बिल्कुल सूखी हो जावेगी। और ऊपर-नीचे पानी का संबंध टूट जावेगा। पर जब नीचे की ज़मीन का वायुमंडल से संबंध टूट जावेगा तो फिर उसके अंदर का पानी भाप बन कर नहीं, उड़ेगा। पर ऐसा होते होते कभी कभी यहाँ तक हो जाता है कि मिट्टी की तीनों तहें सूख

जाती हैं और जब तक पौधों की जड़ें बहुत नीचे न जा सकेंगी तब तक उन्हें पानी न मिल सकेगा।

ऊपर हमने जिस तरीक़े का वर्णन किया है उसके दो रहस्य हैं। एक तो यह कि जब ज़मीन की ऊपरी सतह से पानी भाप बनकर उड़ जाता है तो नीचे की सतहों का पानी ऊपर खिंचता आता है। दूसरी यह कि ज़मीन की ऊपरी सतह और नीचे की सतहों के पानी में एक श्रेणी बद्ध संबंध है। जब हम उस श्रेणी को तोड़ देते हैं तो जहाँ तक मिट्टी उथल-पुथल हो जाती है वह सूखी पड़ जाती है तथा फिर नीची सतहों का पानी उस पर चढ़ नहीं पाता। वह श्रेणी इस प्रकार गोड़ने से टूट जाती है। अगर यह गोड़ने का काम ठीक समय में हो गया तो नीची सतहों में काफ़ी पानी बचाया जा सकता है। इस अवस्था में यद्यपि ऊपरी सतह सूखी मालूम होगी तो भी उन पौधों को काफ़ी पानी मिल जावेगा जिनकी जड़ें नीची सतह तक चली जाती हैं, जहाँ पानी रहता है।

किसान का, विशेषकर भारत ऐसे देश में जहाँ कि कम वर्षा होती है, यही पहला काम है। यदि यह काम अच्छी तरह से और उचित अवस्था में किया गया तो उससे एक बड़ा भारी फ़ायदा होगा। पहले भूमि के जलकण जितने व्यर्थ नष्ट हो जाते थे उतने न हो पावेंगे। जुताई से पौधों के लिए भोजन अवश्य ही तैयार हो जाता है।

जुताई का यह असर होता है। उसका असर और भी बढ़ सकता है यदि हल से उलटे हुए ढेले बिल्कुल बारीक हो जावें। मिट्टी की यह बुकनी उसके लिए एक कम्बल का काम देती है क्योंकि वह वायु-मंडल को नीचे के जलयुक्त सतहों से मिलने नहीं देती। जब एक बार फ़सल बो दी गई तो फिर हल का बहुत कम उपयोग किया जाता है। उसे तो तभी काम में लाते हैं जब एक फ़सल के बाद और दूसरी फ़सल के पहले खेत ख़ाली रहता है। तब तो उससे बहुत काम लिए

जाते हैं। पहले तो वह ज़मीन को खोद कर उसे ऊँची-नीची कर देता है। जिसमें पानी का बहाव ज़रा मुश्किल से हो पर पहले की अपेक्षा उसमें कुछ सरलता से पानी प्रवेश कर सकता है। इसके बाद जब बरसात का पानी उस खेत की मिट्टी को मिलाकर एक कर देता है तब हल से वह मिट्टी फिर खोद दी जाती है जिससे मिट्टी बिल्कुल महीन हो जाती है। मिट्टी को महीन करने में पाटा या पटेला चला देने से और भी सहायता मिलती है। इस क्रिया का काम सिर्फ़ भूमि के जलकणों पर कब्ज़ा करना ही नहीं है बल्कि ज़मीन खुल जाने से उसके टुकड़ों का संयोग हवा और सूर्य्य की रोशनी से हो जाता है जिसके प्रभाव से रसायनिक क्रियायें होती हैं। ज़मीन को कीटाणु (bacteria) के पैदा होने का स्थान भी समझ लेना चाहिए। जब ज़मीन में उचित परिमाण में पानी और हवा का आवागमन रहता है तो कीटाणु (bacteria) उचित रूप से वहाँ पैदा होते हैं। और ज़मीन के इस हवा और पानी का जुताई से संबंध रहता है। इससे कीटाणु (bacteria) जगत का ज़मीन की जुताई से घनिष्ट संबंध है।

जब फ़सल खड़ी रहती है तो उसमें आसानी से हल का उपयोग नहीं किया जा सकता। इससे उस समय में दूसरे औज़ारों से काम लेते हैं। पर दोनों प्रकार के औज़ारों के उपयोग का एक ही उद्देश्य रहता है अर्थात् मिट्टी को महीन करना और पौधों की जड़ों को पानी पहुँचाना।

सातवाँ अध्याय

हिंदुस्तान की ज़मीनें

पिछले अध्याय में हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि कृषि संबंधी जरूरी समस्याओं पर मनुष्य का अधिकार कहाँ तक हो सकता है। अब हम यह विचार करेंगे कि भारत में किसानों को उन पर अधिकार करने में कहाँ तक सफलता मिली है। उस अधिकार के परिमाण पर विचार करने से पहले यहाँ की भूमि, परिश्रम और मूल-धन की अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यंत आवश्यक है।

भारत में मुख्य मुख्य चार प्रकार की ज़मीनें हैं। पहली लाल जमीन होती है। दूसरी काली-कपास जमीन या रेगर ज़मीन कहलाती है। तीसरी गंगवार (alluvial) जमीन कहलाती है क्योंकि यह मिट्टी बहती हुई नदी की धारा के साथ आकर किसी स्थान में जम जाती है। और चौथी लैटराइट (laterite) ज़मीन कहलाती है।

लाल जमीन (crystaline soil) का आगे चलकर जो वर्णन किया जायगा उसे छोड़ विन्ध्या के नीचे के सारे प्रायद्वीप में पाई जाती है। यह ज़मीन सारे मद्रास प्रांत में मैसूर रियासत में और बंबई के दक्षिणोत्तर में पाई जाती है। यह हैदराबाद के पूर्वी हिस्सों में भी बढ़ चली है तथा मध्यप्रदेश से उड़ीसा प्रांत, छोटा नागपूर और बंगाल के दक्षिण तक फैली है। यह बुन्देलखंड और राजपूताने की कुछ

रियासतों में भी पाई जाती है। इसका रंग गाढ़ा लाल, भूरा या काला होता है। इस ज़मीन की गहराई और उपजाऊपन भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न होता हैं। और इसका तत्व भी भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। आम तौर से यह ज़मीन ऊँची जगहों में कम उपजाऊ, कम गहरी, पथरीली और हलके लाल रंग की होती है। नीचे हिस्सों में अधिक उपजाऊ, गहरी और गहरे काले रंग की होती है। जहाँ इस ज़मीन की गहराई काफ़ी होती है वहाँ पर पानी अगर काफ़ी परिमाण में मिल जावे तो ख़ूब अच्छी फ़सल पैदा हो सकती है। बहुधा ऐसी ज़मीन में नोषजन (Nitrogen) स्फुरिक अम्ल (Phosphoric acid) और ह्यूमस (humus) की कमी होती है। पर पोटाश (Potash) और चूना काफ़ी होता है।

काली कपास की ज़मीन या रेंगर ज़मीन दक्षिण की सारी ऊँची सम भूमि (Tableland) में पाई जाती है। और मद्रास प्रान्त के बिलारी, करनल, कड़ापा, कोयमबटोर और टिनावेली जिलों में फैली हुई है। यह ज़मीन लगभग दो लाख वर्गमील में फैली है और बम्बई प्रान्त के हर एक हिस्सों में, सारे बरार में और मध्य प्रांत तथा हैदराबाद रियासत के पश्चिमी हिस्सों में पाई जाती है। इन सारी जगहों की ज़मीन एक दूसरी जगह से आपस में अपने गुणों और उपजाऊपन में बहुत ही विभिन्न है। पहाड़ी के ऊपर और चढ़ाई में कम उपजाऊ और कम गहरी है। केवल उन्हीं जगहों में यह ज़मीन साधारण तरह से उपजाऊ है जहाँ जहाँ कि वर्षा ख़ूब अच्छी होती है। मैदान और पहाड़ी के बीच ऊँची-नीची ज़मीन में गहरी और गहरे काले रंग की ज़मीन पाई जाती है, जिसकी लगातार ऊपर के बहते हुए पानी से लाई हुई मिट्टी से तरक्क़ी होती रहती है। इस श्रेणी की ज़मीन जो कि घाटियों में पाई जाती है, बहुत गहरी और बहुत उपजाऊ होती है। ज़्यादातर नदी की धारा से मिट्टी लाकर जमाई हुई ज़मीन होती है।

इस ज़मीन का सबसे अच्छा नमूना सूरत और ब्रोच जिले में पाया जाता है। मद्रास की रेगर ज़मीन सारे स्थानों में एक ही साथ लगातार नहीं फैली है।

मद्रास और दक्षिण की दोनों जगहों की ज़मीनों में कुछ समान गुण हैं। रेगर ज़मीन बहुत बढ़िया दानेदार और काली होती है। इसमें चूना (Calcium) और मगनीसियम कर्बनेत (Magnesium carbonate) काफ़ी परिमाण में होते हैं। यह बहुधा गीली और चिकनी होती है। एक अच्छी मूसलाधार वर्षा के थोड़े दिनों बाद ही खेती के लायक़ हो जाती है। गीली ज़मीन सूखने पर सुकड़ जाती है और उसमें बहुत सी दरारें पड़ जाती हैं। उसके काले रंग होने का कारण, जो कि पहले उसमें ह्यूमस (humus) का मिला होना समझा जाता था, असल में उसके कणों में लोहे का मिला रहना है।

पानी के बहाव से बही हुई मिट्टी की ज़मीन (alluvial soils)— भारत में सबसे अधिक पाई जाती है और खेती के लिए सब से अधिक काम की है। प्रायद्वीप के दोनों किनारों में यह ज़मीन कम या ज्यादा चौड़ाई में पाई जाती है ज्यादातर यह ज़मीन गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदी के मुहाने में और उसके आसपास फैली हुई है। इसमें प्रायः नहर की मदद से चावल, गन्ने, आदि की उपज होती है। इसमें स्फुरिक अम्ल पोटास (Phosphoric acid) नोषजन (Nitrogen) व ह्यूमस (humus) बहुत कम तथा चूना और पोटाश (Potash) काफ़ी परिमाण में पाये जाते हैं। यह ज़मीन ब्रह्मदेश में भी पाई जाती है पर भारत में सिंध और गंगा का मैदान ही सबसे बड़ी जगह है जिसमें ऐसी ज़मीन ख़ूब पाई जाती है। यह क्षेत्र सिंधु नदी के कछार से लेकर गंगा के कछार तक फैला हुआ है और इसका क्षेत्रफल तीन लाख वर्गमील है।

इस सिंधु-गंगा के मैदान में सिंध का कुछ हिस्सा, उत्तर राजपूताना, पंजाब का ज्यादा हिस्सा, संयुक्त प्रांत, बिहार, बंगाल और आसाम का आधा भाग आ जाता है जिसका क्षेत्रफल तीन लाख वर्गमील है, जिसकी चौड़ाई पश्चिम में तीन सौ मील से लेकर पूर्व में नव्वे मील तक है। इस ज़मीन की गहराई सोलह सौ फ़ीट से अधिक है और ज्यादातर इसकी मिट्टी हिमालय से आती है।

यों तो देखने में उत्तरी भारत की सारी ज़मीन एक दिखलाई पड़ती है पर असल में उसकी मिट्टी अपनी अपनी जगह के अनुसार एक दूसरे से भिन्न होती है। कहीं तो कुछ रेतीली, कहीं कुछ दुमट (loamy) और कहीं कहीं तो ज़मीन बहुत कड़ी होती है। ऐसी बही हुई गंगा-वार ज़मीन में खेती करने से बहुत फ़ायदा होता है। क्योंकि साधारण पानी से ही उसकी उपज-शक्ति बहुत अच्छी हो जाती है, इसमें नोषजन तो कम होता है परंतु पोटाश (Potash) और स्फुरिक अम्ल (Phosphoric acid) काफ़ी होते हैं। चूना तो इसमें बेठिकाने होता है। बिहार के तिरहुत ज़िले में तो काफ़ी चूना होता है पर उसी के पड़ोस के गावों के खेतों में बहुत कम होता है।

लेटराइट भूमि (laterite soil) भारत तथा कुछ दूसरे देशों में एक विशेष प्रकार की ज़मीन होती है। यह ज़मीन मध्यभारत की पहाड़ी के शिरों पर और उच्च समभूमि पर और प्रायद्वीप के पूर्वी और पश्चिमी घाटों में पाई जाती है। यह आसाम तथा ब्रह्मदेश में भी पाई जाती है। यह ज़मीन चिकनी मिट्टी की एक चट्टान है जिसमें पानी प्रवेश कर सकता है। वह ऐसे देशों में पाई जाती है जो गर्म हों और जहाँ बहुत पानी बरसता हो। इन चट्टानों और उसकी मिट्टी में खार शैलेत (silicates of alkalies) बहुत कम होता है। ऐसी ज़मीन जो ऊँची जगहों में पाई जाती है, बहुत पतली और पथरीली होती है और उसमें पानी बहुत कम ठहर सकता है। इससे खेती के लिए यह ज्यादा

काम में नहीं आती। घाटी में और नीचे की सतह में जो ज़मीन पाई जाती है वह काले रंग की होती है और उसमें दुमट (loam) अधिक पाई जाती है। इसमें पानी देर तक ठहर सकता है और अच्छी खेती होती है। बहुधा इन ज़मीनों में पोटाश (potash) स्फुरिक अम्ल (phosphoric acid) और चूना बहुत कम होता है। पर ह्यूमस (humus) भारत की किसी दूसरी ज़मीन की अपेक्षा इसमें सबसे अधिक होता है। इस ज़मीन में तेज़ाब ज़्यादा होता है। खाद के उपयोग करने के सिवा इस ज़मीन को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए इसके तेज़ाब को कम करना बहुत ज़रूरी है।

इन चारों प्रकार की ज़मीनों में से, जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है, प्रत्येक में तीन प्रकार की मिट्टी होती है—पहली चिकनी मिट्टी, दूसरी मटियार और तीसरी बलुई मिट्टी। प्रत्येक ज़मीन में अनेकों परमाणु होते हैं। भिन्न भिन्न ज़मीनों में इन परमाणुओं का आकार भिन्न भिन्न होता है। ज़मीन का चिकनी, बलुई आदि मिट्टियों में विभाजित होना इन्हीं परमाणुओं के आकार पर निर्भर है। जिस ज़मीन में परमाणु का आकार बहुत छोटा होता है, परमाणु एक दूसरे से सटे हुए रहते हैं, और इनमें से किसी भी दो परमाणुओं के बीच में बहुत कम स्थान होता है, तो ऐसी ज़मीन को चिकनी मिट्टी कहते हैं।* इन ज़मीनों में पानी बहुत मुश्किल से प्रवेश करता है और बहुधा उसके ऊपर ही रह जाता है। पर जो कुछ भी पानी इसके भीतर प्रवेश कर जाता है वह देर तक उसके भीतर बना रहता है। ये ज़मीनें अधिकतर बिहार और बंगाल में पाई जाती हैं। बहुधा इन पर धान और जूट की खेती अच्छी तरह हो सकती है।

जब मिट्टी के परमाणु काफ़ी बड़े होते हैं और किसी भी दो परमाणुओं के बीच की जगह काफ़ी होती है तो उस मिट्टी को बलुई या रेतीली

* चिकनी मिट्टी को संयुक्तप्रांत के पूर्वी भाग में चपई कहते हैं।

कहते हैं। उसमें से पानी बड़ी सरलता से पार कर उनके नीचे की मिट्टी में पहुँच जाता है। नतीजा यह होता है कि इस रेतीली ज़मीन में पानी अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। और उसमें बराबर सींचने की ज़रूरत होती है। ऐसी ज़मीन में बहुत कम पैदावार होती है। उसमें बाजरा, ज्वार आदि साधारण अनाज ही बोये जा सकते हैं। दुमट या मटियारी ज़मीन उसे कहते हैं जिसके मिट्टी के परमाणु न तो चिकनी मिट्टी के परमाणुओं के समान छोटे होते हैं और न बलुई मिट्टी के परमाणुओं के बराबर बड़े होते हैं। किसान लोग इस ज़मीन को सब ज़मीनों से अच्छी समझते हैं क्योंकि इसमें लगभग हर प्रकार की फ़सल पैदा हो सकती है। गेहूँ, कपास. जौ, गन्ना आदि के लिए यह ज़मीन ख़ास तौर से उपयोगी होती है।

अर्थशास्त्र के विद्वान् ज़मीन शब्द में ख़ास ज़मीन के सिवा आबपाशी, आबहवा, प्रकाश आदि जिनका असर खेती के ऊपर पड़ता है, इनको भी शामिल करते हैं। इससे अब हम भारतवर्ष में खेतों में पानी मिलने के उपायों का वर्णन करेंगे। हमारे देश में खेतों को पानी के लिए सबसे ज्यादा भरोसा वर्षा का रहता है। वर्षा की ही कमी या अधिकता के कारण उपज अच्छी या ख़राब होती है। साथ में जो नक़शा दिया जा रहा है उससे पता चल जाता है कि कहाँ कहाँ कितना कितना पानी बरसता है, और साथ ही उससे यह भी पता लग जाता है कि नहरों से कहाँ कहाँ आबपाशी होती है। इस नक़शे से यह साफ़ प्रकट होता है कि इस देश में एक स्थान की वर्षा दूसरे स्थान से बिल्कुल ही दूसरी है। जिस जगह में तीस इंच से अधिक पानी गिरता है उसके विषय में यह कहा जा सकता है, यदि वहाँ उचित समयों में या उचित स्थानों में पानी गिरा तो फिर वहाँ कृत्रिम उपायों से आबपाशी करने की ज़रूरत न होगी। पर जहाँ तीस और बीस

इंच के भीतर पानी गिरता है वहाँ वहाँ कृत्रिम उपायों से आबपाशी करके पानी की जरूरत पूरी करनी होगी। जहाँ बीस इंच से भी कम पानी गिरता है वहाँ यदि वास्तव में हमें खेती करनी है तो एकदम से कृत्रिम उपायों से आबपाशी करनी होगी। कुछ ऐसी भी जगहें हैं जैसे पश्चिमोत्तर के सूखे स्थान और बिलोचिस्तान जहाँ वर्षा आठ और दस इंच के बीच होती है। यहाँ तो खेती करने के लिए कृत्रिम उपायों का सहारा लेना अत्यंत ही आवश्यक है। पूर्वी राजपूताना, मध्यभारत, गुजरात और दक्खिन ऐसी भी कुछ जगहें हैं जिनमें वर्षा कम होती है और वहाँ खेती प्रकृतिदेवी की कृपा पर ही निर्भर रहती है। वर्षा की कमी कृत्रिम उपायों द्वारा ही दूर की जा सकती है। भारत में कृत्रिम उपायों द्वारा आबपाशी निम्नलिखित चार उपायों से होती है:—

(१) सदैव बहती हुई नदी की धारा को बाँध से रोक कर उसके पानी को उस जमीन में ले जाते हैं जहाँ कि आबपाशी करनी होती है। इसी सिद्धांत पर उत्तरी भारत की नहरें बनाई गई हैं।

(२) बिना बाँध बनाये नदी के पानी को नहरों के द्वारा सीधा ले जाकर भी काम निकालते हैं। ऐसी नहरों में तब तक पानी नहीं आता जब तक उस नदी का पानी बाढ़ के कारण या उत्तरी देश में बर्फ़ के पिघलने के कारण काफ़ी ऊँची सतह तक नहीं आ जाता। इससे ऐसी नहरों को बाढ़-वाली नहर कहते हैं।

(३) घाटी में बरसात के दिनों में बाँध बनाकर पानी भर लेते हैं फिर उसी पानी को नहरों के द्वारा खेतों में पहुँचाते हैं।

(४) पम्प या मोट द्वारा कुंए से पानी निकाल कर आबपाशी करते हैं।

चित्र नं० १

तादाद ज़मीन जिसकी आबपाशी हुई

प्रान्त	नहर-सरकारी से	नहर ग़ैर-सरकारी से	तालाब से	कुँए से	दूसरे ज़रिये से	आबपाशी का कुल रक़बा
	एकड़	एकड़	एकड़	एकड़	एकड़	एकड़
मद्रास	३६,१६,९८८	२,४४,९८३	३२,९५,१७५	१४,९१,२३५	६,००,५६५	९२,४८,९४६
बम्बई	३०,८१,३२४	६६,९९४	१,३६,५०३	५,७२,२०४	१,५३,९०६	४०,११,९३१
बंगाल	१,४२,४९५	१,८७,२४६	४,७४,७४८	८८,९१५	४,७४,७०४	१३,६८,१०८
संयुक्तप्रान्त	२२,२१,३९९	२६,९४९	६७,६७९	४९,७३,०१६	२४,१५,८६८	९७,६४,९११
पंजाब	९४,९९,१४१	४,७१,६७४	२०,२९३	३७,१४,९४०	१,१३,२३३	१,३८,१९,२८१
ब्रह्मदेश	६,३७,०३४	२,७८,८९४	१,८१,४८२	१९,१५५	३,१०,५६२	१४,२७,१२७

बिहार-उड़ीसा	६,७२,०१०	८,७०,६३५	१६,१५,३८८	५,९०,०३६	१२,७५,३७९	५२,२३,४४८
मध्यप्रदेश-बरार	(अ)	१०,८४,०४१	(अ)	१,००,९१५	५१,८१६	१२,३६,७७२
आसाम	१२०	१,९३,९०७	७१०	...	२,३९,१९०	४,३३,९२७
पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत	३,६८,०५८	४,०१,६७९	...	८५,३८१	४१,७६३	८,९६,८८१
अजमेर मारवाड़ा और मानपुर परगना	...	...	१५,७०९	६३,७४८	...	७९,४५७
कुर्ग	२,४८८	...	१,३८९	...	...	३,८७७
दिल्ली	३०,८६१	...	५४२	१६,७१२	...	५१,७१५
कुल जोड़	२०५,३१,९१८	३८,२७,००२	५८,०९,६१८	१,१७,२०,२५७	५६,७६,९८६	१,८२,२९,४७३

(अ) ग़ैर-सरकारी नहर के भीतर आ गये।

ऊपर दिये हुए चित्र से यह पता लग जाता है कि किस किस प्रांत में कितने कितने रक़बे की किन किन कृत्रिम उपायों से आबपाशी होती है। आबपाशी किये गये रक़बे में से, जो कि १९२५-२६ में क़रीब क़रीब ४,७६,००,००० एकड़ था। २,४४,००,००० एकड़ नहरों द्वारा, १,१७,००,००० एकड़ कुँए द्वारा, ५८,००,००० एकड़ तालाब द्वारा, और क़रीब क़रीब ५७,००,००० एकड़ अन्य उपायों द्वारा सींचा गया था। इस चित्र में हम यह भी देखते हैं कि १९२५-१९२६ में कुल जितने रक़बे पर खेती की गई थी जो कि क़रीब २७,५१,००,००० एकड़ के होती थी, उसमें से क़रीब ४,७६,००,००० एकड़ की आबपाशी कृत्रिम उपायों से की गई थी। बाक़ी की ज़मीन बिल्कुल वर्षा के भरोसे पड़ी रही। ऊपर का दिया हुआ चित्र केवल ब्रिटिश भारत की दशा बतलाता है। अब हम ज़रा देशी रियासतों की ओर भी ध्यान दें।

रियासतें	खेती का कुल रक़बा	आबपाशी का कुल रक़बा एकड़ में					कुल
		सरकारी नहरों से	ग़ैरसरकारी नहरों से	तालाब से	कुँए से	दूसरे उपायों से	
	एकड़	एकड़	एकड़	एकड़	एकड़	एकड़	एकड़
हैदराबाद	२,९८,०००	४८,०८२	१,०७,८३५	५,८१,२०४	३,०६,२५१	५६,५५०	१०,९९,९२२
मैसूर	८०,००,०००	१,३०,०५२	६,१४५	५,१७,३००	८९,६५०	३,३२,२५१	१०,७६,३९८
बड़ोदा	३०,००,०००	१,१९९	...	४१०	१,३१,३४०	९१	१,३३,०४०
ग्वालियर	५४,००,०००	...	३५,६६८	२२,३१६	१,४६,५२०	२,५२२	२,०७,०२६
काश्मीर	२२,००,०००	९९,१२८	५,५७,४८७	४,४५१	७,७४४	१७,४२७	६,८५,२३७
मद्रास की रियासतें	३३,००,०००	२,७६,९८०	९५,७२४	२०७,४३१	२०,३८०	८,४७,२२०	१४,४७,४३५
मध्यभारत	६०,००,०००	...	११९	२,५८३	५६,७४१	४,९६४	६४,९०७
राजपूताना	९५,००,०००	४४,२२७	६,९९४	५५,४१६	६,१८,५१४	९३,१२१	८,१८,३५२

रियासतें	खेती का कुल रक़बा	आबपाशी का कुल रक़बा एकड़ में					कुल
		सरकारी नहरों से	ग़ैर-सरकारी नहरों से	तालाब से	कुँए से	दूसरे उपायों से	
पंजाब एजेंसी	६८,००,०००	१६,४७,२८२	१,३५,५५८	१७	४,९२,४६९	२२,७८७	२२,९८,३१३
पंजाब की रियासतें	४,००,०००	६,९७३	२०,७१९	३	६९६०	५९,८७६	९४,५३१
बम्बई की रियासतें	२०,००,०००	१७,२३२	२२	...	५५,७५८	१	७३,०१३
संयुक्तप्रांत की रियासतें	१२,००,०००	३३,५४०	४०,६७१	५,८२२	६८,४९८	१५,००६	१,६३,५३७
कुल जोड़	७,७५,००,०००	२३,०३,६९५	१०,०६,९४२	१३,९६,९५३	२०,००,९०५	१४,५२,८१६	८१,६१,३११

इससे अब हमें यह पता लग सकता है कि खेती की सारी ज़मीनों को अगर हम प्रकृति के भरोसे बहुत कम रखना चाहते हैं तो हमें आब-पाशी करने के कृत्रिम उपायों की खूब उन्नति करनी चाहिये। हिमालय की तराई, तराई के पास के ज़िले, पूर्वीय बंगाल, आसाम, दक्षिण ब्रह्मदेश और अरब समुद्र तथा पश्चिमीय घाट के बीच के किनारों के सिवा जहाँ कि वर्षा अधिक होती है और जहाँ कृत्रिम आबपाशी के बिना खेती अच्छी तरह से हो सकती है, बाक़ी जगहों के लिए आबपाशी के कृत्रिम उपायों की उन्नति करने की बड़ी भारी ज़रूरत है।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि भारतवर्ष में २७,५१,००,००० एकड़ ज़मीन पर खेती होती है। यहाँ पर यह कह देना भी उचित होगा कि अभी क़रीब २,१५,१८,७१,६२२ एकड़ ज़मीन ब्रिटिश भारत में और १,६३,०५,३९६ एकड़ ज़मीन देशी रियासतों में ऐसी बेकार पड़ी हुई है जिसमें कि खेती हो सकती है। नीचे दिये हुए नक़्शे से यह पता लग जाता है कि अमुक प्रांत में कितनी ज़मीन बेकार पड़ी हुई है और जो खेती के लायक़ है :—

प्रांत			तादाद ज़मीन एकड़ में
मद्रास	...	...	१,२३,४८,६१८
बम्बई	...	...	६९,५९,८९८
बंगाल	...	...	५८,२४,६६२
संयुक्तप्रांत	...	...	१,०४,९७,४८१
पंजाब	...	...	१,५३,५९,२६५
ब्रह्मदेश	...	...	६,०१,२३,३५२
बिहार और उड़ीसा		...	७०,६०,७७२
मध्य प्रदेश और बरार			१,४७,२४,४७४
आसाम	...	...	१,५८,६४,१५३
पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत		...	२७,२३,५८२

अजमेर, मेरवाड़ा, और मानपुर परगना		३,११,३०१
कुर्ग	... ...	११,६९०
दिल्ली	... ...	६२,३७४
प्रांतों का जोड़		१५,१९,७१,६२२
देशी रियासतें—		
हैदराबाद	... ...	१०,४०,५१८
मैसूर	... ...	६,७०,३४९
बड़ौदा	... ...	८,४१,००४
ग्वालियर	... ...	२५,४९,७०४
काश्मीर	... ...	७,६६,१७२
मद्रास की रियासतें	...	८,६६,०८९
मध्यभारत की रियासतें	...	११,९८,७४३
राजपूताना	... ...	५२,६६,१८६
पंजाब की रियासतें	...	३,३३,९६२
पंजाब एजेंसी रियासतें	...	१८,५४,८४६
बंबई की रियासतें	...	५,५३,०६०
संयुक्तप्रांत की रियासतें	...	३,६२,७६३
देशी रियासतों का जोड़	...	१,६३,०५,३९६
संपूर्ण भारत ...	...	१६,८२,७७,०१८

भारतवर्ष की १६,८२,००,००० एकड़ से भी अधिक ज़मीन के खेती के लायक़ होते हुये भी बेकार रहने का प्रधान कारण आबपाशी के कृत्रिम उपायों की कमी ही है। इसके सिवाय १७,३४,५१,२२६ एकड़ ज़मीन (ब्रिटिश भारत में १५,०१,९४,४४४ तथा देशी रियासतों में २,३२,६४,७८२) वर्तमान काल में खेती के लिए अनुपयुक्त है और यह ज़मीन ऐसी है कि इसके दोषों को दूर कर देने से यह खेती के लायक़ हो सकती है। ऐसी ज़मीन का ब्योरा नीचे के चित्र में दिया जाता है।

खेती के अयोग्य ज़मीन

प्रांत	एकड़	देशी रियासतें	एकड़
मद्रास	२,११,१७,१८५	हैदराबाद	२५,७७,५९२
बंबई	१,९७,०१,२०५	मैसूर	६९,५२,५८८
बंगाल	१,०२,१७,१७९	बड़ोदा	९,९३,८०३
संयुक्तप्रांत	१,००,६३,३०५	ग्वालियर	३३,४६,२२१
पंजाब	१,२५,४९,२०७	काश्मीर	१८,४०,२८६
ब्रह्मदेश	५,४५,३०,२६८	मद्रास की रियासतें	६,१३,६२३
बिहार उड़ीसा	७७,६२,३३५	मध्यभारत	११,२४,९२५
मध्यप्रदेश बरार	४८,१६,३१६	राजपूताना	३४,२९,४३४
आसाम	५५,१०,२००	पंजाब एजेंसी	१५,०९,८२१
पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत	२६,५५५४७	पंजाबी रियासतें	७२,७७९
अजमेर मेरवाड़ा-मानपुर परगना	८,६५,९९४	बंबई की रियासतें	१,६०,९१३
कुर्ग	३,३४,०४५	संयुक्तप्रांत की रियासतें	६,२२,७७७
दिल्ली	७१,४५८		
जोड़	१५,०१,९४,४४४	जोड़	२,३२,६४,७८२

कुल जोड़ १७,३४,५१,२२६

ऐसी जमीन पांच प्रकार की होती है। एक तो वह जो कि पानी न होने के कारण खेती के काम नहीं आ सकती। ऐसी ज़मीन बहुधा राजपूताना, पंजाब के दक्षिण-पश्चिम में और सिन्ध में पाई जाती है। दूसरी दलदल है जो कि हमेशा पानी से तर होने के कारण खेती के काम में नहीं आ सकती। ऐसी ज़मीन अधिकतर हिमालय की तराई और ब्रह्मपुत्र के मुहाने में पाई जाती है। तीसरी वह ज़मीन है जिसे बीहड़ (Ravineland) या खड्ड कहते हैं। यह बहुधा जमुना, चम्बल

और सोन के किनारे पर पाई जाती है। चौथी वह रेही ज़मीन है जो कि संयुक्तप्रांत व पंजाब में बहुधा पाई जाती है। पाँचवीं वह ज़मीन है जो कि उड़ीसा और मध्य प्रदेश में पाई जाती है, और जिसमें कोयला, लोहा इत्यादि बहुधा पाये जाते हैं। इन पाँच प्रकार की ज़मीनों में से पहले चार प्रकार की ज़मीनें ऐसी हैं जो खेती के लायक़ बनाई जा सकती हैं। केवल इनके दोषों को दूर कर देने की ही आवश्यकता है और वे दोष भी ऐसे हैं जो सरलता से दूर किये जा सकते हैं जैसा कि हम आगे चल कर वर्णन करेंगे।

आठवाँ अध्याय

खेती में काम करनेवाले

परिश्रम—लगभग प्रत्येक भारतीय किसान अपनी खेती में खुद व अपने बाल बच्चों के द्वारा ही परिश्रम करता है। पर प्रत्येक गांव में कुछ ऐसे भी किसान होते हैं जो मज़दूर रखकर खेती करते हैं, और कुछ ऐसे भी होते हैं जो कि मौक़े मौक़े पर और विशेष कर जब कि शीघ्र ही खेती का काम पूरा कर देना चाहते हैं, मज़दूर रखते हैं। भारतीय किसान अपने काम में एक हद तक पूरा पूरा निपुण कहा जा सकता है। वह मेहनती, सच्चा और देशी कृषिकला में निपुण होता है। पर उसमें नवीनता के अनुकरण करने का साहस व बुद्धि नहीं होती, क्योंकि नवीन उपायों द्वारा किसी को सफलता पाते हुए उसे देखने का मौक़ा नहीं मिला है। परंतु लोगों का यह ख़याल कि वह हितकर नवीन उपायों को ग्रहण नहीं करेगा, बिल्कुल ग़लत है। जहां कहीं उसे भलीभाँति यह बताया गया है कि अमुक यंत्र से व अमुक उपाय से अधिक लाभ हो सकता है वहाँ ही उसने उन नवीन उपायों और यंत्रों को स्वीकार कर लिया है। अन्य व्यवहारिक चतुर पुरुषों की तरह वह केवल बात करने वालों पर विश्वास नहीं करता। अपने पुराने उपायों व पुराने हथियारों को छोड़ देने के पहिले, जिनके उपयोगी होने का उसे अच्छी तरह ज्ञान हो गया है और जिन्हें उसके पिता व

पितामह अच्छी तरह से चलाते रहे हैं, और नये उपायों को ग्रहण करने के पहले उनकी योग्यता की वह जाँच-पड़ताल कर लेना चाहता है। यह भी असत्य है कि वह अपनी गई गुज़री हालत में ही रहना पसंद करता है व उसे सुधारना नहीं चाहता। जब कभी भी उसे अपनी अवस्था सुधारने का अवसर मिला है, उसने उससे लाभ उठाया है। पंजाब में किसानों के रहन-सहन से हमारे उपर्युक्त कथन का समर्थन होता है। वहाँ हज़ारों किसान अच्छे बीज व बढ़िया औज़ारों इत्यादि से खेती करते हैं और इससे उनकी आर्थिक अवस्था की उन्नति हो गई है। उनके रहन-सहन की प्रथा भी ऊँचे दर्जे की हो गई है। हमारे किसानों में न तो परिश्रम करने की योग्यता की कमी है और न वे किसानी के अच्छे उपायों का अवलम्बन करके अपनी दशा सुधारने से ही मुँह मोड़ते हैं और न वे ऐसे विरक्त हैं कि संसार में रहते हुये अच्छे भोजन, अच्छे कपड़े व अच्छे घरों में रहने का इरादा न रखते हों। भारतीय किसान में यदि किसी बात की कमी है तो केवल दो बातों की। पहले तो यह कि वह उन उपायों को जानता नहीं है जिनसे कि अपनी खेती और उसके साथ अपनी दशा की उन्नति करले, और दूसरे यह कि उन उपायों को पाने के लिये उसके पास साधन नहीं हैं।

भारत में साधारण किसानों की संख्या १७,३९,००,००० है जिसमें से ५,३५,००,००० पुरुष और २,१२,००,००० स्त्रियाँ ख़ास खेत में परिश्रम करने वाले हैं। बाक़ी के ९,८५,००,००० उनपर निर्भर रहने वाले हैं। ३,८०,००,००० खेती करने वाले मज़दूर हैं। इनमें से खेतपर ख़ास कर काम करने वाले १,१८,००,००० पुरुष और १,००,००,००० स्त्रियाँ हैं। बाक़ी के १,६२,००,००० इनपर निर्भर रहने वाले हैं। नीचे दिये हुये नक़शे से यह पता लगता है कि भारत के प्रत्येक प्रान्त व देशी रियासतों में कितने साधारण किसान व कितने ख़ास कर खेत पर काम करने वाले मज़दूर हैं :—

प्रान्त			साधारण किसान	ख़ास खेत में मज़दूरी करने वाले
अजमेर	...	...	२,१९,४००	२०,६३३
अंडमान, निकोबार		...	९,६६८	...
आसाम	...	...	५५,२९,२४६	१,४०,२६६
बिलोचिस्तान	...	...	२,४५,८६२	१,१३१
बिहार और उड़ीसा			२,१८,३६,५९१	४८,१०,३४२
बम्बई	...	...	८९,५१,४७४	२२,८७,२२०
ब्रह्मदेश	...	...	६८,२०,४९१	२०,८५,८०६
मध्यप्रदेश और बरार		...	५९,९७,२७५	३९,५५,८६९
बंगाल	...	...	२,९८,४५,८६५	४३,६०,०६४
कुर्ग	...	...	१,१८,४८६	१२,२२०
मद्रास	...	...	१,८८,७०,७२५	८२,२४,१२५
पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त		...	७,२६,४७२	१४,७८७
पंजाब	...	...	९९,२३,७६५	९,२५,४८३
संयुक्तप्रान्त	...	...	२,८९,९३,४१६	३९,८७,४९३

देशी राज्य	साधारण किसान	खास खेत में मज़दूरी करने वाले
मनीपुर (आसाम) ...	२,९६,४९३	५२७
बिलोचिस्तान के रजवाड़े ...	२,३०,०७६	७५२
बड़ोदा	१०,३९,२१७	२,९५,८१५
बंगाल के रजवाड़े ...	६,९७,७१२	४८,०८३
बिहार उड़ीसा के रजवाड़े ...	२२,३८,८२०	८,१३,५८२
बम्बई के रजवाड़े ...	३५,११,९६९	८,०४,३४४
मध्य-भारत एजेंसी ...	२८,९३,५३०	१२,३७,१६०
मध्यप्रदेश के रजवाड़े ...	१३,१३,७३४	३,४१,८६४
ग्वालियर	१७,११,८४२	२,४६,८८३
हैदराबाद	३६,०७,३६६	१७,६३,५६२
काश्मीर	२४,६५,३२९	२१,०३५
मद्रास के रजवाड़े ...	१९,२८,३२३	४,५१,५९१
मैसूर	४०,०८,२२	५,१६,७९३
पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के रजवाड़े	...	...
पंजाब की रियासतें ...	२६,९५,८४८	१,९८,४५६
राजपूताना एजेंसी ...	५३,७६,७५०	५,३८,१३८
सिकिम	७५,६०९	१७५
संयुक्तप्रान्त की रियासतें ...	८,५६,४०५	४८,३९४
कुलजोड़	१७,३१,२३,०६१	३,७९,२४,९१७

जब हम एक ओर भारत के सारे किसानों को और दूसरी ओर खेती के काम आने वाली सारी ज़मीन को देखते हैं तो एक बहुत ही मार्के की बात दिखाई पड़ती है। भारत में खेती के काम आने वाली ज़मीन लगभग ३५,२६,००,००० एकड़ है और १७,३१, ००,००० किसान हैं। इन किसानों में लगभग ८,००,००,००० किसान ऐसे हैं जो खुद किसानी करते हैं। बाक़ी के लगभग ९,००,००,००० ऐसे हैं जो कि उन ८,००,००,००० किसानों पर निर्भर रहते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि प्रति किसान पीछे—ऐसे किसान जो खुद किसानी करते हैं—चार एकड़ से कुछ ही ज्यादा ज़मीन है। साधारण तौर से एक भारतीय किसान कुटुम्ब में उन पर निर्भर रहने वाले भी सम्मिलित हैं। और यदि इन निर्भर रहनेवालों को भी किसानों की संख्या में जोड़ दें तो प्रति किसान पीछे केवल २·०३ एकड़ ज़मीन मालूम होती है। प्रति किसान पीछे भिन्न भिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न तादाद में ज़मीन रहती है जैसा कि नीचे के नक़्शे से मालूम होगा :—

प्रांत	प्रति किसान पीछे ज़मीन एकड़ में	प्रांत	प्रति किसान पीछे ज़मीन एकड़ में
आसाम	३	बिहार उड़ीसा	३
बंगाल	३	बम्बई	१२
ब्रह्मदेश	६	मद्रास	५
मध्यप्रदेश-बरार	८·५	पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	११
पंजाब	९·२	संयुक्तप्रदेश	२·५

इस नक़्शे से हम देखते हैं कि हमारे भारतवर्ष में किसान के पास बहुधा छोटी सी ही ज़मीन होती है। सारे मजदूरों की सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग भारतीय किसान नहीं कर पाते। ऐसे चित्रों को देखने से

भारतीय किसानों की ग़रीबी की हालत झलक पड़ती है। दो एकड़ ज़मीन पर खेती करने के लिये पूरे साल के ३६५ दिनों में से बहुत ही थोड़े दिनों की दरकार होती है। खेत के जोतने व बोने के दिनों में तो किसान कठिन परिश्रम करता ही रहता है व फ़सल काटने के दिनों में भी उसे पूरी मेहनत करनी पड़ती है, पर साल के बाक़ी दिनों में वह बेकार बैठा रहता है। यही उसकी ग़रीबी का कारण है। दूसरे देशों में जहाँ कि प्रति किसान पीछे भारत की अपेक्षा अधिक ज़मीन होती है, वहाँ किसान को क़रीब क़रीब पूरे साल भर तक काम में किसी न किसी तरह लगा ही रहना पड़ता है। इस प्रकार भारतीय किसान के साल में बहुत से दिन बेकारी में बीत जाते हैं, क्योंकि किसानों के पास सिवा किसानी के कोई दूसरा रोज़गार भी नहीं है। इसका यही फल होता है कि भारतीय किसानों की बहुत सी श्रमशक्ति नाहक़ ही बर्बाद हो जाती है।

ऊपर के कथन से हमें यह मालूम हो गया है कि भारतवर्ष में कुल खेती करने वाले कितने हैं और औसतन प्रति किसान के पास खेती के लिए कितनी एकड़ ज़मीन है। अब हम खेती करने वालों की शारीरिक व मानसिक शक्ति का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे। १९२६ में समस्त भारतवर्ष के डाक्टरी अन्वेषकों की एक सभा हुई थी। अन्यान्य प्रस्तावों के साथ साथ उस सभा में निम्न-लिखित प्रस्ताव पास हुआ था। "इस सभा का यह विश्वास है कि भारतवर्ष में प्रति वर्ष ऐसी बीमारी से मर जाने वालों की संख्या, जिसको हम रोक सकते हैं, औसतन पचास से साठ लाख तक है। ऐसी बीमारी के कारण प्रत्येक खेती-बारी में काम करने वालों की दो हफ़्ते से लेकर तीन हफ़्ते तक की श्रमशक्ति की हानि प्रति वर्ष होती है। ऐसी बीमारी से प्रत्येक खेती बारी में काम करने वाले की श्रमशक्ति में प्रति वर्ष औसतन बीस फ़ी सदी ह्रास होता है, और प्रति वर्ष इसी कारण से कमाने-खाने की

उम्र में पहुँचने के पहले पचास फ़ी सदी बच्चे मर जाते हैं। यदि उनकी भली भाँति देख-रेख की जावे तो ये ८०-९० फ़ी सदी की संख्या में जी सकते हैं। इस सभा का यह विश्वास है कि ऊपर दिये हुये अंक अतिशयोक्ति नहीं किन्तु यथार्थ अंक से कुछ कम भी नहीं हैं।" पर उन्हीं अंकों को सत्य मानते हुये यह कहा जा सकता है कि ऐसी बीमारी के कारण भारतवर्ष के सैकड़ों रुपये बर्बाद हो जाते हैं। इस हानि के सिवाय लाखों मनुष्यों को इससे बहुत कष्ट भी होता है।

हाल की मनुष्य गणना से मालूम होता है कि भारतवर्ष के कृषि-कर्म से जनसाधारण की तन्दुरुस्ती का जो संबंध है वह प्रकट ही है। भारतवर्ष के सभी हिस्सों में विशेषकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा और संयुक्त प्रदेश में हज़ारों मनुष्य भादों-कार के महीने में मलेरिया बुख़ार में ग्रस्त होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक तो हज़ारों की संख्या में मर जाते हैं और दूसरे हज़ारों काम करने वालों की ताक़त घट जाती है। और यही महीने ऐसे हैं जब कि खेतों में काम करने वालों में खूब बल होना चाहिये। क्योंकि इन्हीं महीनों में ख़रीफ़ फ़सल की कटाई आदि और रबी के लिए खेत की जोताई व बीज की बोवाई होती है। इसके सिवाय हुक-वर्म रोग (Hook-worm) जो कि ज़्यादातर मद्रास में पाया जाता है और काला-आज़ार जो कि बंगाल, बिहार, उड़ीसा और संयुक्त प्रांत के पूर्वी ज़िलों में बहुत फैला हुआ है किसानों की श्रमशक्ति को घटा देता है। रोगों के इस निरंतर आक्रमण का परिणाम यह होता है कि मनुष्य की शक्ति क्षीण हो जाती है और रोजगार के उचित संचालन के लिए जितने परिश्रम और निपुणता की आवश्यकता है उनसे वह वंचित रह जाते हैं। यहाँ पर यह कह देना सहज नहीं है कि मनुष्यों के स्वास्थ्य का खेती की उपज शक्ति पर कितना प्रभाव पड़ता है। पर इससे कोई इनकार नहीं कर सकता कि वास्तव में उसका उस उपज-शक्ति पर बड़ा असर होता है।

भारतवर्ष में जीवन की अन्य परिस्थितियों की तरह इस विषय में भी दुर्भाग्य का चक्र चल रहा है। आयुर्वेद विशारदों की राय है कि भारतवर्ष के लोग कम मेहनती होते हैं क्योंकि उन्हें उचित परिमाण में भोजन और वस्त्र नहीं मिलता। जनता को उचित परिमाण में भोजन और वस्त्र न मिलने का कारण है यहाँ की खेती का अन्य देशों की अपेक्षा कम लाभदायक होना और यहाँ की ज़मीन इसलिए कम लाभदायक होती है क्योंकि उस पर उचित परिमाण में परिश्रम नहीं किया जाता, और यहाँ की ज़मीन में काम करने वाले रोग से पीड़ित होने के कारण दुर्बल होते हैं। इससे वे ज़रूरत के मुताबिक़ परिश्रम नहीं कर सकते। खेती की अपेक्षा किसी भी दूसरे रोज़गार में किसान के लिए शिक्षा व उन्नतिशील विचार रखने की अधिक आवश्यकता नहीं है। उद्योग-धंधों में यदि मज़दूर अपढ़ है पर अपने धंधे में निपुण है तो, चूँकि वह एक अनुभवी और शिक्षित व्यवसायी के आदेशानुसार काम करता है, उस उद्योग-धंधे में कुल मिलाकर कोई भारी नुक़सान नहीं होता। पर खेती बारी में तो स्वयं किसान ही प्रबंधकर्ता, मज़दूर व व्यवसायी होता है। उसका काम किसी दूसरे की अक़ल पर निर्भर नहीं रह सकता। इससे किसान के लिए शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से देखने से ग्रामीणों की शिक्षा का प्रश्न बहुत गम्भीर है। सन् १९२१ की मनुष्यगणना के अनुसार ब्रिटिश भारत में पाँच वर्ष से ऊपर के पुरुषों में पढ़े-लिखे लोग १४·४ फ़ी सदी थे और पढ़ी लिखी स्त्रियों की संख्या, जो पाँच वर्ष से ऊपर थीं, २ फ़ी सदी थी। सब उम्र के व दोनों वर्ग के शिक्षित मनुष्यों की संख्या ७·२ फ़ी सदी थी। १९२१ ई० के बाद शिक्षित मनुष्यों की गणना करने में हम केवल इतना और ध्यान में रख सकते हैं कि इस समय में प्रत्येक प्रांत में शिक्षा के ऊपर ख़ास ज़ोर दिया गया है। इससे सम्भव है कि शिक्षितों की संख्या २, ३ फ़ी सदी और बढ़ गई हो। इन अंकों से यह

प्रकट है कि शिक्षित मनुष्यों की संख्या बहुत ही कम है। ऐसी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये कृषि संबंधी जाँच कमेटी ने कहा है कि हिंदुस्तान में ग्रामीणों की उन्नति करने में उनका अशिक्षित होना ही एक महान् व भयंकर बाधा है। हिंदुस्तान के उन नब्बे फ़ी सदी लोगों के निरक्षर होने के कारण वे किताब में लिखी हुई अनेक लाभकारी बातों से लाभ नहीं उठा सकते। भारत की ग़रीबी के कारणों का यों तो एक दूसरे से संबध इस प्रकार का है कि एक के कारण दूसरा उत्पन्न होता है, दूसरे के कारण तीसरा। इसी तरह पहले कारण का भी कोई कारण है। पर यथार्थ में इस ग़रीबी का मूल कारण शिक्षा का अभाव ही है। यहाँ शिक्षा का अर्थ केवल अक्षरज्ञान से ही नहीं है। शिक्षा के अंतर्गत वे सभी बातें आती हैं जिससे मनुष्य का मनुष्य के विषय में तथा अन्य सभी सांसारिक विषयों में साधारण ज्ञान बढ़ता है व उचित रूप से काम करने की योग्यता आती है। पर केवल अक्षर-ज्ञान के अभाव का प्रभाव बड़ा ख़राब व शोचनीय पड़ता है। एक तो अक्षर-ज्ञान के बिना साधारण ज्ञान बहुत मुश्किल से बढ़ पाता है, इसके सिवाय जनता में अक्षरज्ञान न होने से वे सुधारकों के गंभीर, विचारपूर्ण व सुमधुर व्याख्यानों से तथा अन्वेषकों के निरंतर परिश्रम करने पर जो अन्वेषण हुए हैं उनसे लाभ नहीं उठा सकते। फिर अक्षरज्ञान के बिना साधारण ज्ञान न बढ़ा पाने से उनके विचार बहुत संकुचित रह जाते हैं व उन्नति की आशा या किसी प्रकार की महत्वाकांक्षा तो उनमें ज़रा भी नहीं रह जाती और उनके विचार तथा रहन-सहन का दर्जा बहुत नीचे रहता है जिससे उनकी श्रमशक्ति बहुत घट जाती है क्योंकि विचार और रहन-सहन के दर्जे से तथा श्रमशक्ति से घना संबंध है।

नवाँ अध्याय

खेती का मूलधन

किसी भी व्यापार में मूलधन दो प्रकार का होता है—पहला स्थायी मूलधन, व दूसरा अस्थायी मूलधन। किसान के स्थायी मूल धन उसके खेती के औज़ार, बैल, भैंस, बैलगाड़ी इत्यादि हैं। उसके अस्थायी मूलधन खाद, बीज, मज़दूरों की मज़दूरी—यदि किसान किराये पर मज़दूर रखता है—इत्यादि हैं। स्थायी मूलधन सजीव व निर्जीव दो भागों में बँटे हुए हैं। सजीव स्थायी मूलधन उसके बैल व भैंस इत्यादि हैं। निर्जीव स्थायी मूलधन में हल, हल जोतने का जुआ व जोत गाड़ी इत्यादि आते हैं। पाटा व पटेला भी निर्जीव स्थायी मूलधन हैं।

खेती के औज़ार—भारतीय किसान के खेती के औज़ार बहुत ही मामूली व सस्ते होते हैं। वे लोग बहुधा निम्न-लिखित औज़ार काम में लाते हैं। हल जैसा कि चित्र नं० १ में दिया गया है यही हल लगभग सारे भारतवर्ष में काम में आता है। पर भिन्न-भिन्न स्थानों के हल एक दूसरे से आकार व प्रकार में थोड़े से ही विभिन्न होते हैं। जहाँ की ज़मीन चिकनी व मटियार होती है वहाँ बहुधा मज़बूत व वज़नी हल काम में लाये जाते हैं। जहाँ की ज़मीन रेतीली होती है वहाँ बहुधा हलके हल काममें लाये जाते हैं। हलों की आपस

की विभिन्नता ख़ासकर उनके लोहों में पाई जाती है जिसे कहीं कहीं फल, फार इत्यादि भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं। भारत के किसी किसी हिस्से में, ख़ासकर राजपूताने की रेतीली ज़मीनों में, ऐसे हल काम में लाये जाते हैं जिनका फल या फार लकड़ी का ही होता है। बहुधा ऐसे हल बीज बोने के और क्यारी बनाने के काम में भी लाये जाते हैं।

जुआ भी लकड़ी का बना हुआ होता है, जैसा कि चित्र में दिया हुआ है। यह वह वस्तु है जो हल चलाते समय व पटेला चलाते समय या कुँए से मोट द्वारा पानी खींचते समय बैल के गले के ऊपर डाल कर उन्हें जोता जाता है। जिस चमड़े की या डोरी की पट्टी से उसे बैल के गले में बाँधते हैं उसे जोत या जोती कहते हैं। बैल को सम्हालने के लिये उनकी नाक से बंधी हुई जो डोरी बैलों के हाँकने वाले के हाथों में होती है उसे रास कहते हैं।

पाटा या पटेला या हेंगा खेती का वह सामान है जिसे खेत को जोत लेने के बाद उसकी ज़मीन को बराबर करने और मिट्टी के ढेलों को बराबर बराबर चारों तरफ़ तोड़ देने के लिये उसमें बैल जोत कर खेत के चारों तरफ़ चला देते हैं। भारत की खेती या खेतिहारों की सादगी का यह पटेला एक अच्छा उदाहरण है। यह पटेला लकड़ी का एक चौड़ा पट कुछ मोटा लगभग दस फुट लम्बा टुकड़ा होता है। इस लकड़ी के ऊपर दो खूंटे गड़े रहते हैं जिनके सहारे रस्सी बांध कर उनमें बैल को जोत देते हैं।

चोंगा या नाई नाम की वस्तु भी खेती के काम में आती है। यह बहुधा बेंत की बनी हुई एक नली होती है जो हल की मूठ के पास बँधी रहती है। हल तो ज़मीन से कोंड बनाता जाता है और यह नाई उन क्यारियों में बीज डालती जाती है। नाई के ऊपर का हिस्सा उस कुप्पी की तरह होता है जिसके द्वारा लालटेन में तेल डाला जाता

है। इसी कुप्पी के आकार वाले नाई के मुँह में एक आदमी बीज छोड़ता जाता है।

पुर वा चरसा चमड़े का एक बड़ा भारी थैला होता है। इसे कई जगहों में मोट भी कहते हैं। इसे कुएँ में डाल कर इसके द्वारा पानी निकाला जाता है जो खेतों में जाता है। मोट भी बैल द्वारा खींचे जाते हैं। मोट की रस्सी जो बैल के गले के जुए में बँधी रहती है एक गिर्री या गड़ारी के ऊपर से होकर आती है।

खुरपी या खुरपा गोड़ने या निराने के काम आता है। हंसिया फ़सल काटने के काम आता है। पंचावरा या कलारी भी एक ऐसा हथियार है जो आदमी के हाथ के पंजे की तरह बना रहता है। इसकी उंगलियाँ जो कि लकड़ी या लोहे की बनी होती हैं, मुड़ी हुई रहती हैं जो दांय चलाते समय पयाल को बटोरने के काम आता है।

इनके अतिरिक्त कुदाल है जो खोदने के काम में आता है।

इन सब के सिवाय टोकरियाँ, फावड़े, गंडासे वग़ैरह भी कुछ छोटे-मोटे औज़ार होते हैं। यही खेती की सारी सामग्रियाँ हैं।

ये औज़ार भारत में खेती के काम के लिये सर्वथा उपयुक्त हैं। ये अत्यंत ही सादे होते हैं व ऐसी वस्तुओं के बनाये जाते हैं जो कि लगभग सभी जगहों में सरलता से मिल जायँ व टूट-फूट जाने पर सरलता से सुधर जाँय। इनमें न तो दाम ही अधिक लगते हैं और और न एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में ही भारी होते हैं। भारत के एक साधारण हल का दाम केवल पांच से दस रुपये तक होता है। जुआ, जोत और रास में भी पाँच रुपये से अधिक नहीं लगते। पाटा या पटेला तो केवल दो ढाई रुपये में ही आ जाता है। चोंगा या नाई में बहुत लगा तो आठ आने। मोट में दस-बीस रुपये से अधिक नहीं लगता। मोट की डोरी भी दस-बीस रुपये के भीतर आ जाती है। गिर्री में एक रुपये से अधिक नहीं लगता। खुरपी

आठ आना, हंसिया आठ आना, कुदाल दस बारह आना, फावड़ा लगभग एक रुपया, पंचावरा एक रुपया—बस यही यहाँ के खेती के औज़ारों के दाम हैं। इस प्रकार साधारण तौर से भारतीय किसानों के पास निर्जीव स्थायी मूलधन, यदि प्रत्येक किसान के पास एक ही एक औज़ार हो, तो चालीस और पैंसठ रुपये के बीच होता है।

खेती के स्थायी मूलधन का दूसरा हिस्सा सजीव स्थायी मूलधन है। एक भारतीय किसान के पास बहुधा एक जोड़ बैल या एक जोड़ भैंसे होते हैं। यदि इनमें से वह अधिक रख ले तो यह उसकी मर्ज़ी है। एक ज्वारे से (एक जोड़ बैल से) बहुधा दस से पंद्रह एकड़ ज़मीन पर खेती हो सकती है। एक मामूली बैल चालीस से साठ रुपये में और अच्छा बैल सौ सवा सौ तक में आ सकता है। एक मामूली भैंसा पचीस-तीस रुपये में व एक अच्छा भैंसा चालीस-पचास रुपये में आ जाता है। किसान लोग इस से अधिकतर काम लेना पसंद नहीं करते क्योंकि भैंसे से काम बैल की अपेक्षा धीरे होता है। ग़रीब किसान ही बहुधा भैंसे से खेती करते हैं जिनके पास चार-छ बोघे से अधिक ज़मीन नहीं होती। सम्पूर्ण भारत में खेती का कुल रक़बा लगभग ३५,२६,०८,००० एकड़ है व बैल और भैंसों की संख्या क्रमशः ५,१२,७१,००० तथा ६३,०४,००० है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि एक जोड़ बैल या भैंसे से लगभग बारह एकड़ ज़मीन पर खेती होती है।

नीचे दिये हुए नक़शे से यह मालूम हो जाता है कि किस किस प्रान्त में कितने कितने बैल व भैंसे हैं व एक ज्वारे पीछे कहाँ कहाँ कितनी कितनी खेती होती है। (यह रिपोर्ट १९२५-२६ की है)।

ब्रिटिश भारत

प्रांत	खेती का कुल रक़बा	बैल	भैंसे	कुल बैल और भैंसे	प्रति ज्वारे पीछे खेती का रक़बा एकड़ में
मद्रास	३,३८,३७,०००	५१,२२,०००	१३,८७,०००	६५,०९,०००	१०.३
बम्बई	२,१२,८५,०००	३१,८२,०००	१,९८,०००	३३,८०,०००	१८.५
बंगाल	२,३८,४१,०००	८५,६०,०००	६,८५,०००	९१,४५,०००	५.२
संयुक्त प्रांत	३,४८,००,०००	१,०१,९८,०००	७,८४,०००	१,०९,८२,०००	६.३
पंजाब	२,६०,१५,०००	४१,७८,०००	४,४२,०००	४६,२०,०००	११.२
ब्रह्मदेश	१,७२,७४,०००	१८,९१,०००	३,६५,०००	२२,५६,०००	१५.३
बिहार उड़ीसा	२,५१,४६,०००	६८,२६,०००	८,२७,०००	७६,५३,०००	६.५
मध्यप्रदेश	२,४८,७०,०००	३६,९७,०००	४,९९,०००	४२,९६,०००	११.५
आसाम	५८,२८,०००	१६,३१,०००	२,१३,०००	१८,४४,०००	६.३

पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत	२३,०५,०००	३,७३,०००	१४,०००	३,८७,०००	११·९
अजमेर मेरवाड़ा	३,००,०००	१,०२,०००	९,०००	१,११,०००	५·४
कुर्ग	१,३७,०००	४३,०००	१०,०००	५३,०००	५·२
दिल्ली	२,१०,०००	३६,१००	१,०००	३७,०००	११·६
कुल	२२,५८,४९,०००	४,५८,३८,०००	५४,३३,०००	५,१२,७१,०००	८·८

देशी रियासतें

हैदराबाद	२,६४,७४,०००	३०,९०,०००	४,३१,०००	३५,२१,०००	१४·९
मैसूर	६३,८५,०००	१३,२९,०००	८२,०००	१४,११,०००	९
बड़ोदा	३०,१३,०००	४,०१,०००	५,०००	४,०६,०००	१४·८

रियासत	खेती का कुल रक़बा	बैल	भैंसे	कुल बैल और भैंसे	प्रति ज्वारे पीछे खेती का रक़बा एकड़ में
ग्वालियर	४१,६१,०००	७,८३,०००	१२,०००	७९,६००	१४.१०
काश्मीर	१७,६५,०००	५,९५,०००	४७,०००	६,४२,०००	५.५
मद्रास की रियासतें	२९,१९,०००	३,७२,०००	१,०६,०००	४,७८,०००	१२.२
मध्यप्रांत की रियासतें	४३,७३,०००	९,७३,०००	४४,०००	१०,१७,०००	८.६
राजपूताना	६१,४०,०००	१०,१२,०००	१,०८,०००	११,२०,०००	१०.९
पंजाब एजेंसी रियासतें	५२,८७,०००	६१,०००	१६,०००	७७,०००	...
पंजाबी रियासतें	३,४२,०००	१८,०००	...	१८,०००	१९.०
बंबई की रियासतें	१७,३९,०००	६५,०००	१४,०००	७९,०००	४४.५
संयुक्त प्रांत की रियासतें	८,९०,०००	२,६९,०००	२७,०००	२९,६,०००	४.५
कुल	६,२९,८८,०००	८९,४९,०००	८,९४,०००	९८,४३,०००	१३

ऊपर दिये हुए अंकों से यह पता लगता है कि एक स्थान से दूसरे स्थान के बैलों की (भैंसे सहित) फ़ी जोड़ पीछे खेती के रक़बे की तादाद में विचित्र विभिन्नता है। यह विभिन्नता ख़ास कर भिन्न भिन्न स्थान के भिन्न भिन्न प्रकार की फ़सल और ज़मीन पर निर्भर है। सिंचाई के भिन्न भिन्न उपायों से भी स्थान स्थान के बैल व भैंसों की फ़ी जोड़ी पीछे खेती के रक़बे में अन्तर हो जाता है। बैलों की ताक़त या उनके शरीर की बनावट से भी इस बात पर असर पड़ता है कि एक जोड़ बैल से कितनी एकड़ ज़मीन जोती जा सकती है। इससे यह समझना हमारे लिये कठिन न होगा कि जहाँ की ज़मीन चिकनी व कड़ी है वहाँ की अपेक्षा जहाँ ज़मीन रेतीली व फुसफुसी है वहाँ प्रति ज्वारे पीछे अधिक खेती हो सकती है।

जिस ज़मीन पर गेहूँ व कपास जैसी फ़सल की खेती होती है जहाँ जुताई और सिंचाई की बार बार ज़रूरत पड़ती है वहाँ बैल की एक जोड़ी से कम ज़मीन पर ही खेती हो सकती है। ऐसे ही जहाँ सिंचाई का काम बैल द्वारा कुँए से होता है वहाँ की अपेक्षा जहाँ सिंचाई नहर या तालाब से होती है वहाँ एक जोड़ बैल से कुछ अधिक ज़मीन पर खेती हो सकती है। और जहाँ पर मज़बूत बैल पाये जाते हैं वहाँ पर ऐसे बैलों की एक जोड़ी से अधिक खेती हो सकती है। पर जहाँ पर कमज़ोर बैल पाये जाते हैं वहाँ प्रति जोड़ पीछे उससे कम ही खेती होगी।

यह आम शिकायत है कि भारतवर्ष में ढोरों की हालत ख़राब होती जा रही है और बैल की अच्छी जोड़ पाने की कठिनाइयाँ हाल से ही होने लगी हैं। इसका कुछ कारण तो यह है कि खेती का काम बढ़ता जा रहा है और बैलों की माँग भी बढ़ती जा रही है, किन्तु इसका मुख्य कारण तो यह है कि बैलों को काफ़ी चारा नहीं मिलता व नसल भी अच्छी नहीं होती। भारत में ऐसे बहुत से अच्छी नसल के बैल

हैं जो कि खा़से अच्छे नसल के हैं और उनकी पैदाइश की और चारे की खा़स परवाह की जावे तो अब भी यहाँ अच्छे बैल होने लगें। संयुक्त प्रांत में कोसी और पवार जाति के बैल होते हैं। पंजाब के हरियाना और शहीवाल बैल प्रसिद्ध हैं। सिन्ध में थार-प्रकार और सिन्धी नाम के बैल होते हैं। मध्यभारत के मालवी, गुजरात के ककरेज, काठियावाड़ के गिर, मध्यप्रदेश के गावलाव और मद्रास के अंगोल और कंगयाग, भारत के प्रसिद्ध बैलों में से हैं जो कि सारे देश में ज़रा सुप्रबन्ध के साथ फैला दिये जा सकते हैं।

अस्थायी मूलधन—जिस अस्थायी मूलधन का उपयोग किसान अपनी खेती में करता हैं वह तीन वस्तुओं का होता है—खाद, बीज, और मज़दूर आदि को देने के लिये कुछ नक़द रुपये। भारत में ऐसे बहुत कम किसान हैं जो कि अपनी ज़रूरत का सारा स्थायी मूलधन अपने आप लगाते हैं। अभी तक इस बात की जाँच-पड़ताल करने की कोई कोशिश नहीं की गई है कि भारत में फी सदी कितने किसान अपना ही अस्थायी मूलधन लगाते हैं पर बहुत से स्थानों के किसानों को देखने से तो यही कहना पड़ता है कि उनकी संख्या बहुत ही कम है। हाँ, खाद के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। अधिकतर किसान अपनी ही खाद का उपयोग करते हैं।

खाद—भारत में कई प्रकार की खादें होती हैं जिनको कि किसान अपनी खेती के काम में लाता है जैसे गाय-भैंस का गोबर, खली, जानवरों की हड्डी, लौनी, इत्यादि। इन सब में गोबर का सब से अधिक उपयोग होता है। दूसरी खादें किसी खा़स फ़सल के काम आती हैं। गाय, बैल आदि के गोबर जो गौशाला से बाहर निकाल कर या घर के लीपने से बचा हुआ गोबर गाँव के किसी घूर में जमा कर दिया जाता है और वहीं कुछ दिनों के बाद सड़कर खाद बन जाता है। हम लोग तो इस कूड़े-कर्कट का महत्व समझते नहीं। क्योंकि यह गोबर खा़सतौर से खाद

बनाने की नीयत से तो किसी गड्ढे में प्रबंध के साथ रक्खा नहीं जाता। प्रति दिन गाँव का लगभग प्रत्येक गृहस्थ अपनी गौशाला और घर की सफ़ाई करने के बाद उन सब गोबरों को गाँव के किसी एक जगह में इकट्ठा करते जाते हैं। उसी घूर में और भी तरह तरह के कूड़े फेंके जाते हैं जब तक कि वह किसान उस खाद को अपने खेत में नहीं ले जाता। और अंत में यह गोबर की बनी हुई खाद हमारी फ़सल को उसके कट जाने तक, भोजन देती रहती है। किसी एक गाँव से जो गोबर निकलता है वह सबका सब सीधा खाद नहीं बना दिया जाता। साल के आठ महीने तक तो बहुधा उसके कंडे बनाकर जला दिये जाते हैं। केवल चार महीने बरसात के गोबर घूरों में फेंके जाते हैं जो कि खाद बन कर खेती के काम आते हैं।

आदमियों की बिष्टा भी बड़ी अच्छी खाद होती है पर भारतीय किसान को इससे एकदम नफ़रत हो जाने से उसे एक बहुत ही लाभ-दायक खाद से वंचित रहना पड़ता है। गाँव के लोग अकसर खेतों में ही दिशा कर्म कर आते हैं और वही उस ज़मीन पर फैल कर मिल जाती है। पर चूंकि वह ज़मीन के ऊपर ही रह जाती है इससे उसके खाद का गुण बहुत कुछ उड़ जाता है। इसके सिवाय वह आस-पास की हवा को बिगाड़ कर नुक़सान पहुँचाती है और एक ऐसे प्रकार के कीड़े उत्पन्न करती है जो उन खेतों में नंगे पैर चलने वालों के पैर के द्वारा प्रवेश कर उनकी आँखों तक पहुँच जाते हैं। फिर वहाँ एक से अनेक होकर मनुष्य शरीर को बहुत हानि पहुँचाते हैं। इस बीमारी को हुकवर्म (hook-worm) नाम से पुकारते हैं।

भारत में खली को खाद के काम में अवश्य लाते हैं पर उससे पूरा पूरा फ़ायदा नहीं उठाया जाता है। खली का दो प्रकार से दुरुपयोग हो जाता है। एक तो बड़ी भारी तादाद में तिलहन विदेशों को भेज दी जाती है जैसा कि नीचे लिखे हुये अंकों से मालूम होगा।

१९१०-११ से लेकर १९२४-२५ तक किस किस प्रकार के कितने कितने परिमाण में तेलहन पैदा हुए और किस किस परिमाण में विदेशों में भेज दिये गये।

	कुल उपज (टन में)	निर्यति	फी सदी निर्यति
बिनौले	२,७६,९७,०००	२१,९८,०००	८
मूँगफली	१,४०,१९,०००	२८,४२,०००	२०
राई और सरसों	१,७०,९३,०००	२८,२५,०००	१६.५
अलसी	६९,१५,०००	४६,४२,०००	६७
तिल	६७,९४,०००	७,७९,०००	११.५

इन अंकों के औसत से यह पता लगता है कि १८ फी सदी तेलहन की उपज देश से बाहर भेज दी जाती है और इससे यहाँ की खेती को कितनी हानि होती है इसका भी अनुमान हम लगा सकते हैं। जो कुछ तेलहन देश में बच भी जाती है उसमें से ज़्यादातर ढोरों को खिला दी जाती है और इससे ज़मीन को कोई फ़ायदा नहीं होने पाता क्योंकि ढोरों का वह खली वाला गोबर भी कंडा बनाकर जला दिया जाता है।

भारत में पहिले मरे हुये जानवरों को या उनके अस्थिपंजर को बाहर के खेतों में फेंक देते थे जो कुछ काल बाद आपही आप सड़-गलकर मिट्टी में मिल जाते थे। गाँवों में अब भी यही किया जाता है। किन्तु गत तीस वर्षों से जानवरों की हड्डियाँ भी विदेशों को भेज दी जाती हैं जिनसे कि वहाँ तरह तरह की चीज़ें बनाई जाती हैं व जो कि वहाँ खाद का भी काम देती हैं। १९२६-२७ में

१,००,००५ टन हड्डियाँ जिनका मूल्य ९७,७६,००० रुपये था भारत से बाहर भेज दी गईं। खली की तरह हड्डियों को भी विदेशों में भेज देने से भारत के खेतों की उपज को बड़ा घाटा पड़ता है।

बीज—बीज और फुटकर खर्च के रुपयों के लिए किसानों को महाजनों और साहूकारों का आश्रय लेना पड़ता है। किसानों को हम बहुधा यह कहते सुनते हैं कि "जैसा बोयेगा वैसा काटेगा" पर वास्तव में अपने खेतों में बीज बोने की क्रिया की ओर वे लोग बहुत ही कम ध्यान देते हैं। यह सच है कि किसान यदि धनवान हुआ तो आगामी वर्ष बोने के लिये वह बहुत बढ़िया बीज रख छोड़ता है। पर ऐसे धनी किसान बहुत कम हैं और बहुतेरे किसान बीज के लिये महाजनों और साहूकारों पर ही निर्भर रहते हैं। पाश्चात्य देश का किसान दो बात तो ज़रूर करता है। एक तो यह कि जब फ़सल खड़ी रहती है तो उस फ़सल के सिवाय जो कुछ दूसरी फ़सल उस खेत में उगी रहती है वह उसको उखाड़ कर फेंक देता है ताकि उसकी फ़सल के साथ कुछ और न मिलने पावे, और दूसरे यह कि फ़सल काटने के पहिले उस खेत में उस फ़सल के अच्छे दानेदार पौधों को अलग काट करके रख लेता है। भारतीय किसान बीज इकट्ठे करने में इन बातों पर ध्यान नहीं देते।

बीज के चुनाव की अपेक्षा भारतीय किसान उसे रखने में अधिक होशियारी दिखाते हैं। गेहूँ, जौ, चना इत्यादि अनाजों के बीज जो कि फ़ी बीघा तीस सेर से एक मन तक डाले जाते हैं अकसर भसेरों में रक्खे जाते हैं। बीज को धुन से बचाने के लिये उसके साथ राख व हींग मिला देते हैं। ख़ासकर उरद में हींग और ज्वार में राख मिला कर रखते हैं। साहूकार या महाजन भी जो कि किसानों को बीज उधार देता है, बीज के नाम से कहीं अनाज अलग नहीं रखता। वह अपने सभी अनाज को एक में ही रखता है। गेहूँ, जौ और चना ऐसे

अनाजों को वह एक ही खत्ती में भर देता है। उनके पास ढेरों अनाज होता है, इसी से एक जाति के सभी अनाजों को एक साथ रख देता है। ज्वार व बाजरा भसेरों में या कुठीलों में रक्खे जाते हैं। उरद, मूँग, सरसों इत्यादि मटकों में रक्खे जाते हैं। ज़मीन में अनाज रखने के लिये एक गड्ढा खोद दिया जाता है। कभी कभी उसमें ईंट व चूना लगाकर उसे पक्का भी बना देते हैं, उसी को खत्ती कहते हैं। खत्ती अगर कच्ची हुई तो भूसा या पयाल उसपर बिछाकर और दीवालों में लगाकर उसमें अनाज रखते हैं। खत्ती उन्हीं जगहों में बनाई जाती हैं जहाँ पानी की सतह काफ़ी नीची होती है और जहाँ अधिक पानी नहीं गिरता। इसी से ये खत्तीं, मध्य प्रदेश, पंजाब, राजपूताना, मध्य भारत, पश्चिमीय संयुक्त प्रांत और बंबई में पाई जाती हैं। पूर्वी संयुक्त प्रांत, आसाम, बिहार, बंगाल और बर्मा में खत्ती नहीं बना सकते हैं। खत्ती से लाभ यह होता है कि उसमें ढेरों अनाज रख दिया जा सकता है। पर उसमें ऐब यह है कि उसमें पानी या हवा जल्दी प्रवेश कर सकती है और बहुधा चूहा भी उसमें जाने के लिये अपनी राह बना लेता है और अनाज को बहुत नुक़सान पहुँचता है।

भसेरा भी एक कच्ची या पक्की कोठरी है जिसकी दीवारों में चारों तरफ़ भूसा लगा रहता है। पक्का भसेरा बड़े बड़े महाजनों के यहाँ होता है। साधारण गाँवों में कच्चा भसेरा ही पाया जाता है।

मिट्टी की चार दीवारें कहीं बनाकर तैय्यार करते हैं। एक कोठी आठ-दस फुट के क़रीब ऊँची या कभी इससे कुछ बड़ी या कभी इससे कुछ छोटी भी होती है। इसके भीतर अनाज भर कर ऊपर को मिट्टी से बंद कर देते हैं। अनाज जमा करने के इन सब देसी उपायों में मिट्टी के पके हुए मटकों में रखना सब से अधिक प्रचलित है। इस प्रकार के अनेकानेक उपायों से रखने

पर भी धान सुरक्षित नहीं रहते और उनमें अकसर घुन, सुड़ी या और तरह के कीड़े लग जाते हैं।

साहूकार और महाजन—भारत के प्रत्येक भाग में कुछ ऐसे लोग भी रहते हैं जिनका मुख्य रोज़गार ग़रीब किसानों को रुपया या अनाज उधार देना है। संयुक्त प्रांत और पंजाब में ऐसे लोगों को साहूकार, पूर्वी संयुक्त प्रांत और बिहार में महाजन, और मध्य प्रदेश में धनी कहते हैं। इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रांतों में उनको भिन्न भिन्न नाम से पुकारते हैं। साहूकारी प्रथा के अनुसार साहूकार और किसान का परस्पर एक दूसरे के प्रति कुछ कर्तव्य व एक दूसरे पर कुछ कुछ अधिकार भी होता है। साहूकार का कर्तव्य किसानों को ज़रूरत के अनुसार उपज के काम के लिये या साधारण काम के लिये रुपये या अनाज उधार देना है। और किसान के ऊपर उसका यह हक़ होता है कि जब तक उसका ऋण न दिया जावे तब तक के लिए वह किसान की फ़सल पर क़ब्ज़ा कर सकता है। किसान का कर्तव्य यह है कि वह अपने साहूकार से ही लेन-देन करे, दूसरे से नहीं और जमींदार का लगान चुका देने के बाद अपने महाजन का सारा चुकता कर दे, तब फिर दूसरे काम के लिये अपनी फ़सल पर हाथ लगावे। किसान का साहूकार के ऊपर यह हक़ भी है कि वह अपनी ज़रूरत के अनुसार अपने साहूकार से रुपये या अनाज उधार ले ले। हम ऊपर कह चुके हैं कि साहूकार दो प्रकार से उधार दे सकता है—रुपये या अनाज तथा अन्य वस्तुएँ। जब साहूकार अनाज उधार देता है तो फिर फ़सल के बाद अपने अनाज के साथ उस परिमाण का आधा या चौथाई अनाज ब्याज के रूप में उस किसान से और ले लेता है। और जब रुपये उधार देता है तो स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न दर से वह ब्याज भी ले लेता है अथवा अपने मूल और उसके ब्याज के पैसे से वह उस

किसान की फ़सल ख़रीद लेता है। जब उसने फ़सल को ख़रीदा तो बाज़ार भाव से फ़ी रुपया पीछे सेर आध सेर अधिक लेता है। ब्याज का दर बहुधा एक महीने के लिये दो रुपये सैकड़ा होता है।

साहूकार और किसान का हिसाब साल में दो दफ़े होता है। एक तो ख़रीफ़ की फ़सल के बाद दिवाली के आस-पास, दूसरा रबी के फ़सल के बाद जेठ के दशहरे के आस-पास। साहूकार हिसाब करते समय कुछ और किसानों के सामने अपने किसान को पिछले छ महीने का सारा लेन देन दिन और तारीख़ के अनुसार सुनाता है फिर उससे क़बूल कराकर बाक़ी का हिसाब चुकता करा लेता है। अगर चुकता करने से कुछ लेन-देन बच रहा तो फिर अगले छ महीने के लिये नये खाते में डाल देता है।

ऊपर कहे हुये अनुसार की साहूकारी लगभग सारे भारतवर्ष में चलती ही है। पर उपज के दाम के बढ़ जाने के कारण आजकल इस प्रथा में कुछ हेर-फेर व कुछ व्यभिचार होने लगा है। एक बात बहुधा यह देखने में आती है कि साहूकार जब अनाज उधार देता है तो खाते में किसान के नाम अनाज न लिखकर, बाज़ार भाव से उस अनाज का फ़ी रुपया सेर आध सेर कम दाम लगाकर रुपया ही खतिया लेता है, और फिर उस रुपये पर प्रतिमास दो रुपया सैकड़ा के हिसाब से ब्याज भी लगाता है। फिर मूलधन और सूद को मिलाकर फ़सल के बाद बाज़ार भाव से फ़ी रुपया सेर आध सेर अधिक लगाकर किसान की फ़सल को खरीद लेता है। यह व्यभिचार पुराने साहूकारों में नहीं पाया जाता है। यह तो नये साहूकार ही करते हैं। सब साहूकारों में यह एक बात बराबर पाई जाती है कि जो साहूकार अनाज वापस लेता है उसमें की अच्छी अच्छी चीज़ें बाज़ार में आकर बेंच आता है और मामूली चीज़ों को फिर किसानों को उधार में दे देता है।

कभी कभी छोटे छोटे व नये नये साहूकारों में एक और बात भी पाई जाती है कि उनके पास तौलने के तीन-तीन बाट होते हैं। हल्के बाट से तौलकर वह किसानों को देता है और भारी बाट से तौल कर उनसे लेता है, पर जब कोई सरकारी अफ़सर जाँच के लिये आ गया तो फिर उन दोनों को छिपा कर असली बाट दिखला देता है।

दसवाँ अध्याय

हिंदुस्तान में खेती की क्रियायें

भारत में कृषि-वर्ष को फ़सली साल कहते हैं। वह कुआर बदी एक से आरंभ होकर बारह महीने के बाद भादों सुदी अमावस को ख़तम होता है। बहुत से स्थानों में एक साल में दो फ़सलें होती हैं, एक खरीफ़ और दूसरी रबी। खरीफ़ जेठ से लेकर कातिक तक और रबी कातिक से लेकर बैसाख तक चलता है। खरीफ़ में निम्नलिखित चीज़ें बोई जाती हैं जैसे मक्का, ज्वार, बाजरा, कपास, उरद, मूँग, रमास या बोड़ा, अरहर, अंडी, तिल, सन, धान, इत्यादि। रबी में गेहूँ, जव, चना, मटर, सरसों, अलसी, इत्यादि।

भारत में वर्षा ऋतु से कृषिकर्म आरंभ हो जाते हैं। इसके पहिले किसान अपने खेतों में खाद डाल कर उन्हें तैय्यार रखता है। यह काम वर्षा आरंभ होने के लगभग दस या पंद्रह दिन पहले हो जाता है। बहुधा भारत के किसी किसी हिस्से में जून के आरंभ में ही वर्षा का आरंभ हो जाता है व किसी किसी स्थान में इससे कुछ देर बाद आरंभ होता है। खाद डालने का कोई ख़ास मार्के का ढंग नहीं होता। घूर से किसान उन्हें उठाकर अपने खेतों में कुछ समान समान दूरी पर छोटी छोटी ढेरियों में रख देता है। एक बार दो-तीन दिन तक अच्छी वर्षा हो जाने के बाद जब खेत में ओट आ जाती है

तब वह खेत जोत दिया जाता है। फिर खाद को फावड़े से खेत में फैला देते हैं। फिर एक बार हल चलाने के बाद उस पर पाटा चला देते हैं जिससे सब ढेले फूट फूट कर चारों तरफ़ अच्छी तरह से फैल जाते हैं। जिस खेत में फ़सल बोई जाती है उसमें वैसे ही बीज बोने के पहले जुताई की आवश्यकता होती है। मक्का और ज्वार के खेत अक्सर दो बार जोते जाते हैं। बाजरे के लिये एक बार के हल चलने से काम निकल जाता है। कपास के खेत में बीज बोने के पहले तीन-चार बार हल चलाया जाता है। रबी के वे खेत जिनमें गेहूँ, जौ, सरसों, इत्यादि बोना होता है, ज्यादातर ख़रीफ़ की फ़सल बोने के बाद एक दो दफ़ा जोत कर छोड़ दिये जाते हैं जिससे उनमें ख़ूब पानी भरे, और कुआर कातिक में फिर दो तीन दफ़ा जोत कर और पाटा देकर बोये जाते हैं। बार बार जोतने व पाटा चलाने से वह मिट्टी एक रस वाली होकर बीज को ग्रहण करने व उससे पौधा उत्पन्न करने के लायक़ हो जाती है।

इस प्रकार खेतों में खाद डालना खेती की पहिली विधि हुई। दूसरी विधि खेतों की जुताई करना है। जुताई के चित्र अन्यत्र दिए गए हैं।

अब तीसरी विधि उसमें बीज बोना है। बीज दो प्रकार से बोये जाते हैं। एक तो खेत को जोत कर बीजों को चारों तरफ़ हाथ से बखेर देते हैं। इसे हम छिटका या बखेरू विधि कह सकते हैं। दूसरी विधि क्यारू कही जा सकती है। खेतों को बीज बोने के पहले जोत लेते हैं पर बीज बोने के समय फिर से उस पर हल चलाते जाते हैं और साथ ही साथ कूंडों (नाई) के ज़रिये जो कि हल की मूठ के पीछे बँधी रहती है उसी हल द्वारा बनाई हुई क्यारियों में बीज छोड़ते जाते हैं। इन विधियों के चित्र अन्यत्र मिलेंगे।

ख़रीफ़ में मक्का, ज्वार, और कपास के बीज की कूंडी बना कर बोते हैं। बाजरा, उरद और मूग के बीज को बखेर कर बोते हैं।

जब ज्वार को चारे के लिए बोते हैं तो उसके बीज बखेरू विधि से बोये जाते हैं। रबी में चना, मटर और जई बखेर कर बोते हैं। बाक़ी के अनाज कूंडी द्वारा बोये जाते हैं।

खेती में चौथा काम सिंचाई का होता है। हम जैसा कह चुके हैं, भारत में सिंचाई के कई ज़रिये हैं। पर सिचाई का चाहे जो ज़रिया हो दो प्रकार का हो सकता है। या तो सिंचाई बहते हुए पानी से हो सकती है या नीचे के पानी को ऊपर उठा कर। बहते हुए पानी से सिंचाई, या बहती हुई नदी या नहर या तालाब से जो कि खेतों से ऊंचे स्थान में हों एक धारा काट कर व उसे खेतों में पहुँचा कर की जाती है।

नीचे से पानी को ऊपर उठा कर उन्हीं स्थानों में सिंचाई की जा सकती है जहाँ पानी या तो कुएँ से या ऐसी नदी या नाले से निकाला जाता हो जिसकी सतह खेतों से नीचा हो। इनमें से प्रत्येक प्रकार का सिंचाई दो प्रकार की होती है। एक तो वह जहाँ खेत में पानी काट कर उसमें लबालब भर दिया जावे, और दूसरे वह जहाँ पानी बरहा (नाली) बनाकर खेत में ले जाया जावे, फिर एक क्यारी से दूसरी क्यारी में भर दिया जा सके। पहले प्रकार का उपाय बहुधा उन स्थानों में काम में लाया जाता है जहाँ सिंचाई अकसर नहरों द्वारा होती है। दूसरे प्रकार के उपाय उन स्थानों में काम में लाये जाते हैं जहाँ सिंचाई तालाब, कुएँ आदि से भिन्न भिन्न उपायों से पानी उठाकर की जाती है।

यदि वर्षा सब समयों में यथाविधि हो तो ख़रीफ़ में भारत के उन स्थानों में, जहाँ कि प्रति वर्ष ३० इंच से अधिक पानी गिरता है आब-पाशी की ज़रूरत न होगी। जो फ़सलें रबी में बोई जाती हैं उन्हें दो तीन बार सिंचाई की ज़रूरत होती है। इससे सिंचाई केवल रबी फ़सल की बढ़ती के लिये आवश्यक है। ख़रीफ़ में सिंचाई की तभी ज़रूरत होती है जब समय बिलकुल सूखा रह जाता है। कभी कभी यह भी

होता है कि वर्षा बरसात के आरंभ में ख़ूब होती है फिर एकदम बंद हो जाती है। ऐसी हालत में भी ख़रीफ़ में सिंचाई की ज़रूरत पड़ती है। या कभी कभी ऐसा हो जाता है कि बरसात के आरंभ व अंत में अच्छी वर्षा होती है पर बीच में सूखा रहता है। ऐसी अवस्था में भी खरीफ़ में एक दो बार सिंचाई की ज़रूरत पड़ती है। अन्यथा ख़रीफ़ के लिये सिंचाई बहुत ज़रूरी नहीं है।

खेती की पाँचवीं विधि निराई और गोड़ाई होती है। इसके चित्र भी अन्यत्र देखिए।

पाश्चात्य देशों में निराई व गुड़ाई ये दो भिन्न भिन्न काम होते हैं व दो भिन्न भिन्न औज़ारों द्वारा किये जाते हैं। किंतु भारत में दोनों काम एक साथ खुरपी जैसे साधारण वस्तु से किये जाते हैं। इस विधि से मिट्टी इधर-उधर होकर पौधों की जड़ों के चारों तरफ़ ठीक हो जाती है व बेकार पौधे उखाड़ कर फेंक दिये जाते हैं। पौधों के चार या पाँच इंच ज़मीन के ऊपर निकल आने पर पहली गुड़ाई की जाती है। ख़रीफ़ के प्रत्येक दस-पंद्रह दिन के बाद निराई करनी पड़ती है क्योंकि पानी तो बरसात भर गिरता ही रहता है और जंगली घास-पात बार बार पैदा होते रहते हैं, बार बार निराई करे बगैर नहीं बनता। रबी में गोड़ने और निराने का काम प्रत्येक सिंचाई के चार-पाँच दिन बाद ही किया जाता है। निराई का काम बहुधा स्त्रियाँ करती हैं। खेती का छठवाँ काम फ़सल का काटना होता है, ख़रीफ़ की लगभग सब फ़सलें कातिक में पक कर तैय्यार हो जाती हैं। सबसे पहले मक्का तैय्यार होती है जो कि भादों में कट जाती है। कपास अगहन और पूस में तैय्यार हो जाती है। अरहर और अंडी रबी के फ़सल के साथ बैसाख में काटी जाती है। रबी की सब फ़सलें बैसाख के आख़िर तक कट जाती हैं। धान के दो प्रकार होते हैं, औस या धान, और अमा या जड़-हन। औस तो कुआर में कट जाता है और अमा अगहन में कटता है।

फ़सल काटने में अकसर हंसिया ही काम में लाया जाता है। पुरुष काटते जाते हैं और स्त्रियाँ उनके गट्ठे बाँधती जाती हैं।

कृषि-कर्म की सातवीं विधि गहना या दँवाई है। फ़सल को काट लेने के बाद उसे खलिहान में ले जाते हैं। वहाँ वह गहने दायने के पहले सूखने के लिये फैला दी जाती है। खलिहान एक खुली हुई जगह का छोटा या बड़ा अहाता होता है। फ़सल सूख जाने के बाद गोल फैला दी जाती है। उसके बीच एक खूँटा गाड़ कर उसमें एक लंबी डोरी बाँध देते हैं। उस डोरी में आठ-दस बैल एक साथ बाँधकर उस खूँटे के चारों ओर बार बार चलाते हैं। इसे दायँ चलाना कहते हैं। इससे दाने और पयाल अलग अलग हो जाते हैं। दायँ चलाते समय दो या दो से अधिक बैल और दो मज़दूर काम में लाये जाते हैं। एक आदमी तो बैलों को हाँकता रहता है व दूसरा पंचागुरा से वहाँ पड़ी हुई फ़सल को उलटता रहता है ताकि सभी पर दायँ चल जावे। इसका भी चित्र अन्यत्र मिलेगा।

कृषि-कर्म की आठवीं व अंतिम विधि परतवाई, ओसाई या उड़ाई की होती है। दायँ चलाने के बाद निकले हुए अनाज को एक आदमी सूप या डलिया में ज़मीन से अपने सिर की ऊंचाई तक ऊपर उठाकर उस सूप को हिलाता जाता है जिससे दाने तो उसके पास ही गिर जाते हैं व भूसा दूर उड़कर दानों से अलग जा गिरता है। दूसरा आदमी उसे डलिया भर भर कर उड़ाने के लिये देता जाता है जैसा कि चित्र में दिया गया है। अगर हवा काफ़ी न चलती हो तो इसके लिये चार आदमी लगते हैं। दो तो ऊपर लिखे अनुसार काम करते जाते हैं व अन्य दो आदमी कपड़े वग़ैरह से झकोरे देकर हवा करते जाते हैं।

दायँ चलाने और पड़तवाई या ओसावन के चित्र देखिए।

ग्यारहवाँ अध्याय

हिंदुस्तान में खेती पर प्रकृति का वश

अब तक हमने यह बताने की चेष्टा की है कि खेती का मुख्य उद्देश्य यह है कि एक प्रकार के पौधों को एक स्थान में एकत्रित करके उनके जीवन के लिये वे सब सामान या ज़रिये पैदा कर दिये जायँ जिनसे कि उनकी उपज व बढ़ती अच्छी तरह से हो। साथ ही हमने यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि भारतीय किसान किन किन औज़ारों और किन किन विधियों को अपनी फ़सल की प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुसार काम में लाते हैं। अब इस अध्याय में हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय किसान जिन औज़ारों व जिन विधियों को काम में लाते हैं वे खेती की ज़रूरतों को पूरा करने में कहाँ तक सफल होते हैं।

इस संबंध में हम सब से पहले जोताई में जो औज़ार और जो विधियाँ काम में लाई जाती हैं उनकी जाँच करेंगे। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, जोताई का उद्देश्य मिट्टी की आन्तरिक अवस्था को उसमें बोई जाने वाली फ़सल के अनुसार बना देना है। यदि हम व्यवहार में यह देखें कि किसान फ़सल फ़सल के अनुसार भिन्न भिन्न

प्रकार से जोतता है तो हम भली भाँति यह कह सकते हैं कि उसे यह भी मालूम है कि भिन्न भिन्न फ़सल के लिए उसकी ज़मीन की अवस्था कैसे कैसे बदलनी चाहिए। इस प्रकार हम व्यवहार में यह देखते हैं कि जिन पौधों की जड़ें मज़बूत होती हैं और जो अधिकतर (जैसे कि बाजरा, ज्वार, मक्का इत्यादि) खरीफ़ की फ़सल में बोये जाते हैं जब पानी काफ़ी गिरता है तो किसान उन खेतों को केवल एक दो बार ही जोतता है और अधिक गहरा जोतने की कोशिश नहीं करता। पर कपास जैसे पौधों के लिये जो ख़रीफ़ की फ़सल में बोये जाते हैं वह तीन-चार बार जोतता है, बहुत गहराई तक जोतता है और ढेलों को फोड़ देने के लिए होशियारी से पाटा या कोपट चलाता है, और मिट्टी को महीन बना देने के लिये हर तरह से कोशिश करता है, जिससे उसमें कपास की जड़ें मज़बूती से पकड़ ली जावें, पर साथ ही बरसात में उस ज़मीन में काफ़ी पानी बिंध जावे, जो बरसात ख़तम होने पर भी उसमें क़ायम रहे और जो सूखे दिनों में पौधों के काम आवे।

रबी की फ़सल में पौधे अधिकतर ऐसे बोये जाते हैं जिनकी जड़ें बारीक होती हैं, जैसे गेहूँ, जौ आदि की जड़ें। जब ये फ़सलें बोई जाती हैं तब किसान बार बार जोताई करता है। वह गहराई तक जोताई करता है तथा बार बार पाटा या पटेला उस पर चलाता है, ताकि मिट्टी बहुत महीन हो जावे, उसमें पौधों की जड़ें मज़बूती से पकड़ लें, व उस मिट्टी में पानी ख़ूब बिंध सके। पर जब उस खेत में चना जैसी साधारण फ़सल को बोता है तो वह उसमें अधिक जोताई नहीं करता और न पाटा पटेला चला कर उस खेत की मिट्टी को महीन करने की ही परवाह करता है।

हम देखते हैं कि भारतीय किसान बीज बोने के समय भी फ़सल फ़सल की प्रकृति के अनुसार, व जिन भिन्न भिन्न उद्देश्यों से वह उन पौधों को बोता है उसके अनुसार बीज बोने के भिन्न भिन्न उपायों

को काम में लाता है। इस प्रकार जो पौधे चारे के लिये बोये जाते हैं, जैसे ख़रीफ़ में चरी, और रबी में जई, उनके बीजों को वह बखेर कर बोता है। पर जब मक्का, ज्वार, गेंहू आदि फ़सलों को बोता है तो बड़े ध्यान से बराबर बराबर दूरी पर, बराबर बराबर खुदी हुई कूड़ों में, नाई द्वारा बोता है। और जब वह चना तथा मटर जैसे पौधों को बोता है, जो कपास या गेहूँ की तरह नाज़ुक नहीं होते, तो उनके बीजों को भी वह बखेर कर बोता है। पर जब चना या मटर को गेहूँ जौ आदि मुख्य फ़सल के साथ बोता है तब तो उन्हें भी कूड़ों में नाई द्वारा बोता है।

हमारे कथन का, कि भारतीय किसान अपने खेत की व अपनी फ़सल की अवस्थाओं के अनुसार भिन्न भिन्न औज़ारों व भिन्न भिन्न उपायों को काम में लाता है, यहाँ की सिंचाई की प्रथाओं से भी बहुत कुछ समर्थन होता है। जिन स्थानों में नहरें हैं व जहाँ काफ़ी पानी मिल जाता है वहाँ के खेतों में वह एकदम से पानी भर देता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार किसान अपने खेतों में बरसात के दिनों में क्यारियाँ बनाने की परवाह नहीं करता; पर रबी में, ख़ास कर उन स्थानों में जहाँ कि पानी कुएँ व तालाबों से लिया जाता है, क्यारी की प्रथा बहुत प्रचलित है।

इसी प्रकार पानी को ऊपर उठाने के उपायों में स्थान स्थान के अनुसार अंतर होता है। जिस स्थान में अधिकतर कुएँ से पानी लिया जाता है वहाँ जहाँ कुएँ गहरे होते हैं पानी ऊपर उठाने का सब से साधारण तरीक़ा पुर चला कर पानी निकालने का है। जहाँ कुएँ कम गहरे होते हैं वहाँ ढेंकली से पानी निकालते हैं। यही नहीं, साथ में हम यह भी देखते हैं कि जिन स्थानों ऐसे पोखर या तालाब से पानी लेना होता है जो खेतों की सतह से नीचे हों, वहां कलचा या दुगला प्रथा से पानी ऊपर उठा कर सिंचाई करते हैं। खेतों की सिंचाई

में भी इन्हीं प्रथाओं से काम लेते हैं। जहाँ कहीं किसान को सरलता पूर्वक नदी या नहर से पानी मिल जाता है, वहाँ वह बड़ी लापरवाही से पानी लेता जाता है, और अपने खेतों को उससे मनमाना भर लेता है। पर जिन स्थानों में वह कुएँ या तालाब से पानी निकालता है वहाँ बड़ी सावधानी रखता है। ऐसी अवस्था में वह खेतों में छोटी छोटी क्यारियाँ बना लेता है। तब तो खेत में वह मनमाना पानी नहीं भरता। ज़रूरत के अनुसार एक क्यारी के बाद दूसरी क्यारी में पानी लेता जाता है। निराई और गोड़ाई साथ ही की जाती है, जैसा कि हम इसके पहले कह चुके हैं। अब हम यही बताना चाहते हैं कि फ़सल फ़सल के अनुसार व समय समय के अनुसार किसान भिन्न भिन्न प्रकार से निराई और गोड़ाई करता है। निराई व गोड़ाई के ख़ास दो मतलब हैं। पहले तो एक फ़सल के साथ उसी खेत में दूसरे पौधों के पैदा हो जाने से दोनों में भोजन प्राप्त करने में प्रतिद्वंद्विता हो जाती है, वह प्रतिद्वंद्विता निराई गोड़ाई से दूर हो जाती है क्योंकि ऐसा करके दूसरे पौधे वहाँ से हटा दिये जाते हैं। दूसरे इससे मिट्टी तोड़ तोड़ कर महीन कर दी जाती है जिससे उसमें पानी के अभाव की शिकायत दूर हो जाती है। देखने से यह पाया गया है कि ख़रीफ़ में जब कि अक्सर पानी गिरता रहता है, किसान इन दूसरे पौधों को हटा देने ही की फ़िक्र में रहता है और खुरपी को बहुत नीचे तक नहीं मारता। और यह भी देखा गया है कि निराई या निंदाई करने में खुरपी से वह बहुत कम काम लेता है व अपने हाथ से ही बेकार पौधों को उखाड़ता जाता है। पर रबी में खुरपी सदैव नीचे तक मारी जाती है जिससे मिट्टी महीन हो जावे। इन सब बातों से मालूम होता है कि निराई और गोड़ाई के वैज्ञानिक महत्व का ज्ञान किसान को है और वह अपने ज्ञान से पूरा फ़ायदा उठाना चाहता है।

ऊपर के कथन से हम यह कह सकते हैं कि औसतन एक भारतीय

किसान को खेती की विभिन्न विधियों के वैज्ञानिक महत्व का कुछ ज्ञान अवश्य है। भिन्न भिन्न स्थानों में खेती के एक ही काम के लिये जो भिन्न भिन्न प्रकार के औज़ार व भिन्न भिन्न विधियाँ काम में लाई जाती हैं उन सब से यही मालूम होता है कि भारतीय किसान अवस्थाभेद के अनुसार खेती-बारी के लिये अपनी शक्ति भरसक लगा देता है। कुछ लोगों का यह विचार है कि भारतीय किसान मूर्ख हैं और वंश-परंपरा के व्यवहारों का ही अनुकरण करने वाले हैं। पर इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। पहले तो यही समझ लेना मूर्खता है कि वंश-परंपरा के सब व्यवहार व्यर्थ और अवैज्ञानिक हैं। खेती के परंपरागात व्यवहारों के कुछ ऐसे पहलू हैं कि जिनको वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से जब हम जाँच करते हैं तब हमारे मन में दृढ़तापूर्वक यही विचार उठता है कि वे व्यवहार पूर्व ही बहुत सोच-विचार करके निर्धारित किये गये होंगे। हिंदुस्तान में एक ही खेत में एक से अधिक फ़सलें जो एक ही साथ बोई जाती हैं इससे बढ़ के और कोई इस बात का उदाहरण नहीं मिलता कि वंशपरंपरा के कुछ व्यवहार अवश्य ही वैज्ञानिक सिद्धांतों पर निर्भर हैं। ख़रीफ़ के समय में हम बहुधा यह देखते हैं कि जब कभी ज्वार चारे के लिये बोई जाती है तो वह एक खेत में अकेले ही बहुत घनी बोई जाती है। एक पौधे और दूसरे पौधे के बीच बहुत कम अंतर होता है। पर जब वह मनुष्यों के खाने के लिए बोई जाती है तो वह बराबर बराबर एक दूसरे से चार-चार पाँच-पाँच फ़ीट की दूरी पर क़तार क़तार में बोई जाती है, और ज्वार की दो क़तारों के बीच में अरहर बो दी जाती है। अरहर एक ऐसा पौधा है जिसकी जड़ों में एक प्रकार के कीटाणु (bacteria) होते हैं जो कि हवा से नोषजन (Nitrogen) लेकर ज़मीन में नोषेत (Nitrate) बना देते हैं। इस नोषेत (Nitrate) से ज्वार के दाने इस प्रकार नोषजन (Nitrogen) से भरे हुये पैदा होते हैं जो खाने में बहुत लाभ-

दायक होते हैं। इसी प्रकार जब बाजरा मनुष्यों के खाने के लिए बोया जाता है तब बाजरा की दो कतारों के बीच में बहुधा उर्द, मूँग, या रमास बो दी जाती है। इनकी जड़ों में भी उसी प्रकार के कीटाणु (bacteria) होते हैं जो हवा से नोषजन (Nitrogen) लेकर ज़मीन में नोषेत (Nitrate) बना कर ज्वार की तरह बाजरे के पौधों को भी लाभ पहुँचाते हैं। इसके सिवाय बाजरा एक ऐसी फ़सल है जो रेतीली ज़मीन में बोई जाती है जिससे पानी बहुत जल्द बहुत अधिक परिमाण में निकल जाता है। उर्द, मूँग और रमास के पौधे बेलें होती हैं। वे ज़मीन पर फैल कर बाजरे के दो क़तारों के बीच की ज़मीन को अपनी हरी पत्तियों से पूरी ढक लेती हैं। इस प्रकार से एक बड़े भारी परिमाण में पानी को भादों और कुँवार के गरम दिनों में ज़मीन से भाप बन कर उड़ने से बचाती हैं। जिन खेतों में कपास बोई जाती है उनमें बहुधा अरहर भी बोई हुई पाई जाती है। अरहर अपनी जड़ों के कीटाणु (Bacteria) द्वारा ज्वार की तरह कपास के पौधों को भी नोषजन (Nitrogen) पहुँचाता है। इसके सिवाय वह शीत काल के पहले से भी कपास जैसे नाज़ुक व झाड़ीदार पौधों की रक्षा करता है। अकसर यह देखने में आया है कि पूस में पाले से अरहर के पौधे तो मर जाते हैं और पास ही के कपास के पौधे बच जाते हैं। इसका कारण यही है कि अरहर कपास की अपेक्षा अधिक ऊँची और घनी होती है जिससे सरदी को अपनी तरफ़ खींच कर कपास के पौधों की रक्षा करती है। इसी प्रकार रबी में भी दो फ़सलें एक साथ बोई जाती हैं उनका भी कुछ वैज्ञानिक अर्थ होता है। रबी में अक्सर गेहूँ और चना का, जौ और मटर का, जौ और चना का साथ पाया जाता है। यहाँ भी खाने के अनाज के पौधे और कीटाणु (bacteria) वाले पौधे का साथ होता है। खरीफ़ की तरह यहाँ भी साथवाले मुख्य फ़सल के दानों को नोषजन (Nitrogen) वाले तत्व पहुँचाना ही एक उद्देश्य है।

ऊपर के कथोपकथन से हम देखते हैं कि हिंदुस्तान में खेती के वर्तमान तरीक़ों से यह साफ़ प्रकट होता है कि वे सब ग़लत तरीक़े नहीं हैं उनमें से बहुत से वैज्ञानिक सिद्धांतों पर निर्भर हैं व उनका एकदमसे तिरस्कार नहीं कर देना चाहिये। वर्तमान तरीक़ों का दोष यह नहीं है कि वे इस अर्थ में अवैज्ञानिक हैं कि उनके सिद्धांतों में विवेक नहीं हैं, पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हिंदुस्तान में खेती के वर्तमान तरीक़े बहुत ही भले हैं व उनमें परिवर्तन की बिलकुल भी आवश्यकता नहीं है। कम से कम मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि जो तरीक़े निकाले गये थे वे बहुत ही विचार के साथ उन दिनों में विज्ञान का जो दर्जा था उसी के अनुसार निकाले गये थे। हमारे खेती के तरीक़ों में मुख्य दोष यह है कि वह अवस्था बदल जाने के अनुसार व ज्ञान के विस्तार के अनुसार बदलते नहीं रहे हैं। वे तरीक़े समाज की उस अवस्था में निकाले गये थे जब कि प्रत्येक समुदाय सब से परे, स्वतंत्र व स्वावलंबी था जिसमें खेती के लिये काफ़ी ज़मीन मिल सकती थी जहाँ मनुष्य-संख्या अधिक न थी और जहाँ के खेती के तरीक़े बहुत विस्तृत थे। हमारी खेती-बारी की उन्नति करने के लिये इस बात की ज़रूरत नहीं है कि वर्षों के एकत्रित किये हुये अनुभवों को एकदम दूर कर दें जिनका कि प्रकाश हम अपने सादे औज़ारों में व खेती के सादे तरीक़ों में देखते हैं। पर उनमें इस प्रकार परिवर्तन कर देना चाहिये कि समाज की अवस्था, भेद व ज्ञान के विस्तार के साथ साथ लागू हो सकें। मैं इसी से खेती के तरीक़ों में परिवर्तन करने के विरुद्ध नहीं हूँ। पर परिवर्तन केवल परिवर्तन के नाम के लिये ही करने के विरुद्ध अवश्य हूँ। उनमें केवल उतने ही परिवर्तन किये जावें जो समाज के आधुनिक जीवन के लिये लागू हों। अगर यह पता लगे कि खेती की प्राचीन प्रथा बिल्कुल व्यर्थ है तभी मैं इस आद्योपान्त परिवर्तन का समर्थन करूंगा।

विषय प्रवेश

पहले भाग में हमने हिन्दुस्तान की खेतीबारी की वर्तमान अवस्थाओं के दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है और अन्तिम अध्याय में उन अवस्थाओं की सरसरी निगाह से जाँच करने का भी प्रयत्न किया है, और इस नतीजे पर आये हैं कि खेती की वर्तमान अवस्था सब पक्के विचारपूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्भर हैं। हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि वे वैज्ञानिक सिद्धान्त हिन्दुस्तान में वर्षों पूर्व निर्धारित किये गये हैं जब कि आधुनिक समय की अपेक्षा भूमि, परिश्रम व मूल-धन की अवस्था बिल्कुल ही दूसरी थी। हमने यह भी देख लिया है कि खेती के तरीक़ों में आद्योपांत परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। उनमें केवल थोड़ा सा उलट-फेर इस प्रकार कर देने की आवश्यकता है कि वे सब वर्तमान आर्थिक अवस्था तथा आर्थिक व वैज्ञानिक ज्ञान के लिये लागू हो जावें। हमें यह विश्वास हो गया है कि खेती के वर्तमान तरीक़े बिल्कुल विवेकपूर्ण हैं। अब हम उनमें उन्नति करने के कुछ ऐसे उपायों का वर्णन करेंगे जिससे वे तरीक़े बिल्कुल नवीन उन्नतिशील तरीक़ों के दर्जे में आ जावें। ऐसा करने में हम सदैव दो बातें ध्यान में रक्खेंगे। पहले तो हमारा वही नतीजा जिस पर हम पहले भाग के आख़री अध्याय में पहुँचे हैं अर्थात् वर्तमान तरीक़ों में आद्योपान्त परिवर्तन करने की जहाँ तक सम्भव हो आवश्यकता नहीं है उन्हीं तरीक़ों के आधार पर कुछ उन्नति कर देना है। इस बात को सदैव ध्यान में रखने के दो कारण हैं। एक तो हमें विश्वास हो गया है कि हिन्दुस्तान की खेती में उन्नति करने के लिये उनमें आदि से अन्त तक परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे हमारा यह विचार है कि जो बिल्कुल नई बात होगी उसे तो किसान ग्रहण करने

में सम्भवतः आनाकानी करेगा, पर यदि उसके पुराने तरीकों में ही कुछ थोड़ा सा उलट फेर कर दिया जावे तो उसे अधिक आपत्ति न होगी। हमें सदैव ध्यान में एक दूसरी बात भी रखनी चाहिये, वह यह है कि जो नये उन्नतिशील तरीक़े निकाले जावें वे उतने ख़र्चीले न हों जिनका इस्तेमाल यहाँ के ग़रीब किसान न कर सकें। ऐसा करने में उनकी ग़रीबी का सदैव ध्यान रखना चाहिये। हमें भले ही यह पक्का विश्वास हो जावे कि अमुक विधि या अमुक औज़ार सब से अच्छा है, पर यदि उनमें बहुत पैसा लगता है जो किसान की शक्ति के बाहर है, तो हमारी ऐसी बातों की सिफ़ारिश करने से कोई लाभ न होगा। इससे हम उन्हीं बातों की सिफ़ारिश करेंगे जिन्हें ग्रहण करने की आर्थिक शक्ति प्रत्येक औसत दर्जे के भारतीय किसान को हो। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुये अब हम इस बात की ओर दृष्टिपात करेंगे कि खेती-बारी को उन्नतिशील बनाने में उनमें किस प्रकार के परिवर्तन किये जावें और इसके लिये कहाँ कहाँ विशेष परिवर्तन की आवश्यकता है।

बारहवाँ अध्याय

खेती की ज़मीन का सुधार

हिंदुस्तान के भिन्न भिन्न प्रकार की भूमि के विषय में विचार करते समय हमने यह देखा है कि वर्तमान जन-संख्या से खेती के वर्तमान रक़बे की तुलना करने से प्रति किसान पीछे औसतन केवल २'०३ एकड़ ज़मीन ही है। इस पर हमने यही टीका की थी कि इतनी थोड़ी सी ज़मीन किसान को सारे ३६५ दिन के लिये काम नहीं दे सकती और यह किसानों की ग़रीबी का एक मुख्य कारण है। अब हम यदि प्रति किसान पीछे ज़मीन की तादाद को बढ़ा सकें तो उनके लिये अधिक काम बढ़ा देंगे जिससे उनकी आमदनी बढ़ जावेगी। पहले भाग के सातवें अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि भारत में २,१६,८१,७७,००८ एकड़ ज़मीन तो अभी ऐसी पड़ी हुई है जो खेती के लायक़ है, पर उसमें खेती नहीं होती। कारण यह है कि वह ज़मीन ऐसी जगहों में है जो मनुष्यों की आबादी से बहुत दूर हैं। यदि हम घनी आबादी से लोगों को ले जाकर ऐसी जगहों में बसा सकें जहाँ कि ये बेकार ज़मीनें पड़ी हुई हैं तो हमारी यह खेती की ज़मीन की कमी की कठिनाई कुछ हद तक दूर हो सकती है। हम जानते हैं कि ऐसा करने में बड़ी कठिनाइयाँ हैं, क्योंकि लोगों को घर-बार छोड़कर दूर ले जाना कोई सरल बात नहीं

है। पर यह जानते हुए कि पंजाब में पहले के बसे हुए ज़िलों में से लोग नहर के पास (पंजाब-नहर-उपनिवेशों में) आकर काफ़ी संख्या में बस गये हैं, हम इस विषय में एकदम निराश नहीं हो जाते व इसके लिये प्रयत्न करना उचित समझते हैं। इसकी सफलता के लिये भारत के ग़रीब किसानों को वैसा ही उत्साह दिलाना चाहिये व उनके लिये वैसे ही सुभीते कर देना चाहिये जैसे कि पंजाब में किये गये थे व ग्वालियर राज्य में अभी भी किये जा रहे हैं।

ऊपर जिस ज़मीन की चर्चा की गई है उसके सिवाय अब जो सैकड़ों एकड़ ज़मीन खेती के लिये अयोग्य है, उसके दोषों को दूर करके भी वह खेती के काम में लाई जा सकती हैं। इस प्रकार खेती की ज़मीन की कमी की कठिनाई और भी दूर हो सकती है। हम सातवें अध्याय, भाग १ के अंत में कह चुके हैं कि ऐसी ज़मीन पाँच प्रकार की है यथा (१) जहाँ पानी बहुत ही कम गिरता है, (२) जो दलदल हैं व जिन पर हमेशा पानी बना रहता है, (३) बीहड़ ज़मीन, (४) रेहार ज़मीन, (५) पथरीली ज़मीन जिसमें बहुत लोहा व कोयला पाया जाता है। उसी स्थान में हम यह भी कह चुके हैं कि इनमें से पहले चार प्रकार की ऐसी ज़मीनें हैं जिनके दोषों को दूर करके खेती के लायक़ बनाया जा सकता है। अब हम यहाँ उनमें से एक एक के दोषों को दूर करने के उपाय बतलावेंगे।

भारत में कुछ ऐसी ज़मीनें हैं जहाँ पानी बिल्कुल न मिलने से उनमें खेती नहीं हो सकती। ऐसी ज़मीनें बहुधा पंजाब के दक्षिण-पश्चिम में, सिंध, राजपूताना, मध्यभारत और दक्षिण की उच्च समभूमि में पाई जाती हैं। पंजाब में ऐसी ज़मीन हज़ारों एकड़ में सुधार करके खेती के काम में ला दी गई हैं और उनमें पंजाब और सिन्ध के हिस्सों में काफी फ़सल हो रही है। उन की और उन्नति करने के लिये उन्हीं नियमों के, जहाँ जहाँ संभव हो, विस्तार करने की आवश्यकता है,

यथा नहरों का विस्तार। इस प्रकार की कुछ ऐसी ज़मीनें हैं, जैसे राजपूताने के कुछ हिस्से और दक्षिण की उच्च समभूमि, जहाँ या तो ज़मीन के बेहद रेतीली होने के कारण और वहाँ बड़ी नदियों के न होने से उनमें नहरें नहीं बनाई जा सकतीं; या जैसी कि दक्षिण की उच्च समभूमि में पाई जाती हैं जहाँ उन जमीनों के पहाड़ी होने से और नदियों का उनकी सतह से बहुत नीचे होने के कारण उनमें नहरें नहीं बनाई जा सकतीं और वहाँ पर कुएँ नहीं खोदे जा सकते क्योंकि वहाँ पानी बहुत ही नीची सतह में पाया जाता है। ऐसी ज़मीन में भी पानी नहीं पहुँचाया जा सकता था। पर अब पानी निकालने के ऐसे उन्नतिशील यन्त्र बने हैं जैसे ट्यूब-वेल (tube-well) इत्यादि जिन से नीची से नीची सतह से भी पानी निकालकर सिंचाई की जा सकती है। सन् १९२६ में बंबई प्रांत के पूना शहर में एक कृषि-प्रदर्शिनी हुई थी। उसमें कई प्रकार की ज़मीन में छेद करने वाले यन्त्र दिखाये गये थे। ज़मीन में छेद करने वाले ऐसे यन्त्रों से बंबई में बड़ा लाभ हुआ है। इन यन्त्रों के द्वारा वहाँ की ज़मीन के भीतर की चट्टानों को फोड़कर छेद कर लिया जाता है। फिर उस छेद में पंप डालकर उसके द्वारा पानी निकाल लिया जाता है। राजपूताने के मरुस्थल में इन यन्त्रों का प्रयोग नहीं किया गया है। पर कृषि-विभाग ने अपने इनजिनियरी उपविभाग में कई प्रकार के पंप निकाले हैं जिनसे बड़ी गहराई से पानी निकाला जा सकता है। इन ज़मीनों को इस प्रकार खेती के लायक़ बनाकर और किसान की खेती के लायक़ ज़मीनों का परिमाण बढ़ा कर उसकी बहुत कुछ बेकारी दूर कर सकते हैं।

ट्यूबवेल से सिंचाई करना हिंदुस्तान में और देशों की अपेक्षा एक नई बात है। ऐसे कुएँ अभी सब ग़ैरसरकारी सम्पत्ति ही हैं और संयुक्त प्रांत के सिवाय उनमें ग़ैर-सरकारी पैसा ही लगा है। पर

सरकार इसके विषय में अब लोगों को सलाह देने लगी है और लोगों से उसका उचित मूल्य लेकर उनकी जगह में वैसे कुएँ बना देती है। मध्यप्रांत में यह काम महकमा पब्लिक वर्क्स के हाथों में सौंप दिया गया है, और दूसरे प्रांतों में यह काम कृषि-विभाग के हाथों में सौंप दिया गया है। संयुक्तप्रांत की सरकार ने ट्यूब वेल बनवाने में और स्थानों से अधिक सहायता की है। इस प्रांत में ट्यूब-वेल के लगाने के उपरान्त जो उसके अधिकार में रह जाते हैं टूटे-फूटे का दाम और सरकार ने ज़मीन में छेद करने के यन्त्रों में जो मूल धन लगाया है उसका ब्याज ज़मीदार देता है। संयुक्तप्रांत के कृषिविभाग के डाइरेक्टर के अनुसार पंद्रह इंच चौड़े ट्यूब-बेल का दाम जिससे एक घंटे में ३५,००० गेलन पानी निकल सकता है इस प्रकार है:—

(१) किसान ने दिया	८००० रुपये
(२) सरकार ने लगाया (१९२६ में)	४९८७ रुपये
(३) व्यय प्रतिशत टूटे-फूटे का दाम व सरकारी मूलधन का ब्याज छ प्रतिशत	९६० रुपये
कुल	१३,९४७ रुपये

इस प्रकार एक कुएँ में जिसका कुल दाम लगभग १४००० रुपये होते हैं सरकार अपनी ओर से लगभग ६००० रुपये लगाती है।

खेती के अयोग्य ज़मीन की दूसरी क़िस्म जिनके दोषों को दूर करके उन्हें खेती के काम में ला सकते हैं वह है जिसमें बहुधा ज़रूरत से ज्यादा पानी बना रहता है। ऐसी ज़मीन एक बड़े भारी परिमाण में हिमालय के नीचे पाई जाती है जिसे तराई कहते हैं। पूर्वी बंगाल का सुन्दरबन भी ऐसी ही ज़मीन का उदाहरण है। ऐसी ज़मीन को खेती के लायक़ बना देने के लिये हिन्दुस्तान में बहुत कम कोशिश की गई है। जैसे कुछ ज़मीनों में पानी की कमी के कारण खेती नहीं हो सकती और उनमें आबपाशी के ज़रिये

निकाल कर उसको खेती के लायक़ बना सकते हैं, वैसे ही ज्यादा पानी वाली ज़मीनों में अमेरिका की तरह यहाँ भी ऊपर की सतह में तथा ज़मीन के भीतर नालियाँ बनाकर उसमें के बेकार पानी को बाहर कर सकते हैं। इन तराइयों में जो पानी गिरता है उसमें का एक बड़ा हिस्सा नदियों में बहकर समुद्र में जा मिलता है। यह पानी उन तराइयों में समा जाता है जिसके कारण उसमें खेती नहीं होती। इस प्रकार तराई की ज़मीन ख़राब तो होती ही है साथ ही पानी के नदियों में बह जाने या तराई में समा जाने के कारण नीचे के मैदान में भी उचित परिमाण में पानी नहीं पहुँच पाता जिससे मैदान पर की खेती भी घाटे में रह जाती है। इससे नदियों द्वारा बहते हुये पानी को नाली बनाकर नीचे के मैदानों की ओर ले आना चाहिये तथा तराई की ज़मीन के भीतर भी नालियाँ बनाकर उसमें के सारे बेकार पानी को बहाकर उन्हीं नालियों में मिला देना चाहिये ताकि एक तो तराई का बेकार पानी भी निकल जावे और दूसरे वही पानी नीचे के मैदानों की सिंचाई में काम आ सके।

ऐसी ज़मीनों को खेती के लायक़ बनाने के लिये ज़मीन की ऊपरी सतह में तथा उसके भीतर भी नाली बनानी ज़रूरी है। यह काम अधिक कठिन नहीं है। पूना की कृषिप्रदर्शिनी में, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, इस बात का प्रयोग करके दिखलाया गया था कि ज़मीन के नीचे कैसे सुभीते से नालियाँ बना दी जा सकती हैं। प्रयोग के लिये उन्होंने इस प्रकार से प्रबन्ध किया था। ज़मीन की ऊपरी सतह से ७-८ फ़ीट की गहराई में छप्पर छवाने के मामूली खपरों को एक दूसरे से सटा हुआ बिछाकर नाली बनाई थी। फिर इस खपरे की नाली को नरियों से इस तरह से ढक दिया था कि दो नरियों के बीच में थोड़ी सी संध छूट जावे। ऊपर का सोखा हुआ पानी नीचे आकर इस बीच की जगह से बह जाता था।

जब पानी खूब जोरों से गिरता रहता है तभी भारत में पानी के निकास (Drainage) का सवाल महत्व का होता है। उस समय की वर्षा ऐसी जोरदार होती है कि बहुत सा पानी खेतों पर से होकर व उसके गुणकारी तत्वों को साथ लेकर नदी की ओर बह जाता है। इसी का नाम धरती का छीजना या कटना (Soil erosion) है। कभी कभी तो ऊपर से नदी की ओर बहता हुआ पानी बीच में भर कर इकट्ठा हो जाता है। मैदान के गंगवार (alluvial) और प्रायद्वीप की ज़मीन दोनों स्थानों में पानी के संचालन की बेहद कमी है। ज़रूरत से ज्यादा पानी सदैव नालियों में जा मिलता है और उसे शीघ्र ही ज़मीन सोख लेती है। इस अमूल्य पानी की हानि के साथ साथ सदैव मिट्टी धुलती जाती है व उस ज़मीन की उपज शक्ति बहती जाती है। ज़मीन की दूसरी सतह त्रितल (sub-soil) में कभी कभी काफ़ी पानी नहीं होता जिससे कि कुछ दिनों तक वर्षा न होने से पौधों को उसमें का पानी मिल जाता। इससे व उसके तत्वों के बह जाने से खेत की सदैव की उपज-शक्ति कम हो जाती है। कहीं ज़मीन को वर्षा व पानी के बह जाने का साथ ही मुक़ाबिला करना पड़ता है जिससे किसी एक जगह पानी इकट्ठा हो जाता है जहाँ बार बार परन्तु धीरे धीरे पानी गिरता रहता है वहाँ की ज़मीन पर पानी भरा हुआ नहीं रहने पाता क्योंकि वह ज़मीन अच्छी तरह से सोखती जाती है। वहाँ की मिट्टी धुलकर उसमें की उपज-शक्ति बहकर बाहर नहीं जाने पाती।

पानी के ज़मीन पर से संचालन करने पर अधिकार न रहने से जो बुरा नतीजा होता है उसके कई उदाहरण हैं। जमुना के दाहिने किनारे पर हज़ारों एकड़ बढ़िया ज़मीन बरबाद हो गई है क्योंकि उसके किनारे की ज़मीन कटफट कर चारों तरफ बीहड़ हो गई है जिससे बरसात के दिनों में सिवाय घास के उस पर कुछ नहीं उगता। यह खड्ड, या बीहड़ ज़मीन (Ravines) पहले अच्छी उपजाऊ जगह

थी किन्तु मनमाने पानी के बहाव से उसकी आज यह दशा हो गई है। प्रति वर्ष उसका विस्तार बढ़ता ही जा रहा है। पहले जिन गाँवों के चारों ओर अच्छे उपजाऊ खेत थे वहां भी अब उन्हीं कारणों से खड्ड पाये जाते हैं। पर इतनी अधिक तादाद में ज़मीन बर्बाद हो चुकी है कि उस सब का सुधार लेना आसान नहीं। फिर उस पर खर्चा भी बहुत लग जावेगा।

ऐसी बीहड़ ज़मीन का अधिक विस्तार प्रायद्वीप में, यथा मध्यभारत, ग्वालियर, मध्यप्रान्त, बम्बई में पाया जाता है। यदि केवल सतह पर के पानी में बहाव पर ही अधिकार रहता तो ज़मीन की उपज-शक्ति का इस प्रकार नाश न होता व ज़मीन को पानी सोख लेने का अवकाश मिलता। इस प्रकार पानी के सोख जाने से ज़मीन की उपज-शक्ति का बह जाना रुक जाता। फ़सल उसमें अच्छी होती या पानी की सतह भी ऊपर उठ आती जिससे कुएँ शीतकाल व गर्मी के दिनों में भी काम देते रहते। कुछ स्थानों में तो नदी के किनारे की सारी की सारी ज़मीन की मिट्टी बह जाती है या नीचे चट्टान जैसी कड़ी ज़मीन या वितल (Sub-soil) भर रह जाती है जिसमें मुश्किल से जंगली बौने पौधे भर उगे रहते हैं। मिट्टी के तत्वों के बहाव की व उस ज़मीन को बीहड़ हो जाने से रोकने के लिये दो बातों से बड़ी सफलता मिली है। पहली बात तो ज़मीन की ऊपरी सतह में नालियाँ बनाने के साथ साथ बीहड़ के नदी के किनारे के हिस्से में बाँध बनाना है ताकि वहाँ का जरूरत से ज्यादा आया हुआ पानी उस बाँध के ऊपर से तो बह जावे पर उस पानी के साथ बहने वाले उस ज़मीन का सारा तत्व उस बाँध से रुक जावे। इन नालियों से ऊपर के हिस्से में पानी के बहाव का संचालन होता है। उस पानी को पक्की नालियों में बहाने से उसका वेग कम हो जाता है जिससे वह सामने की ज़मीन को काटते नहीं पाता और जो बाँध बीहड़ के नदी के

तरफ़ के हिस्से में बनाये जाते हैं वे पानी के वेग को रोक लेते हैं। इससे जब पानी उस बाँध से टक्कर खाता है तो उसके साथ साथ बहनेवाला मिट्टी का सार तत्व उस बीहड़ में जमा हो जाता है। परिणाम यह होता है कि यह बीहड़ ज़मीन कुछ समय में अच्छी तरह से भर जाती है और वह सुधर जाती है। इसके उदाहरण ग्वालियर रियासत में मिलते हैं जहाँ उन बाँधों की सहायता से सुधरी हुई ज़मीन में गेहूँ की खेती हो रही है।

दूसरी प्रथा जिसमें कुछ सफलता हुई है वह यह है जिसका प्रयोग भारत सरकार के जंगल विभाग ने किया है। उसने अकसर बीहड़ में ऐसे ईंधन की लकड़ी के व फल के पेड़ लगाये हैं जिनकी जड़ें बहुत फैलने वाली होती हैं। ये जड़ें मिट्टी के अधिक बह जाने व बीहड़ के बढ़ने को सिर्फ़ रोकती ही नहीं हैं पर साथ ही उस पानी को भी उस बीहड़ में आने से रोकती हैं जो कि बरसात में अधिक तादाद में वहाँ पहुँचता है। इस प्रकार ये जड़ें बाँध का काम देती हैं।

यह सब बातें हमारे बताने में तो सहज ही मालूम होती हैं किन्तु यहाँ के ग़रीब किसानों की शक्ति के बाहर की बातें हैं। वह तो अपनी छोटी सी खेती पर ही इस प्रकार मस्त रहता है कि उससे अधिक हाथ फैलाने के लिये उसके पास पूँजी नहीं है। यह काम तो किसी सार्वजनिक संस्था के हाथ से होवे तभी सफलता होगी और सब से बड़ी सार्वजनिक संस्था सरकार ही है।

चौथे प्रकार की ज़मीन जो इस समय खेती के लायक़ नहीं है पर जो प्रयत्न करने से इस काम आ सकती है वह ऊसर ज़मीन है।

ये ज़मीनें उत्तरी हिन्दुस्तान में बहुत सी पड़ी हुई हैं। ये ऊसर ज़मीनें अवध, आगरा, पंजाब व सिंध के बहुत से हिस्से व पश्चिम-सीमा प्रांत में बहुधा पाई जाती हैं। व दक्षिण के नीरा नहर तथा

बंबई के केरा के ज़िले में भी पाई जाती हैं। पर ज्यादातर ऐसी ज़मीनें सिन्ध-गंगा के मैदान में और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में पाई जाती हैं।

भारत में ऊसर ज़मीन की उत्पत्ति का आबपाशी से घना संबंध है। एक ख़ास तरह की ज़मीन को छोड़ कर, जिसमें पानी बहुत रिसता (Percolate) या जल्द बिंध सकता है, ज़रूरत से ज्यादा सिंचाई होने से उसमें रेह नमक (Alkaline Salts) रह जाते हैं। जिससे उसमें होने वाली फ़सल को या फ़सल के लाभकारी तत्वों को नुक़सान पहुंचता है। जहां वे एक हद से ज्यादा हुए वहां पहले फ़सल की बढ़ती में बाधा डालते हैं और फिर उस ज़मीन को बिल्कुल ऊसर बना डालते हैं। जिस रेही ज़मीन में ख़ासकर सोडा कर्बनेत (carbonate of soda) होता है वहां के कीटाणु (bacteria) वाले पौधे बहुत जल्द बिगड़ जाते हैं। ज़मीन में ज्यादा रेह (Alkali) होने से पौधे पानी नहीं खींच सकते। इससे जिस ज़मीन में बहुत ज्यादा रेही नमक होते हैं वहाँ आबपाशी से कोई फ़ायदा नहीं होता।

इन नमकों के अधिक परिमाण में पैदा होने से और मिट्टी की बनावट से घना सम्बन्ध है। यदि मिट्टी खुली हुई है, तो उसमें पानी सरलता से प्रवेश कर सकता है और हवा उसमें अच्छी तरह से जा सकती है। उसमें रेही नमक नहीं होता, पर जो ज़मीन कड़ी होती है जिसमें हवा का खूब संचालन नहीं हो सकता उसमें यदि लगातार सिंचाई की गई तो ऐसी ज़मीन में रेह (Alkali) का असर हो जाता है। जिस कड़ी ज़मीन में पानी इकट्ठा होकर ठहर जाता है तो उसके वितल (Sub-soil) के पानी की सतह ऊपर हो जाती है। जब ऐसी ज़मीन का पानी चारों तरफ़ के बांध आदि से रुक जाता है तो उसमें भी रेह (Alkali) पैदा हो जाती है।

जितनी ज़मीन अभी परती है उसको फिर से फ़सलवाली बना

लेने की अपेक्षा रेह (Alkali) समस्या को हल करना इस समय अधिक महत्व का विषय है। कहीं कहीं कंकड़ के उपयोग से काले रेह का गंधेत सोडा (Sulphate of soda) बन जाता है जो पौधों को रेह (alkali) की अपेक्षा कम नुक़सान पहुँचाता है। कहीं रेह (alkali) वाली ज़मीन में रेत मिला देने से भी फ़ायदा होता है। पश्चिम सीमाप्रान्त में सफ़ेद रेह (alkali) के विकार को दूर कर देने के लिये लूसर्न नाम की घास (Lucerne) को बढ़ा देना ज़रूरी समझते हैं। चीनाब के पास नरवाल नामक स्थान में खेतों में भरे हुए पानी को बाहर निकाल देने से व ख़ूब सिंचाई कर उसमें के नमक को धो देने से उसमें रेह (alkali) का विकार दूर कर दिया गया है। यह रेह (alkali) का विकार ज़मीन में काफ़ी हवा के न रहने से पैदा होता है। जहाँ कहीं कड़ी मिट्टी में बार बार सिंचाई करने से या एक जगह में पानी के भरे रह जाने से उस ज़मीन के भीतर हवा नहीं पहुँच सकती वहाँ कुछ काल में रेही नमक ज़रूर पैदा हो जाता है। जहाँ ज़मीन में हवा का प्रवेश कर दिया जाता है वहाँ उस स्थान का रेही नमक भी बहुत कम हो जाता है। इससे यदि रेह (alkali) के पैदा करने का मुख्य कारण ज़मीन के अन्दर हवा की कमी ही है तो सिंधु नदी के बायें किनारे की ज़मीन व अवध के कुछ हिस्से थोड़े ही दिनों में, अगर ज़मीन में वायु प्रवेश के उपाय काम में न लाये जावेंगे, बहुत सी तादाद में रेह (alkali) से भर जावेंगे। इससे भारत में कृषिसुधार करने के लिये रेह (alkali) समस्या को हल करना ज़रूरी है और रेह (alkali) समस्या तो तभी दूर हो सकती है जब कि ज़मीन के भीतर काफ़ी हवा के रहने का प्रबन्ध हो और हवा का प्रबंध करने के लिये आबपाशी के दोषों को दूर करना ज़रूरी है जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है।

तेरहवाँ अध्याय

व्यक्तिगत किसान की खेतीसम्बन्धी कुछ समस्याएँ

पिछले अध्याय में हमने खेती की ज़मीन को बढ़ाने की समस्या पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार किया है। इस अध्याय में हम खेती की ज़मीन की उन समस्याओं पर विचार करना चाहते हैं जिनका असर व्यक्तिगत किसानों पर पड़ता है। औसत दर्जे के किसान का एक तो उसकी खेतों के क्षेत्रफल और दूसरे उस क्षेत्रफल की विशेषताओं से सम्बन्ध होता है। पहली समस्या उसकी खेती के क्षेत्रफल के सम्बन्ध में है। इस विषय में हमारे लिये यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक किसान की खेती का रक़बा अर्थशक्ति की दृष्टि से काफ़ी है या नहीं। दूसरी समस्या यह है कि हमें फिर यह जान लेना चाहिये कि प्रत्येक किसान के कुल खेत एक ही साथ पास पास मिले हुए हैं या इधर उधर अलग अलग सारे गाँव भर में फैले हुए हैं।

इस सवाल के पहले पहलू पर विचार करते हुए हमने देखा था कि प्रति किसान पीछे औसतन २·३ एकड़ ज़मीन निकली थी। पर इससे कुछ साफ़ नहीं मालूम होता कि वास्तव में प्रत्येक किसान के पास कितनी ज़मीन होती है। क्योंकि हिन्दुस्तान में कुछ किसान ऐसे हैं जिनकी ज़मीन औसत से कहीं अधिक है और कुछ ऐसे भी हैं जिनके पास औसत से भी कम ज़मीन है। हमें किसानों की

खेती के क्षेत्रफल के विषय में पंजाब के सिवाय और किसी प्रान्त के विश्वास के लायक़ समाचार नहीं मिले हैं।

कृषि जांच कमेटी जिस नतीजे पर पहुँची है वह नीचे लिखे अनुसार है :—

(१) इस प्रान्त के किसानों में से २२.५ फ़ी सदी किसानों के पास एक एकड़ से भी कम ज़मीन है।

(२) १५.४ फ़ी सदी किसानों के पास एक से ढाई एकड़ तक ज़मीन है।

(३) १७·९ फ़ी सदी किसानों के पास ढाई से पांच एकड़ तक ज़मीन है।

(४) २०·५ फ़ी सदी किसानों के पास पाँच से दस एकड़ तक ज़मीन है।

बम्बई प्रान्त में भी क़रीब क़रीब यही अंक मिलेंगे। ब्रह्मदेश के अंक औसत से कुछ ऊपर आवेंगे। इस प्रान्त के सिवा दूसरे प्रान्तों में प्रति किसान पीछे औसत से बहुत कम रक़बा निकलेगा।

हिन्दुस्तान की सन् १९२१ की जनसंख्या के अनुसार प्रति किसान पीछे निम्नलिखित रक़बे पाये गये थे :—

प्रान्त	रक़बा प्रति किसान पीछे
बम्बई	१२·२
पंजाब	९·२
मध्यप्रदेश और बरार	८·५
मद्रास	४·९
बंगाल	३·१
ब्रह्मदेश	५·६
बिहार और उड़ीसा	३·१
आसाम	३·०
संयुक्त प्रान्त	२·५

ये सख्यायें बिल्कुल सही नहीं हैं।

ऊपर ब्रह्मदेश के जो अंक दिये गये हैं उनसे औसत संख्या कुछ अधिक है, पर वह भी १२ एकड़ से अधिक नहीं है।

ऊपर के अंकों से हमें इस बात का कुछ ज्ञान हो जाता है कि किसी किसान का खेत औसत में भिन्न भिन्न प्रान्त में कितना बड़ा होता है। इन अंकों की विवेचना करने से मालूम हो जावेगा कि किसानों की ग़रीबी का कारण क्या है। यदि किसान के पास केवल २ या ३ एकड़ ही ज़मीन है तो उसे साल भर में बहुत थोड़े दिनों के लिये ही काम मिल सकता है। जोताई, बोआई व कटाई के समय में तो किसान भरसक काम करता रहता है। पर इसके सिवा साल के बचे हुये क़रीब क़रीब सभी दिनों में वह बेकार हो जाता है। भारतीय किसानों की ग़रीबी का मुख्य कारण उनकी ज़मीनों की यह अवस्था ही है। जिन देशों में किसानों के खेत बड़े होते हैं और जहाँ किसान उसके सारे काम में से अपने ही हाथों से सिर्फ़ एक टुकड़ा काम ही कर सकता है वहाँ वह शेष कामों के लिये आवश्यकतानुसार मज़दूर भी किराये पर रख लेता है। हिन्दुस्तान में किसानों के पास इतने छोटे छोटे खेत हैं कि किसान के लिये काफ़ी काम नहीं रहता और न ऐसा कोई उद्योग धन्धा ही मिलता है जिससे वह अपना जीवन निर्वाह कर सके। किसानों का उनकी ज़मीन पर जो हक़ है और जिस हक़ को क़ानून भी बनाये रखना चाहता है, उसी से इस देश में श्रमशक्ति की माँग व खपत एक दूसरे के अनुकूल नहीं होने पाती। किसान को जो कुछ भी बपौती ज़मीन मिल जाती है वह उसको छोड़ व्यवसायिक केन्द्रों में आमदनी का दूसरा ज़रिया निकालने के लिये नहीं जाना चाहता, जब तक कि उसकी बिल्कुल लाचारी हालत न हो जाय। इस लिये वर्त्तमान दशा को सुधारने का केवल एक ही साधन है। वह यही है कि कुछ ऐसे रोज़गार क़ायम

किये जाँय जिन्हें किसान अपने बेकार दिनों में घर में ही बैठकर कर सके। चर्खा-भक्तों का खद्दर प्रचार के लिये यही बड़ा भारी प्रमाण है, और यह प्रमाण किसी हद तक सत्य भी है। पर इतने से ही यह समस्या हल नहीं हो जाती।

भारतीय किसान को वर्त्तमान अवस्था में जीविका चलाने के लिए ज़मीन पर थोड़े से ही परिश्रम करने से काफ़ी पैसा मिल जाता है। इस लिये जिस रोज़गार में अधिक परिश्रम करके उसे थोड़ा सा ही पैसा मिलेगा उसे वह स्वीकार नहीं कर सकता और न उसे करना ही चाहिये। चर्खा ऐसे ही रोज़गारों में से एक है। दिन भर चर्खा चलाने के बाद एक आदमी मुश्किल से पाँच छ पैसे का काम करेगा। चर्खे के सिवाय बहुत से ऐसे सहकारी रोज़गार हैं जिनके द्वारा उसकी आमदनी बढ़ सकती है। जर्मनी में किसान फुर्सत के समय खिलौने बनाकर काफ़ी पैसा पैदा कर लेता है। जापान के किसान भी बहुधा यही धन्धा करते हैं। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक किसान के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपने बेकार समय में अन्य उद्योग-धन्धों द्वारा पैसा पैदा करे और इसी कारण हम किसी से यह ज़ोर देकर नहीं कह सकते कि तुम अमुक ही रोज़गार करो। यदि यह सत्य है, जैसा कि प्रतीत होता है कि किसानों का बहुत समय बेकार जाता है, और यदि यह भी सत्य है जो वास्तव में सत्य है, कि उन्हें अपने साधारण जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए काफ़ी पैसा नहीं मिलता, तो फिर निस्सन्देह इस बात की बड़ी भारी आवश्यकता है कि उनके लिए कोई ऐसा उपाय निकाला जाय ताकि वे अपने बेकार समय में भी पैसा पैदा कर सकें।

उनके बेकार समय का कई प्रकार से सदुपयोग हो सकता है। आर्थिक दृष्टि से किसी भी किसान को उसी उपाय का अवलम्बन करना चाहिये जिससे उसे अधिक लाभ हो सके। इसके लिए कोई सार्व-

जनिक सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता, जिसके अनुकरण करने से सभी लोगों के बेकार समय का एकसा सदुपयोग हो सके। यह तो देश, काल और अवस्थाभेद पर ही निर्भर है। कौन मनुष्य किस उद्योग धन्धे का अवलम्बन करे, यह निश्चय करने के लिए पहले बहुत सी बातों पर विचार करना होगा। जैसे उसके गाँव की अवस्था, उसके पास नदी, पहाड़, नहर, कोई खदान या जङ्गल है या नहीं, उसकी शिक्षा, उसका सामाजिक जीवन—अमुक काम करने में उसे जातिदण्ड का भागी तो न होना पड़ेगा, उसके घर की अवस्था-उसके घर में कितनी स्त्रियाँ और कितने पुरुष हैं और कौन कौन किस काम के लायक़ है इत्यादि।

खेतों का इधर उधर बिखरा हुआ होना अर्थात् एक किसान के सारे खेतों का एक चक में न होना भी एक बड़ी भारी बुराई है। इसकी प्रथा भी बहुत बढ़ गई है। जिनके पास छोटे छोटे खेत होते हैं वे अपने खेतों का रक़बा बढ़ाने के लिए गाँव के किसी दिशा में भी पड़े हुए खेतों को स्वीकार कर लेते हैं। डाक्टर मान ने यह पता लगाया है कि पिंपला सौदागर नामक बंबई प्रान्त के ग्राम में ६२ फ़ी सदी किसानों के पास एक एकड़ से भी कम ज़मीन है। जट ग्राम में ऐसे किसान ३१ फ़ी सदी हैं। बड़े बड़े किसान तो आस पास के बड़े बड़े खेतों को अपने पास रख लेते हैं और छोटे छोटे बिखरे हुए खेतों को दूसरों को लगान पर दे देते हैं। किन्तु बिचारे छोटे किसानों को जो कुछ मिल जाता है उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। चाहे किसान इन बिखरे हुये खेतों को एक ही साल के ठेके पर ले परन्तु वह वर्षों तक उसे जोते चला जाता है इसका यही नतीजा होता है कि खेत बिखरे हुए रह जाते हैं। अन्यत्र दिए हुए नक़्शे से हमें इस बात का कुछ ज्ञान हो जावेगा कि खेतों के बिखरे हुए रहने का क्या अर्थ है। यह नक़्शा उसैना गाँव तहसील आँवले ज़िला बरेली

का है। इसमें हमने सिर्फ़ दो किसानों के खेतों पर चिह्न लगाकर प्रत्येक के खेतों का गाँव भर में बिखरा हुआ होना दिखाया है। चेतराम के खेत सात टुकड़ों में और राम मनोहर के खेत छ टुकड़ों में गाँव भर में इधर उधर बिखरे हुए हैं। इसी प्रकार और किसानों के खेत हैं। लगभग प्रत्येक गाँव में बिखरे हुए खेत पाये जाते हैं।

खेतों के बिखरे हुए होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है उसके दूर करने के लिये बहुत से प्रयत्न किये गये हैं। बंबई में एक बार यह सोचा गया था कि यदि खेतों के एक नियमित हद से भी अधिक टुकड़े हों तो उन्हें गाँव के लगान संबंधी काग़ज़ात में इन्द्राज न किया जावे। ऐसा करने से उस नियमित हद से लोग अधिक टुकड़े न करेंगे। पर इससे कुछ लाभ न हुआ और सरकार को अपना विचार बदल देना पड़ा।

पंजाब के नहर-उपनिवेशों में ज़मीन के बेंचने में जो क़ैदें लगा दी गई हैं इससे खेतों का छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित होना किसी हद तक रुक गया है। और सरकार ने जो ज़मीन किसी को माफ़ी में दी है उसके विषय में यह नियम बना दिया है कि वह ज़मीन केवल एक ही उत्तराधिकारी को दी जायगी। पर इन प्रथाओं से भी जिस बात की आवश्यकता थी उसमें लाभ नहीं हुआ। अगर एक ही उत्तराधिकारी माना ज़ावे और वह उत्तराधिकारी कहीं घर का बड़ा लड़का हुआ तो वह अपने छोटे भाइयों को उस जायदाद का भाग दिये बिना न रह सकेगा। चाहे उस जायदाद में अधिकार उसे भले ही न दे। पंजाब में आज जो लगभग ५० लाख एकड़ ज़मीन गत अस्सी वर्षों में ऐसे आदमियों के हाथ में आ गई है जो लोग किसान नहीं हैं, वह सारी ज़मीन, यदि खेतों के इस प्रकार टुकड़े टुकड़े न किये जाते तो आज अपने मूल मालिकों के पास रहती और प्रति किसान पीछे औसतन कहीं अधिक ज़मीन पाई जाती।

बंबई प्रांत के कृषि विभाग के डाइरेक्टर कीटिंग साहब ने खेतों के टुकड़े टुकड़े किये जाने की बुराइयों को दूर करने के लिये कुछ रास्ता बताया था। उनकी राय थी कि एक किसान के पास उसके व उसके कुटुंब के लोगों की श्रमशक्ति के और उसके मूलधन को पूरा सदुपयोग करने के लायक़ जो खेत हो—ऐसा खेत जिसकी उपज से उसे व उसके कुटुंब को यथेष्ट खाना कपड़ा मिल सके तो उसे उस खेत की एक ही वारिस के नाम रजिस्ट्री करा लेने का हक़ हो। ऐसे खेत, जिसे सुभीते के लिये हम "आर्थिक खेत" कह सकते हैं, केवल आर्थिक खेती के लिये ही लागू हों। इस तरह रजिस्ट्री करा लेने से उस खेत के फिर टुकड़े नहीं किये जा सकते और एक समय में वह एक ही आदमी के पास रह सकता है। एक से अधिक आदमियों के हाथ में उसे देने या बाँटने की मनाही की गई थी। पर ऐसे विचार का विरोध मद्रास के रेवन्यू बोर्ड ने निम्नलिखित कारणों से किया :—

(१) कौन से खेत आर्थिक खेत होंगे इसका पता लगाने में बड़ी कठिनाई होगी।

(२) यह कार्यवाही हिन्दू व मुसलमानी समाज के नियम के विरुद्ध देश में बहुत से ऐसे खेत बना देगी जिसका बटवारा न हो सकेगा।

(३) अमीर किसानों के लिये ही यह नियम लागू हो सकेगा जो एक को अपनी ज़मीन देकर दूसरे हक़दारों को उसके बराबर की संपति दे सकेंगे। पर ग़रीबों की गृहस्थी में बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। उससे सर्वसाधारण जनता बिना ज़मीन के हो जावेगी जिसका होना सदैव भयंकर है, ख़ास कर ऐसे देशों में जहाँ कि निश्चित दूसरे उद्योग धंधे नहीं हैं जिसमें खेती बारी से बचे हुए आदमी लग सकें।

(४) महाजन को धोखा देने के लिये उसके दूसरे हक़दार भी झूठ मूठ रजिस्ट्री करा लेंगे।

(५) किसानों की इज्जत में बट्टा लग जावेगा।

(६) खेत बेचने या दूसरे को देने में बड़ा झमेला उठ खड़ा होगा क्योंकि ऐसे प्रत्येक अवसर में यही प्रश्न उठेगा कि इस खेत की आर्थिक खेत के नाम से रजिस्ट्री हुई या नहीं।

(७) खेतों पर लगान लगाने में बड़ी कठिनाइयाँ पड़ेंगी।

(८) घर घर में लड़ाइयाँ बढ़ेंगी।

कृषि जाँच कमेटी के सामने कीटिङ्ग साहब ने बयान देते हुए कहा था कि इस नियम के बना लेने से खेती के लोग खेती से दूर न होंगे। पर चूँकि इस नियम से खेतों पर खेती अच्छी होने लगेगी इससे उसमें मज़दूरों की ज़रूरत होगी। इससे ऐसे बहुत से लोग जो उस खेती के बटवारा करने पर उसके टुकड़े टुकड़े के मालिक होते वे ही उन खेतों पर मज़दूरी करेंगे। उनके पेशे में अंतर न पड़ेगा। केवल उनका पद भर बदल जावेगा।

इसलिये ऐसे नियमों को केवल अमीर ज़मींदारों के संबंध में ही सफलता मिली है। सर्वसाधारण की बपौती संपति के बटवारा करने के क़ानून नहीं स्वीकार किये गये हैं। दूसरा प्रस्ताव एक यह भी था कि किसी भी खेत के एक हद के बाद अधिक छोटे टुकड़े न किये जावें। जिनके पास बहुत ही छोटे टुकड़े हों उनसे वे टुकड़े ज़रूर ही ले लिये जावें और ऐसे लोगों को बाँट दिये जावें जिससे उनके ख़ुद के खेत नये टुकड़ों के मिलने से "आर्थिक खेत" हो जावें। किसी किसी ने बेल्जिम की प्रथा की सिफ़ारिश की थी जिसके अनुसार एक हक़दार, ख़ासकर बड़ा लड़का और हक़दारों के हिस्से की ज़मीन को ख़रीद लेता है जिससे उस ज़मीन के टुकड़े न होने पावें। पर यह प्रस्ताव भी लोगों को पसंद नहीं आया जब तक कि खेती के सिवाय दूसरे उद्योग धंधे किसानों की पहुँच में न हों। कृषि जाँच कमेटी के सामने ऐसी कोई भी सिफ़ारिश नहीं की गई थी जिससे

बपौती संपति के बटवारे के नियम में बाधा तो न पड़े पर ज़मीन टुकड़े टुकड़े होने से बच जावे।

ज़मीन के टुकड़े टुकड़े होकर इधर उधर हो जाने में जो बुराइयाँ होती हैं उसके लिये एक ही उपाय सर्व श्रेष्ठ है। वह उपाय है चक बंदी करना। चक बंदी का अर्थ यही है कि छोटे छोटे बिखरे हुए खेतों के बदले उन्हीं के परिमाण में एक बड़ा सा खेत ले लिया जावे। ऐसा करने से किसान के सब खेत एक ही साथ एक खेत के बराबर हो जावेंगे या अधिक से अधिक मुख्य मुख्य प्रकार के दो तीन खेत हो जावेंगे।

पंजाब में सहयोगी संस्थाओं द्वारा इस प्रथा से बहुत लाभ हुआ है और पंजाब में इस उपाय की सफलता को देखकर उसकी ओर ऐसे अन्य प्रांतों का भी ध्यान आकर्षित हो गया है जिनमें वे ही बुराइयाँ भरी हुई हैं। यद्यपि पंजाब में बंदोबस्त विभाग ने अपने प्रभाव से चकबंदी कराना चाहा था, पर उससे कुछ न हो सका। किन्तु सहयोगी संस्थावाले इसका प्रचार बड़े धीरज के साथ करने लगे। वे लोगों को चकबंदी का लाभ समझाने लगे जिससे बहुत लाभ हुआ। इस सहयोगिता के भाव से ही लोगों की भावनाओं में बड़ा अंतर पड़ा है और इस कार्य में सफलता मिल रही है। गाँव वालों में सुधार करने के लिए उनकी सारी शिकायतों को सुनने व उनकी शंकाओं को धीरज के साथ दूर करने की बड़ी आवश्यकता है। इस कार्य में असफलता बहुत होती है और सफलता बहुत थोड़े थोड़े परिमाण में मिलती है। पर जिन्होंने इस कार्य का भार अपने ऊपर उठा लिया है वे समझते हैं कि धीरे धीरे जनता को अपनी ओर मिला लेने में ही भलाई है। इससे वे लोग झटपट कोई सरकारी क़ानून बना लेने के लिए उतारू नहीं हो जाते। इस प्रकार धीरज से काम करते रहने से पंजाब में इस प्रथा की बड़ी उन्नति हुई है।

चक बंदी का रक़बा प्रति वर्ष बढ़ता ही जा रहा है। पहले पाँच साल में ३९,७५७ एकड़ की चकबंदी हुई थी। दूसरे ही वर्ष २०,००० एकड़ की चकबंदी और बढ़ गई व सन् १९२७ ई० के जुलाई महीने तक की सरकारी रिपोर्ट है कि ३१४ गाँवों में ९८,००० एकड़ की चकबंदी हो गई है। तब से ४७ गाँवों में चकबंदी हुई है। कुल १,३३,००० टुकड़े ज़मीन की चकबंदी होकर ३५,३०० खेत बन गए हैं। औसतन प्रति खेत का रक़बा ०·७ एकड़ से ३·८ एकड़ हो गया है। हाँ, इतना भर और ध्यान में रखना चाहिए कि पंजाब में एक ही प्रकार की ज़मीन व एक ही प्रकार के किसान होने से चकबंदी में बड़ा सुभीता पड़ा है।

पंजाब की इस व्यवस्था से किसी की कुछ हानि नहीं होती। जिसकी आय पहले जितनी थी अब चकबंदी हो जाने पर उसकी आय कम नहीं हुई है। छोटे छोटे खेतों से कोई किसान ज़बर्दस्ती निकाला नहीं जाता। कोई ज़ोर-ज़ुल्म नहीं होता। सब काम सरलता से चला जाता है। जब तक कि चक बंदी के हिसाब से किसानों को उसके पास आने वाले खेतों का नक़शा नहीं बता दिया जाता तब तक उसके खेतों की चकबंदी नहीं की जाती। यह नियम केवल उन्हीं लोगों के लिए लागू है जिनकी ख़ुद की ज़मीन है। इस नियम का उद्देश्य ज़मीन को टुकड़े टुकड़े होने से रोकता है। उससे बपौती सम्पत्ति के बटवारे में बाधा नहीं पड़ती।

पंजाब की तरह और प्रांतों में भी उन प्रांतों की निजी कठिनाइयों को दूर कर देने के बाद इसी प्रकार चकबंदी कर देना कोई असंभव बात नहीं है। मध्यप्रांत के छत्तीसगढ़ हिस्से में बिना सहयोगी संस्था की सहायता से ही चकबंदी करने में कुछ सफलता मिली है। वहाँ की ज़मीन व किसानी प्रथाओं में विभिन्नता होने के कारण अवश्य ही कठिनाइयाँ पड़ती हैं। जिससे वहाँ के सुभीते के लिये मध्यप्रांत की

व्यवस्थापिका सभा ने खास क़ानून बना दिया है। इस क़ानून की सहायता से चकबंदी की जाती है व खेती किसानी में भी मज़बूती आती है।

इस प्रकार खेतों के एक चक में न होने से जो बुराइयाँ होती हैं उनका अनुभव सभी प्रांतों में किया जा रहा है। पर उन बुराइयों को दूर करने के लिये कहीं भी कोई खास तरीक़ा नहीं निकाला गया है। कई प्रांत के लोग पंजाब की इन विधियों का अनुकरण करना चाहते हैं जिन्हें वहाँ बड़ी सफलता मिली है। हिंदुस्तान में कृषि-सुधार के मार्ग में यह एक बड़ी भारी बाधा उपस्थित है। सभी की यही राय है कि जब तक चकबंदी पूरे तौर से न हो जावे तब तक सरकार को इस ओर से लापरवाह नहीं होना चाहिये। यह काम केवल किसानों के हाथ में छोड़ देने से नहीं बनेगा। पर क्योंकि भारतीय किसान को अपनी बपौती ज़मीन बड़ी प्यारी होती है इससे सरकार को चाहिये कि इस मार्ग में ज़रा सावधानी और सहानुभूति के साथ चले।

चौदहवाँ अध्याय
खेती की कमाई में सुधार

खेती की कमाई का अर्थ है खेत की आंतरिक और रसायनिक अवस्थाओं को इस प्रकार बना देना कि किसान उसमें जो फ़सल पैदा करना चाहता है उस फ़सल के लिये उस ज़मीन की वे आंतरिक और रसायनिक अवस्थाएँ उपयोगी हो जावें। वह किसान जिसे खेती के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का ज्ञान है, पहले यह निश्चय करेगा कि उसे कौन सी फ़सल बोनी चाहिये। फिर वह देखेगा कि उस फ़सल के लिये ज़मीन में किन किन रसायनिक व आन्तरिक अवस्थाओं की आवश्यकता है। तब फिर वह इतना जान लेने के बाद उस फ़सल के अनुसार उस ज़मीन को कमाने के उपाय निकालेगा। कमाने का मुख्य उद्देश्य यही है। यद्यपि हिंदुस्तानी किसान फ़सल फ़सल के अनुसार अपनी भूमि को कमाता है पर आधुनिक कृषि-विज्ञान की दृष्टि से देखने से यह मालूम पड़ता है कि इस विषय में उसे पूरा ज्ञान नहीं है और वह प्रत्येक फ़सल की प्रकृति को न अच्छी तरह से समझ पाता है और न उसके लिये सर्वथा अनुकूल भूमि तय्यार कर पाता है। भूमि की आधुनिक शैली से कमाई करने के लिए उसे दो बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। एक तो यह कि किस किस फ़सल के लिए किन किन आंतरिक और रसायनिक अवस्थाओं की आवश्यकता है

जैसा कि इस अध्याय के आरंभ में लिख चुके हैं। दूसरे यह कि उसकी ज़मीन में वे अवस्थाएँ वर्तमान हैं या नहीं और यदि नहीं हैं तो वह उस ज़मीन में उन अवस्थाओं को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है।

अब हम खेत की कमाई के साधारण पहलुओं पर विचार करेंगे और यह भी बताने का प्रयत्न करेंगे कि हम उन्हें किस प्रकार वैज्ञानिक रूप दे सकेंगे। पीछे कह चुके हैं कि किसान खेतों में सब से पहले खाद डालता है। हमें यह भी मालूम है कि बरसात के लगभग ८-१० दिन पहले खेतोंमें खाद डाली जाती है। खाद को बिना जोते हुए खेतों में लाकर किसान चारों तरफ उसकी छोटी छोटी ढेरी बना देता है और उसे मिट्टी में मिला देने के लिये कम से कम एक या दो मूसलाधार वर्षा के वाद उस खेत को वह जोत देता है। पर यह विधि कुछ हद तक अवैज्ञानिक है और खाद डालने से जो पूरा लाभ होना चाहिये वह इस विधि से नहीं होने पाता। पानी गिरने के लगभग ८-१० दिन पहले जो खाद की ढेरियाँ खेतों में रख दी जाती हैं उस से सूर्य्य की गर्मी से जल कर बहुत सा लाभकारी तत्व नष्ट हो जाता है। फिर उसके बाद पानी गिरने से उस खाद के बहुत से लाभदायक तत्व बह जाते हैं। यदि हमारे किसान खाद की ढेरियाँ बना कर उन्हें खेतों में रखने के बदले, उस खेत में छोटी छोटी खाइयाँ बना कर नीचे दबा दें तो उस खाद के बहुत से लाभदायक तत्वों की इस प्रकार हानि न हो। ऐसा करने से कोई अधिक पैसा व समय न लगेगा। केवल पहिले की चली हुई कृषि की एक विधि में कुछ परिवर्तन भर कर देना पड़ेगा। आज कल भी किसान लोग अपनी ज़मीन के कुछ हिस्से को परती छोड़ देते हैं। गांव के लोग बहुधा गोबर व घर के अन्य कूड़े-कचड़े को घर के पास ही किसी घूरे में भर देते हैं। उन्हें चाहिये कि ऐसा करने के बदले परती छोड़ी हुई ज़मीन में बराबर दूरी पर एक से डेढ़ फुट गहरी खाई खोद कर

उस गोबर व कूड़े-कचड़े को उसमें भर भर के उसे ढकते जावें। इस प्रकार भीतर ही भीतर सड़ कर वह खाद मिट्टी में मिल जावेगी। दूसरे वर्ष इस ज़मीन पर खेती कर दूसरी टुकड़ी को परती छोड़ दें व उसमें भी बराबर बराबर दूरी पर खाइयाँ खोद कर और उनमें उपर्युक्त विधि से खाद जमा करें। इस विधि से नैनी (प्रयाग) कृषिविद्यालय के प्रधान अध्यापक मिस्टर हिगिनबाटम ने बड़ी सफलता-पूर्वक अपने खेतों में उन्नति की है। इसके साथ साथ कूड़े-कचड़े गांव की आबादी से दूर भी हो जावेंगें व गांव की आबादी वाला भाग शुद्ध व स्वच्छ हो जावेगा। जब ये कूड़े कचड़े आबादी के पास पड़े रहते हैं तो नित्य हवा उनसे ख़राब होती रहती है जिससे मलेरिया आदि तरह तरह के रोग फैलते रहते हैं। इन रोगों के कारण किसानों की श्रमशक्ति भी क्षीण हो जाती है। इससे कूड़े कचड़ों को उपर्युक्त विधि से खेतों में गाड़ देने से दोहरा फ़ायदा होता है। नैनी (प्रयाग) कृषि विद्यालय के प्रधान अध्यापक हिगिनबाटम साहब का अनुभव है कि आज कल जिस प्रकार किसान अपने खेतों में खाद डाल कर उन पर जितने दिनों के लिये जो असर पैदा करता है, यदि वही खाद खेतों में उपर्युक्त विधि से खाई खोद कर डाली जावे तो वही असर उससे दुगने तिगने समय तक क़ायम रहेगा।

हम कह चुके हैं कि हिन्दुस्तान में खेतों की पहली जोताई वर्षा आरम्भ हो जाने के बाद शुरू होती है। रबी और ख़रीफ़ की पहली जोताई के बीच के दिनों में खेत बेजोते पड़े रहते हैं। नतीजा यह होता है कि गरमी में उस ज़मीन पर धूप प्रकाश व हवा अपना पूरा असर नहीं पहुँचा पातीं। मान लिया जावे कि एक प्रकार के दो खेतों में एक ही प्रकार के बीज बोये गये और उनमें एक ही प्रकार से खती हुई इस अवस्था में अनुभव से देखा गया है कि जो खेत रबी के बाद बिना जोते हुये पड़े रहे उनकी अपेक्षा उन खेतों में उपज

अधिक होती है जो रबी के बाद एक बार जोत दिये गये हों। क्योंकि ऐसा करने से गरमी के दिनों की धूप प्रकाश और हवा का असर उन पर अच्छा पड़ता है। हवा की तरह सूर्य्य की किरणों के संपर्क से ज़मीन के कणों में रसायनिक परिवर्तन होता है जिससे उसमें वनस्पति भोजन तय्यार होता है। इसके सिवाय दूसरा बड़ा भारी लाभ यह होता है कि जब बरसात आने के क़रीब बड़े ज़ोरों से आंधी आती है और हवा चलती है तो उस हवा में इधर उधर के खनिज पदार्थों के छोटे छोटे परमाणु व तरह तरह के नमक आदि के परमाणु मिल जाते हैं। जब पहली बार वर्षा होती है तो उस पानी के साथ वे कण खेतों पर आ जाते हैं। यदि खेत रबी फ़सल के बाद एक बार जोत दिया गया हो तो ये परमाणु उसमें उस पानी के साथ साथ बिंध जाते हैं। पर यदि खेत एक दम सपाट पड़ा रहा हो तो उसमें इस आंधी से कुछ लाभ नहीं होता क्योंकि वे कण ऐसी ज़मीन से पानी के साथ ऊपर ही ऊपर बह कर निकल जाते हैं। इस लिये जब रबी के बाद खेतों को एक बार जोतने की सलाह दी जाती है तो यहाँ के किसानों को यह आपत्ति होती है कि वर्षा के पहले खेत बहुत कड़े होते हैं जिन पर हिंदुस्तान के वर्तमान बैल व हल जोताई नहीं कर सकते। पर उनकी आपत्ति एक मिथ्या धारणा ही है। खेतों को अधिक कड़े होने तक क्यों रहने दें? उन्हें रबी फ़सल के कटते ही जब कि ज़मीन नरम होती है जोत देना चाहिए। रबी के कटते ही उसे जोत देने से रबी फ़सल की जड़ें और ठूठें उस ज़मीन के नीचे धंस कर स्वयं सड़-सड़ कर खाद बन जावेंगी, यह एक और फ़ायदा होगा।

खेत की कमाई के विषय में जानने योग्य दूसरी बात हिंदुस्तानी हलों की विभिन्नता होती है। कहीं भारी हल होते हैं कहीं हलके। कहीं फार या फल अधिक हलका या नुकीला होता है कहीं साधारण ही। पर बहुधा सभी हलों की बनावट एक सी ही होती है। हिंदुस्तान के

सर्व-साधारण हलों में यह दोष होता है कि वे ज़मीन में बहुत गहराई तब नीचे प्रवेश नहीं कर सकते और न मिट्टी को पलट सकते हैं। नतीजा यह होता है कि पौदे ऊपरी सतह की ८-९ इंच ज़मीन से ही अपना भोजन खींच खींच कर उसे चूसते जाते हैं। नीचे की सतह की ज़मीन जैसी की तैसी पड़ी रहती है। भिन्न भिन्न प्रांत के कृषि विभागों ने देशी हलों में ही कुछ उन्नति की है जो ज़मीन में अधिक गहराई तक प्रवेश करते हैं और अधिक मिट्टी को पलट सकते हैं। इन हलों की क़ीमत भी अधिक नहीं है। इस प्रकार संयुक्त प्रांत में मेस्टन नामक हल बड़ा अच्छा औज़ार सिद्ध हुआ है। वह क़रीब क़रीब देशी हल की तरह ही है। पर उससे अधिक लाभदायक है। वह देशी हल की अपेक्षा अधिक गहराई तक प्रवेश करता है और बेकार पौदों तथा घास को नीचे दबा देता है जिससे वे नीचे सड़ कर खाद बन जाते हैं। ज़मीन के पलटने से उसकी उपज शक्ति बढ़ जाती है। यदि इस हल से जोताई की जावे तो देशी हल की अपेक्षा कुछ कम बार जोताई करने से उतना ही लाभ होता है और इस मेस्टन हल से साधारण देशी हल की अपेक्षा डेढ़ गुना जोताई होती है। पंजाब में यह हल बहुत अधिक काम में लाया जा रहा है। साधारण देशी हल का दाम ५ से १० रुपये तक है और एक अच्छे मेस्टन हल की क़ीमत १२ से २० रुपये तक है। मेस्टन के सिवा हिंदुस्तान की खेती के लिये दूसरे प्रकार के हल भी उपयोगी पाये गये हैं जैसे पंजाब का राजा हल जिसका मूल्य ३८ से ४० रुपये तक है। मेस्टन हल से ये हल अधिक वज़नी और मज़बूत होता है। राजा हल मेस्टन हल की तरह ही ज़मीन को पलट देता है पर उससे अधिक गहराई तक प्रवेश करता है। कड़ी ज़मीन व ऐसी ज़मीन जिसमें बेकार पौदे बहुत निकल आया करते हैं इन दोनों प्रकार की ज़मीनों के लायक़ राजा हल अधिक उपयोगी है। यह हल देशी हल की अपेक्षा चौगुनी
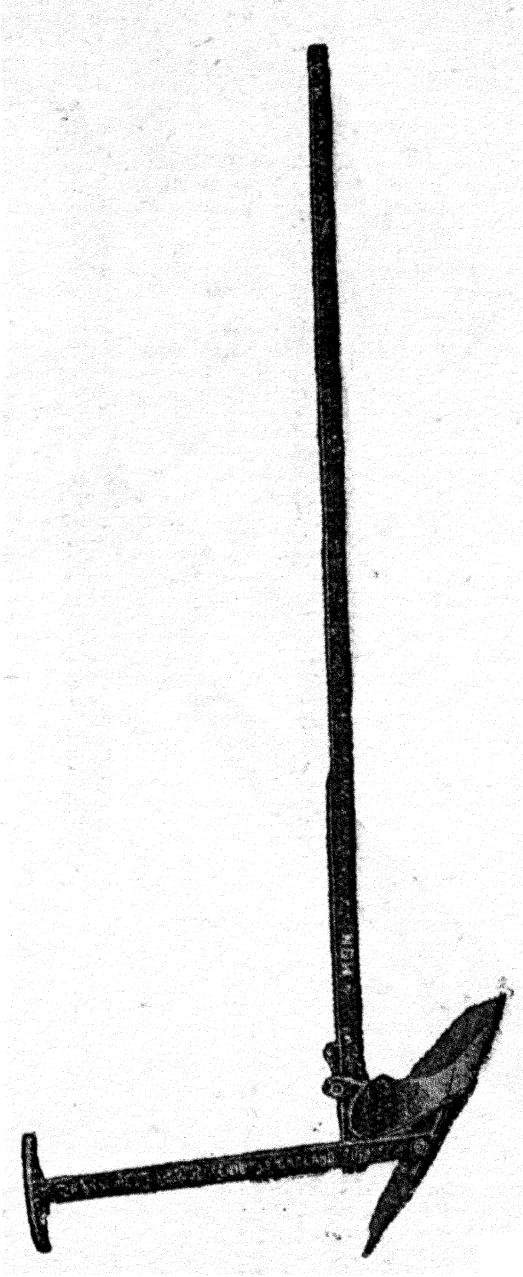
मेस्टन हल (पृ० १५४)

पंजाब का हल (पृ० १४४)

जोताई करता है जिससे समय व परिश्रम की बचत होती है। इस हल के साथ कठिनाई यही है कि वह बहुत भारी होता है। इससे वह केवल उन्हीं किसानों द्वारा काम में लाया जा सकता है जिनके पास काफ़ी मज़बूत बैल हों। मेस्टन व राजा हलों के चित्र अन्यत्र दिए जाते हैं। देशी हल से अधिक नीचे तक प्रवेश करने वाले व मिट्टी पलटने वाले हलों की सिफ़ारिश यहाँ के किसानों से अक्सर की जाती है। क्योंकि इससे यहाँ की खेती-बारी की बड़ी उन्नति होने की संभावना है। गन्ने की बड़ी बढ़िया खेती के लिए और रबी फ़सल की मिट्टी में किसी किसी फ़सल के लिए पानी क़ायम रखने के लिए ऐसी जोताई की तो निस्संदेह ही अत्यधिक आवश्यकता होती है। पर यह अभी निश्चय नहीं किया गया है कि खरीफ़ की सारी अवस्थाओं में ऐसी जोताई लाभदायक होगी या नहीं बल्कि इसका उल्टा प्रभाव पड़ने की बड़ी संभावना है। एक तो यह कि जिस ज़मीन में हल्का पानी गिरता है वहाँ अधिक जोताई करने से ज़मीन के भीतर पहली वर्षा से जो पानी जमा होता है वह सब बुरी तरह इधर उधर हो जाता है जिससे उसमें बीजों से अंकुर नहीं निकल पाते दूसरे जहाँ पानी अधिक गिरता है वहाँ की ज़मीन में अधिक जोताई से इतना पानी भर जाता है कि वहाँ भी बीजों से अंकुर फूट नहीं पाते और यदि बीज बोने में अधिक देरी कर दी गई तो उपज को नुक़सान पहुँचता है। इससे यह प्रकट होता है कि देशी हल एक दम नाकारा व अधिक गहराई तक जोताई करने वाले मेस्टन व राजा हल सदैव लाभदायक ही नहीं होते। इससे किसानों को चाहिये कि अपनी अपनी ज़मीन और अपनी अन्यान्य अवस्थाओं में काफ़ी दिनों तक किसी भी हल की परीक्षा कर लें तब फिर उसे ग्रहण करें।

किसान देशी हल से खेत के एक कोने से जोताई आरंभ कर चारों ओर घूम-घूम कर अंत में उसे ख़तम करते हैं। ऐसा जोतने से और इसी प्रकार पाटा चलाने से खेतों के बीच का हिस्सा तो

गहरा और किनारे ऊँचे हो जाते हैं। पर यह प्रथा अच्छी नहीं है क्योंकि बरसात और सिंचाई का पानी गहराई की ओर जाकर जमा हो जाता है। इससे उपज को हानि पहुँचती है। उचित विधि तो यह है कि खेत के बीच से जोताई आरंभ की जावे। बीच के हिस्से को जोत के फिर बारी बारी उसके चारों ओर हल चलाया जावे जब तक कि उसके चारों तरफ़ की ज़मीन जुत न जावे। अगर खेत बड़ा हो तो उसके हिस्से कर लेने चाहिये व उपर्युक्त विधि से प्रत्येक हिस्से के बीच से जोताई करनी चाहिए, और जब इस खेत को दुबारा जोतना हो तो दो हिस्सों के बीच की क्यारियों को बीच मान कर उस हिस्से में हल चलावें। इससे खेत बराबर रहेगा। इस पुस्तक में दिये हुये चित्रों से दोनों प्रकार की जोताई का पता लग जावेगा। चित्र (अ) जोताई की वर्तमान विधि का है चित्र (ब) आदर्श विधि का है।

गाँवों में यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि जैसा बोवेगा वैसा काटेगा। पर इस विषय में हम जो लापरवाही देखते हैं उससे कह सकते हैं कि इस कहावत का व्यवहारिक महत्व उन किसानों के विचार में नहीं आने पाता। पिछले अध्यायों में बीज के चुनाव और उसकी रक्षा के विषय में जो कह चुके हैं उन सब बातों से हमारे उपर्युक्त दोषारोपण का समर्थन होता है। इसमें उन्नति करने के लिये सारी व्यवस्थाओं को बदल देने की आवश्यकता नहीं है। हिंदुस्तान की वर्तमान कृषि की अवस्था में थोड़े से ही परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रत्येक मामूली किसान जो बीज बोता है उसके विषय में साधारणतया एक बात बहुधा देखने में आती है। वह यह कि बीज बोते समय एक ही प्रकार के व एक दर्जे के बीज नहीं बोये जाते। उसमें कई प्रकार के बीजों का मिश्रण रहता है। ऐसे बीज बोने से जो पैदावार होगी वह भी एक ही प्रकार की न होगी। इस पैदावार का बाज़ार में उचित मूल्य प्राप्त नहीं हो सकता। हम इस दोष को दो प्रकार से दूर कर

सकते हैं। एक तो यह कि जब फ़सल पक कर तय्यार हो गई हो तो उसे काटने से पहले उसमें से एक प्रकार के पौदों को अलग काट कर उनसे बीज निकाल लें। फिर इन बीजों को आगामी फ़सल के लिए रख छोड़ना चाहिए। पर इस प्रथा में एक बड़ी कठिनाई है। बीजों का मिश्रण इस तरह से बढ़ा हुआ है कि इस प्रकार कुछ अच्छे अच्छे पौदों को छाँट लेना सहज नहीं है। दूसरा तरीक़ा इससे आसान है। वह यह है कि प्रत्येक प्रांत के सरकारी कृषि विभाग प्रत्येक फ़सल के अच्छे अच्छे बीज इकट्ठा करके रखते हैं। इससे किसानों को चाहिए कि वे इन विभागों से या अन्य सरकारी बीज की दूकानों से जहाँ कृषि विभाग की तरह बीज इकट्ठे किये जाते हैं अपनी खेती के लिए बीज मोल ले लिया करें।

ऊँचे दर्जे के बीज जमा करने और बेचने का काम मुख्यतः प्रत्येक प्रांत के सरकारी बीज के गोदाम के ऊपर निर्भर रहता है। इन गोदामों की निगरानी प्रांत का सरकारी कृषि विभाग करता है। इस काम में सब प्रांतों से मध्यप्रांत आगे बढ़ा हुआ है। १९२६-१९२७ में वहाँ ३४३० गेहूँ के, १३६८ धान के, १६२७ कपास के, ५०१ ज्वार के और १०४१ मूँगफली के बीज के गोदाम थे। वहाँ वे बीज साधारण बीजों से सिर्फ़ नाम मात्र के लिए अधिक दाम में बेचे जाते हैं। कपास के बाज़ारू बीज और सरकारी बीज के दामों में कुछ अंतर होता है। मद्रास और पंजाब में उन प्रांतों में सरकारी कृषि-विभाग बाज़ारू भाव से कुछ ऊँचे भाव में फ़सल के दिनों में अच्छे बीजों को लेकर जमा कर लेता है। संयुक्त प्रांत में कुछ बीज तो नक़द दाम लेकर बेचे जाते हैं पर बहुधा लोगों को बीज उधार दे दिये जाते हैं और फिर उनके बदले में उसी दर्जे के बीज वापिस लिये जाते हैं जिससे आगामी वर्ष के लिए और अधिक बीज जमा हो जावें। बंगाल में कृषि-विभाग के एजेंटों द्वारा जूट के ऊँचे दर्जे के बीज बेचे जाते हैं।

यद्यपि प्रत्येक प्रांत में ऊपर कहे अनुसार बीज बेचने के लिये सरकारी कृषि विभाग या सरकारी बीज-गोदाम प्रयत्न कर रहे हैं पर यह प्रथा इतनी कम विस्तृत है कि अधिकतर किसानों को इस बात का पता तक नहीं है। लोगों में अच्छे बीज के उपयोग के प्रचार करने के लिये प्रत्येक तहसील और परगने में सरकारी बीज-गोदामों के एजेंट बना देने चाहिये। पाश्चात्य देशों में कृषकों को बीज बेचने का व्यापार साधारण लोग करते हैं जिनसे उन्हें लाभ भी काफ़ी होता है। हमारे उत्साही नवयुवकों को, जिनका हृदय ग्राम सुधार के लिये अत्यंत ही व्यग्र हो रहा है, जैसा कि उनके ओजस्वी भाषणों से मालूम होता है, चाहिये कि ऐसे कामों को अपने ऊपर ले लें। इससे देश सेवा ही नहीं, साथ ही अच्छी तरह से पेट सेवा भी हो सकती है। अच्छे बीज का अधिक प्रसार करने का सब से अधिक व्यवहारिक उपाय तो यह होगा की बीज की सरकारी एजेंसी गांव के महाजन और साहूकारों को दे दी जावे। इन एजेंटों के लिये यह नियम बना दिया जावे कि वे सरकारी गोदामों से एक नियत मूल्य पर बीज लिया करें और उचित लाभ उठाकर एक नियत मूल्य पर बेच दिया करें। उधार बीज बेचने से अंत में उसके बदले जो उसी दर्जे के बीज आवें उसे भी बीज की तरह ही बेच दिया करें। एक सरकारी अफ़सर इनके लेन देन के हिसाब की जांच साल भर में एक बार या दो बार कर जाया करे, और इस बात की भी जाँच किया करे कि वह जो बीज बेचता है उसमें कोई मिश्रण तो नहीं रहता या उस बीज का दर्जा सरकारी बीज का सा है या नहीं।

बीज के विषय में दूसरी आवश्यक बात यह है कि उसे कैसे जमा रखना चाहिए। जितनी प्रथाएँ हमने देखी हैं उनसे सीड़, घुन या अन्य विनाशक कीड़ों से बीज की भली भांति रक्षा नहीं होने पाती। इससे अच्छा तो मटके वगैरह में रख देना है। बम्बई प्रांत की कृषि प्रदर्शनी में,

जो पूना में सन् १९२६ में हुई थी, कंकरीट (Concrete) के बने हुये कुठिले दिखलाये गये थे जिनमें बीज अच्छी तरह से रखे जा सकते हैं। बीज-गोदाम वालों को ऐसे कुठिले अवश्य ही काम में लाना चाहिये। ये बहुत मंहगे नहीं होते और चलते बहुत दिन तक हैं। ऐसे कुठिले झांसी, लाहौर, जबलपुर आदि शहरों में बनते हैं।

बीज के बोवाई की विधियों के बारे में यहाँ कोई और ख़ास बात नहीं कहना है। अन्यत्र दिये हुये चित्र से यह मालूम हो जावेगा कि बीज बोने के कुंडों वाली एक हिंदुस्तानी विधि में ही कैसी उन्नति की जा सकती है। इस चित्र में आठ कुंडे एक ही साथ काम कर रहे हैं। बीज एक लकड़ी के संदूक में रखा है। पीछे बैठा हुआ आदमी उसको बोता जा रहा है।

कृषिकर्म के दृष्टिकोण से आबपाशी के वर्तमान ज़रिये संतोषदायक नहीं हैं। हम यहाँ अब यह विचार करेंगे कि हमें आबपाशी के नाम से जितना पानी मिल जाता है उसका अच्छे से अच्छा उपयोग किस प्रकार से कर सकते हैं। उत्तरी हिन्दुस्तान के उन हिस्सों में, जहाँ कि नहरों से आबपाशी होती है, नज़र डालने से मालूम होगा कि वहाँ पानी का बड़ा नुक़सान होता है। किसान लोग नहरों से अपने खेतों में पानी ले जाने के लिये जो नालियाँ बनाते हैं उनकी इतनी बुरी हालत रहती है कि पानी उनमें से अक्सर फूट कर बाहर निकल जाता है। खेत की सतह ठीक तरह से समान नहीं की जाती है। खेतों में बहुधा क्यारियाँ होती ही नहीं। खेतों की अच्छी तरह से सिंचाई नहीं होती जिससे फ़सल कम होती है। जहाँ कुएं से सिंचाई होती है वहाँ यह लापरवाही नहीं पाई जाती क्योंकि जब कुएं का पानी लिया जाता है तब उसका दाम दिया जाता है। पर नहर के पानी का दाम पानी के परिमाण के अनुसार नहीं बल्कि सिंचाई किए जाने वाले रक़बे के हिसाब से दिया जाता है। इस प्रकार पानी का नुक़सान तो होता ही है,

साथ ही जरूरत से ज्यादा पानी के आसपास के खेतों में भर जाने से उन खेतों की फ़सल को बड़ा धक्का पहुँचता है। यह धारणा कि खेती के लिये सदैव अधिक पानी की आवश्यकता होती है मिथ्या है। ज़मीन ज़मीन और फ़सल फ़सल के अनुसार कम या अधिक सिंचाई की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार कम सिंचाई से उपज को धक्का पहुँचता है उसी प्रकार अधिक सिंचाई से भी उपज की हानि होती है। सिंचाई तो केवल उचित मात्रा में होनी चाहिये। अच्छी हैसियत की ज़मीन में उचित परिमाण में यदि थोड़ी सी सिंचाई की गई हो तो उसमें बड़ी अच्छी फ़सल होगी। आबपाशी का वैज्ञानिक महत्व यह है कि पानी ज़मीन के भीतर के परमाणुओं के चारों तरफ़ पहुँच जावे। ज़मीन की इस भीतरी सतह में कार्बनिक (organic) पदार्थ मिला देने से और अच्छी जोताई कर देने से उसका घनत्व बढ़ जाता है। इस लिये यदि खेती के और काम होशियारी से किये जावें तो जितनी अच्छी ज़मीन होगी उतना ही कम नहर द्वारा आबपाशी की ज़रूरत होगी। रद्दी ज़मीन के लिये अधिक पानी की ज़रूरत होती है। नहरों से ज़रूरत से ज्यादा पानी ले लेने से पानी का नुक़सान तो होता ही है पर जिस खेत में ज़रूरत से ज्यादा सिंचाई होती है उसके गुण भी घट जाते हैं। हर एक किसान को इस बात का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये कि किस किस फ़सल के लिये कितने कितने पानी की ज़रूरत होती है तथा आबपाशी हो जाने पर किस प्रकार के उपाय और किये जावें जिससे सब से अधिक लाभ हो।

हम कह चुके हैं कि निराई से दो लाभ होते हैं। एक तो उससे जंगली पौदे उखाड़ कर दूर कर दिये जाते हैं। दूसरे उससे मिट्टी खुल जाती है। पहले कार्य्य का उद्देश्य यह है कि उस खेत के मुख्य पौदों के पास उनके भोजन के लिये दूसरे प्रतिद्वन्द्वी पौदे न रह जावें जिससे उस ज़मीन में मौजूद वनस्पति भोजन से

उसमें के मुख्य पौदे पूरा पूरा लाभ उठा सकें। निराई के दूसरे कार्य का उद्देश्य यह है कि ज़मीन में पानी बना रहे और उसमें हवा स्वतंत्रतापूर्वक आती जाती रहे। ख़रीफ़ के दिनों में जब कि लगातार वर्षा होती रहती है, पहला कार्य अधिक महत्व का होता है और दूसरा कार्य रबी के दिनों में अधिक महत्वपूर्ण होता है। हमारे किसान खुरपी जैसे साधारण औज़ार से निराई करते हैं। किंतु खुरपी से काम बहुत धीरे धीरे होता है। इसके सिवाय दो तीन पानी गिरने के बाद जब तक मिट्टी में ओट न आ जावे तब तक खुरपी से निराई नहीं हो सकती। बरसात के दिनों में कभी कभी ऐसा होता है कि दस दस पंद्रह पंद्रह दिनों तक पानी की झड़ी लगी रहती है। इससे भी मिट्टी में ओट जल्दी नहीं आने पाती। परिणाम यह होता है कि जंगली पौधे उस खेत के मुख्य पौधों को दबाने लगते हैं। इससे निराई के लिए कुछ ऐसा औज़ार काम में लाना चाहिए जिसे ओट की परवाह न हो। ऐसे औज़ार सरकारी कृषि विभाग से मिल सकते हैं। ख़ास कर पंजाब के नहर उपनिवेश जैसे स्थानों में इस प्रकार निराई करने से काम नहीं चल सकता जहाँ कि खेतों का रक़बा तो बड़ा होता है और मज़दूर बहुत मँहगे मिलते हैं। पाश्चात्य देशों में निराई का काम हैरो (Harrow) और हो (Hoe) नामक यंत्रों से होता है। इस देश में जहाँ सिंचाई नहरों से होती है वहाँ इन यन्त्रों की पश्चात्य देशों से भी अधिक आवश्यकता है क्योंकि सिंचाई के बाद ज़मीन की ऊपरी सतह कड़ी हो जाती है और जंगली पौदे बहुत हो जाते हैं। यह प्रथा अधिक ख़र्चीली भी नहीं है क्योंकि एक आदमी एक जोड़ बैल से दिन में ३-४ एकड़ ज़मीन में काम कर सकता है। पर उन (Harrow) यंत्रों में भी जो कुछ कठिनाइयाँ आती थीं उनको दूर करने के लिये पंजाब के सरकारी कृषि विभाग ने कुछ ऐसे हो (Hoe) और हैरो (Harrow) बनाये हैं जिन्हें बार-

हैरो (Bar Harrow) कहते हैं और जिन्हें गाँव का साधारण मिस्त्री भी बना सकता है।

अन्यत्र हो (Hoe) और बार-हैरो (Bar Harrow) के चित्र दिए हुए हैं।

निराई और गोड़ाई का काम हमारे देश में बहुधा स्त्रियाँ करती हैं और दिन भर में कठिनाई से ८ स्त्रियाँ एक बीघा निरा पाती हैं। पर लायलपुर हो (Hoe) के द्वारा एक आदमी एक जोड़ बैल से ४-५ बीघे पर काम कर लेता है। गोड़ाई के दिनों में बैल तो बेकार बैठे रहते ही हैं, इससे यदि हो (Hoe) और बैलों के द्वारा गोड़ाई की जावे तो काम में किफ़ायत भी पड़े और औरतों की मेहनत भी बचे। लायलपुर हो (Hoe) बरसात में ख़ास कर ज्वार, बाजरा के खेतों में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। बार-हैरो (Bar Harrow) गेहूँ, कपास और जौ के खेतों में बड़ा उपयोगी पाया गया है और उसे निम्नलिखित विधियों से काम में लाते हैं:—

(१) ठीक बीज बोने के बाद यदि बोवाई पानी भरी ज़मीन में की गई हो और उस ज़मीन में काफ़ी पटेला चलाया गया हो तो एक ही बार हैरो (Harrow) चलाने से काम चल जाता है। ऐसी ज़मीन में हैरो पर अधिक वज़न देने की आवश्यकता नहीं होती।

(२) बीज बोने के बाद यदि वर्षा के कारण ज़मीन कड़ी हो गई हो तो बिना वज़न दिये एक ही बार हैरो (Harrow) चलाने से काम चल जाता है।

(३) गेहूँ के पौदों में जहाँ ३-४ पत्ते निकल आये हों वहाँ बिना वज़न दिये एक वार हैरो (Harrow) चला देना चाहिये।

(४) पहली और दूसरी सिंचाई के बाद वज़न देकर कम से कम दो दो बार आड़ा बेड़ा हैरो (Harrow) चला देना चाहिये।

बापखपुर हो (पृष्ठ १५२)
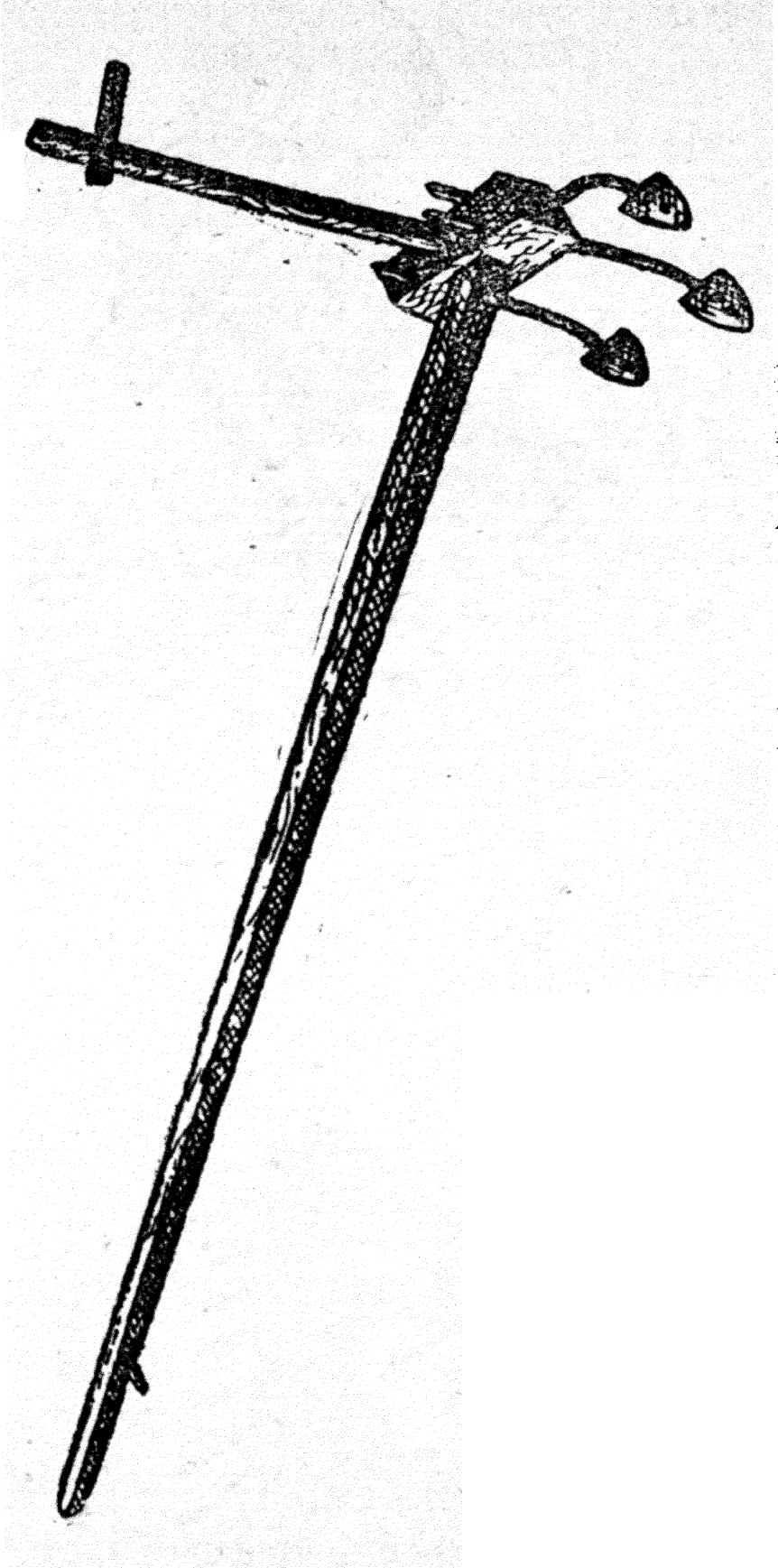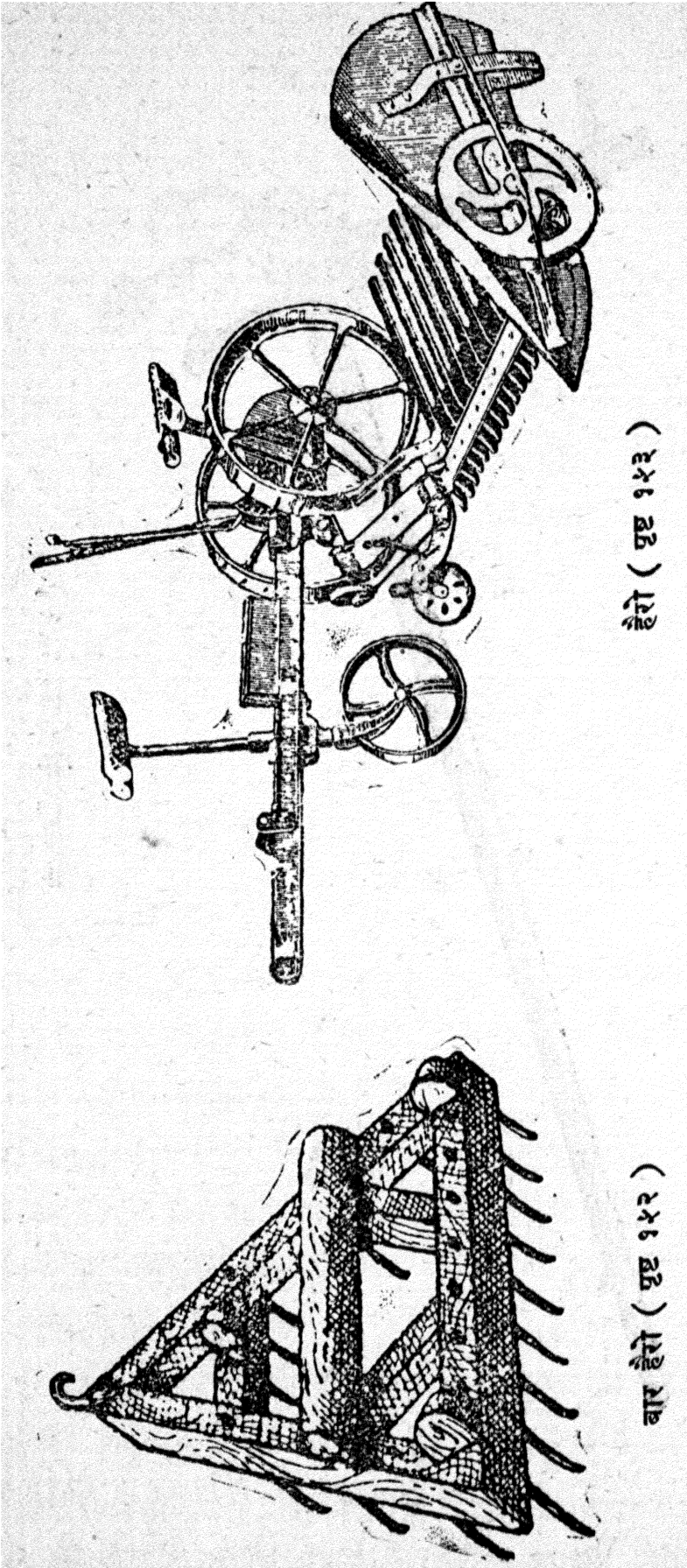
बार हैरो (पृष्ठ १५२)

हैरो (पृष्ठ १५२)

(५) शुरू शुरू में चना, कपास व गन्ने के खेतों में भी हैरो (Harrow) चला देने से फ़ायदा होता है।

हैरो (Harrow) को उचित समय में चलाने से बहुत फ़ायदा होता है। पर ज़मीन जब अधिक गीली हो तो उसे न चलाना चाहिये, नहीं तो पौदे उखड़ जाते हैं।

कटाई—हिन्दुस्तान में कटाई बहुधा हंसिये से होती है। आम तौर से लोग फ़सल को काटते जाते हैं और स्त्रियाँ उसके गट्ठे बनाती जाती हैं। इस प्रकार से एक दिन में एक एकड़ गेहूँ, जौ या धान जैसी फ़सल काटने के लिये आठ पुरुष और स्त्रियों की आवश्यकता होती है। कृषि-कर्म की और विधियों की अपेक्षा खास कर फ़सल काटने में पुराने औज़ारों से काम अधिक लिया जाता है। इंडियन जरनल अव् इकानामिक्स नामक पत्रिका के द्वितीय भाग, खण्ड दो, में अध्यापक गिलवर्ट स्लेटर ने अपने "दक्षिण भारत के अर्थशास्त्र" शीर्षक लेख में इस प्रकार लिखा है—धान के खेतों में फ़सल काटते हुए लोगों को देख कर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा कि एक दिन में एक एकड़ फ़सल काटने के लिये कितने आदमियों की आवश्यकता होती है। उत्तर मिला आठ। तथा इसके सिवा फ़सल को खलिहान में ले जाने के लिये कुछ स्त्रियों की भी आवश्यकता होती है।

इंगलैंड में फ़सल यंत्रों से काटी जाती है। एक आदमी फ़सल काटने और बांधने की एक मशीन से एक दिन में छः एकड़ की फ़सल को काट और बाँध सकता है। वास्तव में हिन्दुस्तानी प्रथा से समय और शक्ति की बड़ी हानि होती है। यह तो केवल एक उदाहरण था। ऐसी बातें यहां प्रायः सभी स्थानों में पाई जाती है।

अध्यापक गिलबर्ट स्लेटर ने जिस यंत्र की चर्चा की है वह तो एक साधारण यंत्र है। इसके सिवा सामने दिये हुये चित्र के समान फ़सल काटने का एक और यंत्र होता है जिसका उद्देश्य परिश्रम का बचाना

है। यह उन किसानों के लिये है जिनके पास गेहूँ के बड़े बड़े खेत होते हैं और जिन्हें फ़सल काटने के लिये मज़दूर नहीं मिल सकते, इन्हीं कारणों से पंजाब में ऐसी सैकड़ों मशीने काम कर रही हैं। इन मशीनों में प्रति दिन चालीस से पचास एकड़ की गेहूँ की फ़सल कट जाती है। एक जोड़ अच्छे बैल इस मशीन को खींच सकते हैं। पर इसे दिन भर चलाने के लिये दो जोड़ बैलों की आवश्यकता होती है। प्रति घंटे उन बैलों को बदलते रहना चाहिये। इस मशीन से एक एकड़ गेहूँ काटने का दाम डेढ़ रुपया होता है। उतने ही गेहूँ को हाथ से काटने का दाम छः रुपये होते हैं।

पर इस विषय में एक बात अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिये। हमारे किसानों के खेत इतने छोटे होते हैं तथा उनकी आर्थिक अवस्था इतनी हीन होती है कि उनमें से प्रत्येक किसान ऐसे मँहगे यंत्रों को रख कर उनसे पूरा लाभ नहीं उठा सकता। इन यंत्रों से तो उन्हीं स्थानों में लाभ उठाया जा सकता है जहां किसानों के पास सौ दो सौ एकड़ ज़मीन हो और जिनमें एक ही प्रकार की फ़सल बोई जाती हो। जहां ऐसे बड़े खेत हों व जहां इस प्रकार एक ही फ़सल बोई जाती हो उन स्थानों में ऐसे यंत्र सहयोगी संस्थाओं द्वारा काम में लाये जा सकते हैं। इसी से ये यंत्र पंजाब में बड़ी सफलतापूर्वक काम में लाये जा रहे हैं पर उन्हें संयुक्त प्रांत और विहार में सफलता नहीं मिल सकती है। अन्यत्र गेहूँ काटने के एक और यंत्र का चित्र दे रहे हैं जो बहुधा भारत वर्ष में काम में लाया जाता है।

खलिहान—काटने के बाद फ़सल खलिहान में ले जा कर रखी जाती है। आमतौर से खलिहान गांव के चारों तरफ़ के बाग़ बग़ीचों में होते हैं। या खेत में ही एक तरफ सफ़ाई करके फ़सल की ढेरी लगा देते हैं। वहां उसे फैलाकर रख देते हैं ताकि वह वहाँ अच्छी तरह से सूख जावे। फिर उसकी गेहाई (मड़ाई)शुरू कर देते हैं। पाश्चात्य

देशों में काटने के बाद फ़सल ढके हुये स्थानों में रखी जाती हैं जिससे उसके पानी गिरने से सड़ जाने, चिलम की आग उड़ कर उसमें आग लग जाने तथा चूहे आदि जानवरों के काटे जाने का डर नहीं रहता। भारतीय किसान भी यदि अपनी गाढ़ी कमाई के फल को अन्त में बर्बादी से बचाना चाहते हैं तो उन्हें सहयोगी संस्था द्वारा प्रत्येक गांव पीछे एक या दो ऐसे ढके हुये स्थान बना कर अपनी फ़सल को साव-धानी से रखना चाहिये। यह कई बार देखने में आया है कि फ़सल काफ़ी अच्छी हुई है। कट कर खलिहानों में आ गई है। पर इसके बाद पानी गिर जाने से सड़ कर सत्यानाश हो गई है। यदि किसान गेहाई आदि के होने तक अपनी फ़सल को ढके हुये स्थानों में रखने में असमर्थ है तो उसे कम से कम कूप बना कर तो अवश्य ही रख देना चाहिये जैसे संयुक्त प्रांत के बिजनौर, सहा-रनपुर आदि पश्चिमीय ज़िलों में होता है। यह कूप इस प्रकार बनाया जाता है। कटी हुई फ़सल को गुम्बज की तरह सजा देते हैं। ऊपर उसके पयाल को इस प्रकार छा देते हैं जिससे उसके ऊपर से पानी ढल जाता है और ढेरी के नीचे प्रवेश नहीं करने पाता।

गेहाई—इस समय गेहाई या दायँ चलाने की प्रथा जो प्रचलित है वह एक प्रकार से कोई ख़राब नहीं है। हां, वह बैलों के लिये दुखदाई अवश्य ही है। ख़रीफ़ की गेहाई के साथ साथ रबी की बोआई भी करनी पड़ती है तथा रबी की गेहाई कड़ाके की गरमी में होती है। इस प्रकार की गेहाई बैलों के लिये और भी दुखदाई है। इससे यदि किसी यंत्र से गेहाई की जावे तो बैलों का कष्ट तो दूर अवश्य ही हो। साथ ही रबी की जोताई बोआई में वे बैल अधिक ताक़त के साथ काम कर सकेंगे। प्रत्येक प्रांतीय सरकारी कृषिविभाग के पास गेहाई का यंत्र होता है। संयुक्त प्रांत की सरकार मिश्र देश की गेहाई के यंत्र को अधिक पसंद करती है। वह इस प्रकार की बनी

रहती है। एक चौखूटे में कई तवे लगे रहते हैं। उसे एक जोड़ बैल खींचते हैं। साधारण तौर से तीन जोड़ बैल जितना काम कर सकते हैं इतना इस यंत्र द्वारा एक ही जोड़ बैल कर सकते हैं। इससे बैलों के परिश्रम की बहुत बचत होती है। इस यंत्र के दाम लगभग ४२) बयालीस रुपये होते हैं।

परतवाई या ओसाई—हमारे देश में परतवाई सूप से की जाती है। और यदि हवा परतवाई करते समय चलती हो तो बड़ा सुभीता होता है। यदि हवा अनुकूल न चलती हो तो केवल सूप के सहारे परतवाई ठीक तरह से नहीं हो पाती और अनाज में बहुत भूसा और पयाल मिले रह जाते हैं। यदि परतवाई भी यंत्र द्वारा होने लगे तो किसी प्रकार भी अनाज में भूसा वग़ैरह मिला हुआ न रह सकेगा। परतवाई के लिये यंत्र बन चुके हैं। इससे काम जल्दी भी होता है।

कृषि सुधार के अन्तर्गत कृषि कार्य की विधियों में किस प्रकार उन्नति की जा सकती है यह हम यहाँ तक बहुत कुछ कह चुके हैं। पाठकों ने हमारे इस अध्याय को पढ़कर यह देख लिया होगा कि हिंदुस्तान में खेती के जो तरीक़े और औज़ार चले आते हैं उन्हीं के आधार पर, उन तरीक़ों और औज़ारों से हमने उन्नति करने की सलाह दी है। पूरे परिवर्तन की सलाह केवल वहीं दी है जहाँ उसकी नितान्त आवश्यकता है।

---

*

पन्दरहवाँ अध्याय

फ़सल का भौगोलिक व सामयिक प्रसार

उपरोक्त विषय का हम दो दृष्टि-कोण से विचार कर सकते हैं।

(१) स्थान स्थान के अनुसार भिन्न भिन्न फ़सल का बोया जाना। इसको हम भौगोलिक प्रसार (Geographic distribution of crops) कह सकते हैं।

(२) समय समय के अनुसार भिन्न भिन्न फ़सल का बोया जाना। फ़सल को इस प्रकार दो विभागों में बांट देना भारत व आस्ट्रेलिया जैसे गर्म देशों में एक मार्के की बात है। यहाँ की आबहवा अनियमित रहती है और बरसात का एक खास मौसम होता है। इंगलैंड और फ्रांस जैसे देशों में, जहाँ हिंदुस्तान की तरह आबहवा साल के भिन्न भिन्न समय में बदलती नहीं रहती और जहाँ साल के प्रत्येक महीने में पानी गिरता रहता है, खरीफ़ और रबी नामक दो फ़सलें नहीं होतीं। उन देशों की ज़मीन में जो फ़सलें पैदा हो सकती हैं वे सब एक ही साथ बोई जाती हैं और यदि बन पड़ा तो साल भर में वह फ़सलें दोहरा दी जाती हैं। इस प्रकार साल में वही फसल दो बार पैदा होती है।

भौगोलिक प्रसार (Geographic distribution of crops.) फ़सल का भौगोलिक प्रसार ज़मीन की आंतरिक व रसाय-

निक अवस्था, वर्षा का परिमाण तथा आबहवा की अन्य परिस्थितियों पर निर्भर है यथा गर्मी, सर्दी, ओस, हवा में पानी का रहना, आदि। स्थान स्थान में जाने आने के सुभीते होने का असर भी फ़सल के भौगोलिक प्रसार पर पड़ता है।

कोई फ़सल किसी एक ख़ास ज़मीन में पैदा होती है और दूसरी में नहीं। क्योंकि भिन्न भिन्न प्रकार के पौदों की उपज के लिये उसकी ज़मीन में भिन्न भिन्न रसायनिक अवस्थाओं की आवश्यकता होती है। इससे जिस ज़मीन में जिस फ़सल के लायक़ रसायनिक पदार्थ मौजूद होंगे उस ज़मीन में वही फ़सल पैदा होगी। फिर प्रत्येक फ़सल के लिये ज़मीन की विभिन्न आन्तरिक अवस्थाओं की आवश्यकता होती है। इससे कोई फ़सल केवल उसी ज़मीन में अच्छी तरह पैदा होगी जिस ज़मीन की आन्तरिक अवस्था उसके अनुकूल होगी। उदाहरण के लिये धान को लीजिये। धान ऐसी ज़मीन में पैदा होता है जिसके परमाणु आपस में एक दूसरे से ख़ूब मिले हों और जिसके आर पार पानी सरलता से न जा सके। इसीसे धान मटियार तथा ठोस दोमट में पैदा होता है और मुख्यता बंगाल, आसाम, बिहार उड़ीसा, ब्रह्मदेश, मद्रास और संयुक्त प्रांत के पूर्वी भाग में पाया जाता है।

जिस प्रकार धान की उपज का ज़मीन की आंतरिक व रसायनिक अवस्थाओं से सम्बन्ध होता है। उसी प्रकार धान का आबहवा से सम्बन्ध रहता है। धान ऐसे स्थानों में पैदा होता है जहाँ गर्मी काफ़ी हो और ज़मीन में पानी ख़ूब भरा रहता हो और हवा में नमी हो। उपरोक्त स्थानों की आबहवा ऐसी ही है। इस प्रकार ज़मीन की अवस्थाओं व आबहवा की परिस्थिति दोनों के मेल पर फ़सल की उपज निर्भर रहती है।

भौगोलिक प्रसार बहुधा दो प्रकार का रहता है। एक तो मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार और दूसरे व्यवसायिक परिस्थितियों के

अनुसार। यद्यपि फ़सल का भौगोलिक प्रसार ऊपर दिये हुये कारणों यथा ज़मीन की अवस्थाओं और आबहवा पर निर्भर रहता है, तथापि सभ्यता के आरम्भकाल में आने जाने की असुविधाओं के कारण—मनुष्य की आवश्यकताओं का भी उसपर काफ़ी असर पड़ता है। जिस स्थान से अन्य-स्थानों का उपरोक्त असुविधाओं के कारण संबंध नहीं रहता उस स्थान को अपने ही में परिपूर्ण रहना पड़ता है। अर्थात् ऐसे प्रत्येक स्थान को अपने नागरिकों के लिये सारे भोजन के पदार्थ और कपड़े पैदा करने पड़ते हैं। आर्थिक अवस्थाओं की इस दशा पर पहुँच जाने के कारण हम देखते हैं कि ज़मीन, आबहवा और वर्षा की विभिन्नताओं से अनाज, कपास, तेल के बीज और गन्ने पैदा करने में केवल स्थानीय विशेषता आ जाती है। एक स्थान में भोजन का मुख्य अनाज चावल व किसी दूसरे में गेहूँ हो जाता है। पर कपास, तेल के बीज और गन्ने तो ऐसे प्रत्येक स्थानों में बोये जाते हैं। शायद ही ऐसी जगह मिलेगी जहाँ कोई ख़ास अनाज या ख़ास तेल का बीज बोया जावे। इस प्रकार की विशेषता तो केवल उन्हीं स्थानों में पाई जाती है जहाँ कि आने जाने का पूरा पूरा सुभीता हो गया है और जहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान तक साम-ग्रियाँ सुभीते के साथ और शीघ्रता के साथ लाई जा सकती हैं। किसानों को यह देख लेना चाहिये कि उनके गाँव में भिन्न भिन्न खेतों में जो भिन्न भिन्न पौधे बोये जाते हैं उनमें औसत से प्रति बीघा कौन सी फ़सल सब से अधिक पैदा होती है। फिर वही फ़सल उस गाँव की ज़मीन में बोनी चाहिये। पर क्योंकि उनका गाँव इधर उधर आने जाने के सुभीते के न रहने के कारण सब गाँवों से परे रहता है इससे अपनी सभी साधारण आवश्यकताओं की चीज़ें उन्हें उस गाँव में उत्पन्न करनी पड़ती हैं। इससे वे लोग किसी ख़ास फ़सल की ओर ध्यान नहीं दे सकते। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक भारतवर्ष की यही अवस्था रही

थी और यद्यपि अब किसी किसी स्थान में कोई विशेष फ़सल पैदा करने की प्रवृत्ति दिखलाई देती है तो भी अब भी बहुधा वही बात पाई जाती है।

व्यवसायिक परिस्थितियों के अनुसार भौगोलिक प्रसार—हमने यह देख लिया कि आने जाने के सस्ते व समय की बचत करने वाले साधन न रहने के कारण लोग इस बात पर लाचार हो जाते हैं कि एक ही प्रकार की ज़मीन पर दूसरी फ़सल की अपेक्षा औसत में जो फ़सल कम पैदा होती है उसे ही वे पैदा करें। पर जिन स्थानों में आने जाने के सारे सुभीते मौजूद रहते हैं वहाँ प्राकृतिक भौगोलिक प्रसार में व्यवसायिक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन हो जाता है। ऐसे स्थानों में लोग उस फ़सल को नहीं बोते जिसकी उपज़ दूसरी फ़सल की अपेक्षा प्रति बीघे अधिक हो। पर वहाँ ऐसी फ़सल बोते हैं जिसका अधिक दाम मिले। मान लीजिये कि किसी स्थान में एक प्रकार के खेत में वहाँ की प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुसार आठ मन गेहूँ पैदा होता है और उसी प्रकार की दूसरी ज़मीन में उस गाँव में सात मन चावल पैदा होता है। पर यदि गेहूँ का दाम पाँच रुपया प्रति मन और चावल का दाम सात रुपये प्रति मन है और यदि उस प्रकार की ज़मीन पर गेहूँ की उपज करने में तीन रुपये ख़र्च होते हैं और चावल को उत्पन्न करने में पौने तीन रुपये ख़र्च होते हैं तब कोई भी समझदार आदमी गेहूँ उत्पन्न करना छोड़ देगा और चावल ही पैदा करता जावेगा क्योंकि चावल से उसे अधिक लाभ होता है। इससे व्यवसायिक परिस्थितियों पर फ़सल का प्रसार करना केवल ज़मीन की प्राकृतिक अवस्था पर ही निर्भर नहीं रहता। बाज़ार में भिन्न भिन्न परिमाण में ख़र्चा लगता है इन दोनों बातों का भी उस पर बड़ा भारी असर पड़ता है।

सामयिक प्रसार—फ़सल का सामयिक प्रसार किसी स्थान की वर्षा व आबहवा के परिवर्तन पर निर्भर है। यदि भारतवर्ष में किसी ख़ास ऋतु में वर्षा न होकर साल भर में सदैव कुछ कुछ पानी गिर जाया करता तो इस प्रकार से अलग अलग ख़रीफ़ और रबी नाम की दो फ़सलें न होतीं। हिन्दुस्तान में ख़ास एक ऋतु में वर्षा होने का फ़सल के सामयिक प्रसार तथा देश के भिन्न भिन्न स्थानों की गर्मी पर इतना असर पड़ता है कि हम यह भली भाँति कह सकते हैं कि फ़सल के सामयिक प्रसार का वह सबसे प्रधान कारण है। पर यह बात भी हम नहीं भूल सकते कि यदि हिन्दुस्तान में वर्षा किसी ख़ास ऋतु में न होती तो भी सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के सदैव स्थानान्तर होते रहने से भिन्न भिन्न परिमाण में गर्मी पैदा होती रहती। गर्मी के इस निरन्तर परिवर्तन से समय में अवश्य ही कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। हां, जिस प्रकार जून, जुलाई, अगस्त और सितम्बर, इन चार महीनों की वर्षा से आगामी शीत काल बेहद ठंडा हो जाता है उस प्रकार उपरोक्त गरमी के परिवर्तन होने से समय में परिवर्तन न होता। जिन फ़सलों के पैदा होने के लिये बहुत पानी की आवश्यकता होती है वे फ़सलें तो तभी पैदा होंगी जब कि बार बार पानी गिर रहा हो। फिर बरसात में गर्मी ख़ूब रहती है। इससे इन दिनों में वही फ़सल बोई जा सकती है जो उतनी गर्मी को सहन कर सके और उतने पानी में उत्पन्न हो सके। साल में दूसरे समय में वे फ़सलें पैदा होती हैं जिन्हें अधिक पानी की आवश्यकता नहीं रहती और जिनका बहुत कम गर्मी से काम चल जाता है।

भारत में फ़सल के प्रसार के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन हम कर चुके। अब हम यह देखेंगे कि इस देश के वे सिद्धांत कहाँ तक अपना असर दिखला रहे हैं। ब्रिटिश भारत के कृषि सम्बन्धादि के अंकों

(statistics) को देखने से हमें यह मालूम होता है कि कुछ ही दिन पहिले आवश्यकतानुसार फ़सल का प्रसार होता था और अब भी बहुत से स्थानों में ऐसा ही होता है। प्रत्येक गाँव में जनसाधारण की सभी आवश्यक वस्तुएँ यथा अनाज, कपास, तेल के बीज और गुड़ के लिए गन्ने पैदा कर लिये जाते थे। पर ज़मीन की अवस्था और आबहवा में एक स्थान से दूसरे स्थानों में जो घोर विभिन्नता होती थी उसका असर इन गावों में भी पड़ता था। इस प्रकार भिन्न भिन्न गावों में भोजन, तेल, वस्त्रादिक के भिन्न भिन्न पौदे बोये जाते थे। दिये हुए नक़शा "क" से (जो कि ब्रिटिश भारत के सन् १८९१-१८९२, १८९२-१८९३, १८९३-१८९४ से लेकर १९१४ से १९१७ तक तीन तीन वर्ष के कृषिसम्बन्धी अंकों (statistics) के औसतन रक़बों के आधार पर बना हुआ है, इस बात का बहुत समर्थन होता है। इस नक़शे से यद्यपि हम यह देखते हैं कि पहले तिसाले में जो जो फ़सलें एक प्रांत में पैदा होती थीं उनमें से कुछ फ़सलें तो १९१४-१९१७ वाले तिसाले के आते तक ग़ायब हो गई हैं और कुछ का रक़बा कम हो गया है। कारण इसका यही है कि उन स्थानों में आने जाने के सुभीते उत्पन्न होते गये। पर तो भी प्रत्येक प्रान्त में क़रीब क़रीब सभी फ़सलें पैदा होती हैं। इस सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित अंकों पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिये। २५ वर्ष के बाद :—बंगाल में गेहूँ की उपज १६,०७,००० एकड़ से घटकर १३,९९,००० एकड़, गन्ने की उपज ११ लाख एकड़ से घटकर ५,२८,००० और कपास की उपज २,०९,००० एकड़ से १,५२,००० एकड़ हो गई है। बम्बई और सिन्ध प्रान्त में गेहूँ की उपज २३,५९,००० एकड़ से १९,५५,००० एकड़, अलसी की उपज २,८२,००० एकड़ से १,५१,००० हो गई है। संयुक्त प्रान्त में रागी की उपज ५,५८,००० एकड़ से २,३०,००० एकड़, अलसी ६,१५,००० एकड़ से ३,२५,००० एकड़ रह गई है। पंजाब

में ज्वार की उपज २४,९७,००० एकड़ से १३,५१,००० एकड़ रह गई है, और मध्यप्रदेश में गन्ने की उपज ४१,००० एकड़ से २०,००० एकड़ हो गई है।

आने जाने के सुभीतों में जैसी जैसी उन्नति हो गई है वैसे वैसे किसी किसी प्रान्त में किसी किसी फ़सल के उत्पन्न करने में विशेषता आती गई है। पर चित्र "अ" जो कि आगे दिया जा रहा है, यह बतलाता है कि फ़सल उत्पन्न करने की विशेषता अभी "मार्के" की श्रेणी तक नहीं पहुँची है।

इसका मुख्य व असली कारण इस प्रकार हैं:—

(१) किसानों में शिक्षा का अभाव।

(२) आचरण और व्यवहारों का प्रभाव।

(३) विशेषता की ओर उनकी उदासीनता।

पर जब हम ब्रिटिश भारत के अंकों (statistics) को देखते हैं तो देश के कुछ हिस्सों में किसी किसी फ़सल के लिये जो जो स्थान जिस फ़सल के लिये उपयुक्त हैं उनकी विशेषता की ओर लोगों की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। इस बात को अच्छी तरह से समझाने के लिये हम प्रत्येक फ़सल की चर्चा न करेंगे। नक़शा "च" से यह पता लग जाता है कि भारत के गेहूँ की उपज में पंजाब की उपज की तादाद सब से अधिक है और सन् १९०० ई० से उसमें उन्नति ही होती आई है। इस उन्नति के निम्नलिखित कारण हैं।

(१) नहरों की उन्नति सन् १८८७-१९०० में जब दक्षिणी चिनाब की नहर खोली गई थी तब से पंजाब में नहरें बढ़ती में ही हैं।

(२) सिन्ध और करांची की ओर नार्थ-वेस्टर्न-रेलवे का फैलाव। इस रेलवे के विस्तार से उत्तरी हिन्दुस्तान का पश्चिमी पंजाब और सिन्ध से सम्बन्ध हो गया। इससे विदेशों को गेहूँ भेजने में सुभीता पड़ने लगा। इसी कारण से इस प्रांत में और संयुक्त प्रांत के पश्चिमी

ज़िलों में गेहूँ बोने की ख़ास प्रवृत्ति हो गई। इस प्रवृत्ति को पंजाब और संयुक्तप्रान्त के गेहूँ के रक़बे के बढ़ने से ही नहीं—साथ ही दूसरे प्रान्तों में उसके घट जाने से भी बड़ी सहायता मिली है। नक़्शा "च" से ये सब बातें साफ़ मालूम हो जाती हैं। सन् १८९३ ई० में भारत में अधिक गेहूँ मध्यप्रदेश और बरार में पैदा होता था और उन्हीं स्थानों में गेहूँ का रक़बा बहुत बढ़ा हुआ था। सन् १८९६ ई० से उन स्थानों का वह रक़बा एक दम घटने लगा। यहाँ तक कि १८९३ वाली तादाद अब तक नहीं पहुँच सकी और वह रक़बा सदैव घटता ही गया। इस घटती की पूर्ति संयुक्त प्रांत और पंजाब की गेहूँ की उपज से हुई क्योंकि सन् १९०० ई० के बाद से इन दोनों प्रांतों में गेहूँ के रक़बे की तादाद बढ़ती ही गई है।

इसी तरह नक़शा "त्र" से यह पता लगता है कि सन् १९०० ई० से आगे मध्यप्रदेश, बरार और बम्बई प्रांत में कपास का रक़बा बढ़ता जा रहा है। इससे यह कहा जा सकता है कि इन प्रान्तों की गेहूँ की खेती में जो हानि हुई है उस हानि की पूर्ति इनकी कपास की खेती से हो गई है और भारत की गेहूँ की उपज में इन प्रांतों से जो कमी पड़ गई है उस कमी की पूर्ति पंजाब और संयुक्त प्रांत की उपज से हो गई है। फ़सल में उत्पन्न करने में विशेषता हासिल करने का निम्नलिखित बातों से भी समर्थन होता है। भारत के किसी भी प्रान्त की कुल फ़सलों की जो तादाद है उस तादाद में उस प्रान्त के एक फ़सल की तादाद तो बढ़ रही है और दूसरे की घट रही है। इस बात को भी समझाने के लिये उन्हीं प्रान्तों और उन्हीं फ़सलों की चर्चा करेंगे जिनका वर्णन एक बार हो चुका है। "इ" "उ" "ऋ" "ए" नक़्शों से यह पता लग जाता है कि संयुक्त प्रांत तथा पंजाब में कुल फ़सलों की तादाद में गेहूँ की तादाद प्रति शत और फ़सलों से अधिक बढ़ रही है। इसी प्रकार मध्य प्रांत और बरार तथा बम्बई में और फ़सलों की अपेक्षा

कपास की तादाद प्रति शत अधिक बढ़ रही है। इन बातों को देख-कर यह कह सकते हैं कि जब आने जाने के सुभीते अच्छे नहीं थे तब भी भिन्न भिन्न स्थानों की ज़मीन और आबहवा के अनुसार उन स्थानों में फ़सल पैदा करने में विशेषता आ गई थी। पर साथ ही प्रत्येक स्थान में वहाँ की आवश्यकतानुसार भोजन वस्त्र की सभी आवश्यक सामग्रियाँ उत्पन्न कर ली जाती थीं। अब इस प्रकार की स्वावलम्बी आर्थिक दशा में परिवर्तन हो रहा है और दूसरे ही आधारों पर विशेषता प्राप्त की जा रही है।

हमें अब यह तो मालूम हो गया कि भारत में फ़सल उत्पन्न करने में विशेषता आती जा रही है यद्यपि यह योग्यता धीरे धीरे प्राप्त की जा रही है। अब हम यह विचार करेंगे कि इस विशेषता का आधार क्या है। भिन्न भिन्न स्थानों की भिन्न भिन्न फ़सलों की उपज औसत दर के तुलनात्मक विचार करने से तथा उन उन स्थानों में खेती की ज़मीन के विस्तार पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि जिन प्रान्तों में प्रति एकड़ जिस फ़सल की उपज सब से अधिक होती है उनको छोड़कर भी अन्य प्रान्तों में उस फ़सल की खेती बढ़ रही है जैसा कि नक़शा 'प' से मालूम होता है। साधारण तौर से यही कहा जावेगा कि जिस स्थान में जिस फ़सल की उपज प्रति एकड़ सब से अधिक होगी उसी स्थान में उस फ़सल की खेती अधिक की जावेगी। पर बहुधा इसके विपरीत होता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। यह सदैव ध्यान रखना चाहिये कि एक स्थान में किसी फ़सल की खेती करना केवल इसी बात पर निर्भर नहीं है कि उस स्थान में उस फसल की उपज सबसे अधिक होती है। इसके निश्चय करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि प्रति एकड़ पीछे कितनी उपज होती है। प्रति एकड़ इस उपज पीछे कितना ख़र्च पड़ता है और उस उपज का बाज़ार में क्या दाम मलता है। इन तीनों बातों को मिलाकर यह देख लेना चाहिये कि उस

उपज से कितने रुपये मिलते हैं। भिन्न भिन्न स्थानों की भिन्न भिन्न उपज के इस तुलनात्मक विचार करने से यह मालूम हो जाता है कि कौन सा स्थान किस फ़सल के लिए सब से अधिक उपयुक्त है। इन नियमों के आधार पर फ़सल के प्रसार करने को व्यवसायिक प्रसार कहते हैं। इसको हम आर्थिक कहें तो अत्युक्ति न होगी। नक़शा "क" के देखने से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि अब फ़सलों का प्रसार व्यवसायिक सिद्धान्तों के अनुसार होता है। इस नक़्शे में हम देखते हैं कि भारत की कुछ फ़सलों का रक़बा तो पूर्ववत् ही है, कुछ का परिमाण बहुत बढ़ गया है व कुछ फ़सलों का परिमाण पहले से घट गया है क्योंकि ऐसी फ़सलें सस्ते दामों में विदेशों से आ जाती है। दूसरे प्रकार की फ़सलों के उदाहरण कपास, जूट, सरसों, तिल और चाय हैं। तीसरे प्रकार की फ़सलों का उदाहरण गन्ना है।

एक ही वर्ष के गेहूँ के भाव का सम्बन्ध गेहूँ की खेती के रक़बे से तथा कपास का सम्बन्ध कपास की खेती के रक़बे से जो दिखलाई पड़ता है वह सम्बन्ध भी मार्के की बात है। जिस वर्ष उपज का दाम अधिक होता है उस वर्ष से एक या दो वर्ष पहले उस उपज का रक़बा कम पाया जाता है। अब नक़शा "ई" देखिये। इस नक़्शे में हम यह देखते हैं कि संयुक्त प्रान्त में सन् १८९६ ई० में गेहूँ का रक़बा घटा हुआ था और सन् १८९७ ई० में गेहूँ का भाव बढ़ गया था। इसी चित्र के अनुसार सन् १९०७ तथा १९०८ में भी यही घटना घटी है। इस प्रकार क्रमशः गेहूँ के रक़बे के एक साल कम हो जाने पर दूसरे साल उसका भाव बढ़ जाना हिन्दुस्तान के लिये स्वाभाविक बात है। क्योंकि यदि गर्मी के महीनों में यथेष्ट पानी न गिरा तो गेहूँ की उपज जोकि शीतकाल में होती है, घट जावेगी और इससे अगले साल उसका दाम बहुत बढ़ जावेगा। उपज के भाव तथा उसके रक़बे के इस घने सम्बन्ध को देखकर हम यह

कह सकते हैं कि उपज के भाव का उस उपज के रक़बे की तादाद पर असर नहीं पड़ता। पर खेती के रक़बे तथा उस रक़बे की उपज के परिमाण का असर उसके भाव पर पड़ता है। दो तीन वर्षों के नतीजे को देख लेने से तो हमारा उपरोक्त कथन अवश्य ही सत्य मालूम होता है। पर यदि लगातार २५-३० वर्षों की उपज, उसके भाव, उसके रक़बे आदि पर ध्यान दें तो मालूम हो जावेगा कि उपज के भाव का भी असर उसकी खेती के रक़बे पर पडता है। सन् १९०० ई० से हिन्दुस्तान में गेहूँ का भाव बढ़ना आरम्भ हो गया है। उसी साल के बाद से उसके खेत के रक़बे भी पंजाब, संयुक्त प्रांत तथा मध्य भारत में बढ़ने प्रारम्भ हो गये हैं। यही बात जूट और कपास के विषय में भी सत्य है। इस कथन का समर्थन इस बात से भी होता है कि ज्वार बाजरा, जौ, चना आदि जैसी अव्यवसायिक फ़सलों की फ़ी सदी उपज कुल फ़सल की उपज के हिसाब से लगभग पूर्ववत् ही है। ऊपर की बातें "क" नक़्शे से साफ़ प्रगट हो जाती हैं। इस सब कथोपकथन के बाद हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि हिन्दुस्तानी किसान को फ़सल के व्यवसायिक प्रसार का महत्व मालूम है और वह उससे पूरा लाभ उठाने के लिए तैयार है। हम इस नतीजे पर भी अब आ सकते हैं कि दो तीन वर्षों की खेती के रक़बे का असर उस रक़बे की उपज के भाव पर पड़ता है पर एक काफ़ी समय की उपज तथा उसके रक़बे और उसके भाव की ओर ध्यान देने से यह अच्छी तरह से कहा जा सकता है कि उपज का भाव ही यह निश्चय करता है कि उपज के लिए कितनी ज़मीन की आवश्यकता है। जिस उपज का दाम देश के भीतर और बाहर बढ़ा हुआ होता है उसकी खेती का रक़बा भी बढ़ा हुआ रहता है। इससे यह मालूम होता है कि हिन्दुस्तान में अब खेती धीरे धीरे व्यवसायिक या आर्थिक सिद्धान्तों पर हो रही है।

सोलहवाँ अध्याय

किसान के खेतों में फ़सलों का हेर फेर

पाश्चात्य देशों में बहुधा किसान अपने खेतों के तीन भाग कर लेता है। प्रति वर्ष वह एक भाग में तो कोई मुख्य फ़सल बोता है, दूसरे भाग में जानवरों का चारा बोता है, और तीसरे को परती छोड़ देता है। दूसरी मुख्य फ़सल तो उस भाग में बोता है जिसे पहले वर्ष उसने परती छोड़ दिया था, जिसमें पहले वर्ष मुख्य फ़सल बोई गई थी उसमें दूसरे वर्ष चारा बोता है तथा पहले वर्ष के चारे वाले भाग को दूसरे वर्ष परती छोड़ देता है। तीसरे चौथे तथा प्रत्येक आगामी वर्ष वह अपनी खेत के तीनों हिस्सों में इसी क्रम के अनुसार अदल बदल कर बोता जाता है। इस प्रकार तीन वर्ष में खेत का प्रत्येक भाग एक बार परती पड़ जाता है।

कुछ वर्ष पहले कुछ विदेशी ग्रन्थकारों का मत था कि भारतीय किसान फ़सल के इस हेर फेर की प्रथा का अनुकरण नहीं करते। पर अब शिक्षित लोगों का यह ख़्याल नहीं रहा। लोगों में यह धारणा, कि भारतीय किसान फ़सलों की हेरफेर की प्रथा से अपरचित थे, इसलिए हो गई थी कि हिंदुस्तान में साल भर में दो फ़सलें रबी और खरीफ़ ही होती हैं। फिर हिंदुस्तानी किसान इस विषय में पाश्चात्य देशों

की प्रथा के अनुसार नहीं चलता। इसके सिवाय हमारी खेती बारी का संगठन मनुष्यों की आवश्यकता के अनुसार हुआ है। इससे एक किसान कई फ़सलें बोता है जिसके कारण यहाँ की फ़सलों की चाक्रिक प्रथा अधिक जटिल हो जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से फ़सल की इस चाक्रिक प्रथा की ओर देखने से यह ज्ञात होता है कि उस प्रथा का एक प्रधान उद्देश्य है—जो तीन सिद्धान्तों पर निर्भर है।*

पहला—पहला सिद्धान्त तो नियमित समय के बाद प्रत्येक ज़मीन को आराम देना है। जिस प्रकार अधिक परिश्रम कर लेने के बाद कुछ आराम कर लेने से मनुष्य फिर आगामी परिश्रम के लिये उत्साह के साथ तैयार हो जाता है उसी प्रकार ज़मीन को भी कुछ दिनों के लिये आराम देने से उसकी उपजशक्ति पूर्ववत हो जाती है।

दूसरा—दूसरा सिद्धान्त इस प्रकार है। मान लीजिये कि एक खेत में एक बार गेहूँ बोया गया। प्रत्येक ज़मीन में एक ही साथ बहुत से रसायनिक तत्व रहते हैं। भिन्न भिन्न पौधों को भिन्न भिन्न तत्वों की आवश्यकता होती है। अब जिस ज़मीन में गेहूँ बोया गया है उस ज़मीन का गेहूँ वाला रसायनिक तत्व उस फ़सल के साथ निकल जाता है।

इस प्रकार उस ज़मीन से एक तत्व तो निकल जाता है और दूसरे तत्व रह जाते हैं जिससे उस ज़मीन की गेहूँ के लायक़ उपज शक्ति डावां-डोल हो जाती है। इस विभिन्नता को दो प्रकार से दूर कर सकते हैं। या तो उस ज़मीन में खाद द्वारा फिर से वही तत्व भर दें जिससे उसके सारे रसायनिक तत्व बराबर बराबर हो जावें। अथवा उस ज़मीन में गेहूँ के सिवाय कोई दूसरी ऐसी फ़सल बो दें जो कि उसमें के अधिक परिमाण में बचे हुए तत्वों को खींचकर सारे तत्वों के परिमाण को एक दूसरे के बराबर कर दें। (फ़सल की चाक्रिक प्रथा से इसी प्रकार

---

* उद्देश्य यह है कि ज़मीन की उपज शक्ति डावांडोल न होने पावे।

ज़मीन का उपजाऊपन पूर्ववत हो जाता है। तीसरा सिद्धान्त या उद्देश्य इस चाक्रिक प्रथा का यह है कि मुख्य फ़सल के बाद उसी खेत में ऐसे बैक्टीरिया वाली फ़सल को बो देना चाहिए जो बैक्टीरिया हवा में से नोषजन (Nitrogen) को लेकर नैाषेत (Nitrate) बना देते हैं।

किसान व्यवहार में जिस प्रकार फ़सलों की चाक्रिक प्रथा को काम में लाता है उसके एक दो उदाहरण लेकर हम अब यह देखेंगे कि वे इन वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्भर हैं या नहीं। हम यह कह चुके हैं कि हिंदुस्तान के फ़सली साल के खरीफ़ और रब्बी नामक दो भाग होते हैं। इससे हिंदुस्तानी किसान अपने खेतों के दो भाग करता है। एक भाग में तो खरीफ़ और दूसरे भाग में रबी बोता है। नीचे जो उदाहरण देते हैं वह हिंदुस्तान के ऐसे हिस्से में लागू होगा जहाँ कि बहुधा ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूँ, जौ तथा चना पैदा हो सकते हैं।* सुभीते के लिये किसी एक वर्ष से हम अपना उदाहरण आरंभ करते हैं। मान लीजिए कि किसी एक किसान के पास केवल दस एकड़ ज़मीन है उसमें से खरीफ़ और रबी के लिए लगभग पाँच-पाँच एकड़ के दो भाग करता है। उस दस एकड़ के प्रत्येक एकड़ में सम्वत् १९८६ से लेकर प्रति वर्ष खरीफ़ और रबी में क्रमशः निम्न तालिका के अनुसार फ़सल की बोआई में और परती छोड़ने में हेर-फेर होता जाता है।

---

*जैसे इलाहाबाद, प्रतापगढ़, कानपुर, फ़रुख़ाबाद के ज़िले।

वर्ष	ख़रीफ		रबी	
संवत्	खेत नम्बर	फ़सल	खेत नम्बर	फ़सल
१९८६	१, २	अरहर	१, २	अरहर
	३; ४, ५, ६	ज्वार, बाजरा इत्यादि.	३, ४, ४, ५	मटर, चना, बेर्रा.
	७, ८, ९, १०	परती	७, ८, ९, १०	गेहूँ
१९८७	३, ४,	अरहर	१, २	गेहूँ
	१, २, ५, ६	परती	३, ४	अरहर
	७, ८, ९, १०	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	५, ६	गेहूँ
			७, ८, ९, १०	मटर, चना, बेर्रा इत्यादि
१९८८	५, ६	अरहर	५, ६	अरहर
	३, ४, ७, ८	परती	३, ४, ७, ८	गेहूँ
	१, २, ९, १०	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	१, २, ९, १०	मटर, चना, बेर्रा.
१९८९	७, ८	अरहर	७, ८	अरहर
	१, २, ५, ६	परती	१, २, ५, ६	गेहूँ
	३, ४, ९, १०	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	३, ४, ९, १०	मटर, चना, बेर्रा, इत्यादि
१९९०	९, १०	अरहर	९, १०	अरहर
	३, ४, ७, ८	परती	३, ४, ७, ८	गेहूँ
	१, २, ५, ६	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	१, २, ५, ६	चना, मटर, बेर्रा, इत्यादि
१९९१	१, २,	अरहर	१, २	अरहर
	७, ८, ९, १०	परती	३, ४, ५, ६	मटर, चना बेर्रा
	३, ४, ५, ६	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	७, ८, ९, १०	गेहूँ

ऊपर की तालिका में हम यह देखते हैं कि खेत का प्रत्येक भाग पांच वर्षों में एक बार अवश्य ही परती छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में जहां कपास या चावल बोया जाता है वहाँ उसी स्थान के अनुकूल फ़सलों की चाक्रिक प्रथा काम में लाई जाती है। अनावश्यक विस्तार के भय से अन्यान्य स्थानों की चाक्रिक प्रथा का वर्णन यहां नहीं करते हैं। आशा है कि हमारे चतुर पाठकगण इस एक उदाहरण से ही इसका तात्पर्य समझ जावेंगे। हमारे देश की इस प्रथा में हम केवल यही दोष निकाल सकते हैं कि चारे के लिये किसी खेत का यथोचित भाग नहीं छोड़ा जाता। इस कमी का केवल यही कारण मालूम होता है कि हमारी खेती बारी प्राचीन 'स्वावलम्बी' प्रथा के आधार पर संगठित है जब कि प्रत्येक किसान के पास काफ़ी ज़मीन रहती थी और उसे चरागाह भी काफ़ी मिल जाया करता था। पर अब अवस्थाएं बदल गई हैं। घनी आबादी के पास चरागाह रह नहीं गये। जानवरों को धान के सूखे प्याल या ज्वार बाजरा की सूखी पत्तियां खाने को मिलती हैं। हरा भोजन तो उन्हें केवल तभी प्राप्त होता है जब कि ये फ़सलें खेत में लगी रहती हैं। इसलिए फ़सलों की चाक्रिक प्रथा को इस प्रकार चला देने की बड़ी आवश्यकता है जिससे कि प्रतिवर्ष जानवरों के लिये कुछ चरागाह छूट जाया करें। इस दोष को दूर करने के लिये पंजाब के कृषि विभाग ने वहां के नहर उपनिवेशों में फ़सल की एक प्रकार की चाक्रिक प्रथा चलाई है जो वहां बहुत काम में लाई जाती है। जिस प्रकार हमारी चाक्रिक प्रथा में चक्र का केन्द्र बैक्टीरिया वाली कोई फ़सल जैसे ऊपर दी हुई तालिका में पहले वर्ष की अरहर बना दी गई है उसी प्रकार पंजाब के नहर-उपनिवेशों में जिसकी तालिका नीचे दे रहे हैं, कोई चारे की फसल जैसे लूसर्न (Lucerne) रिज्का घास या बारसीन घास बो दी जाती है।

इन उपनिवेशों में हर खेत में कुल २५ एकड़ ज़मीन है और अढ़ाई अढ़ाई एकड़ के दस टुकड़े किये गये हैं। इन दस टुकड़ों के नाम ये हैं:—अ, ब, स, ड, क, ख, ग, घ, च, छ इन उपनिवेशों में प्रत्येक ज़मीन प्रायः चौकोर होती है। उसे क़िला कहते हैं। एक क़िले में २५ एकड़ ज़मीन होती है। एक क़िले का किसान निम्न प्रकार से दस हिस्सों में बांट देता है।

क़िला

अ

ब

स

ड

क

ख

ग

घ

च

छ

अब नीचे उन उपनिवेशों की फ़सलों की चाक्रिक प्रथा का ब्यौरा देते हैं।

वर्ष संख्या	खरीफ		रबी	
	खेतों के नाम	फ़सल	खेतों के नाम	फ़सल
१	अ, ब, स	कपास, मक्का इत्यादि	ग, घ, च, छ	गेहूँ इत्यादि

वर्ष संख्या	खरीफ़: खेतों के नाम	फ़सल	रबी: खेतों के नाम	फ़सल
	ड	चारा		
	क, ख,	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
२	ड, क ख	कपास	अ, ब, स, छ,	गेहूँ
	ग	चारा		
	घ, च	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ ,,		
३	ग, घ, च	कपास	ड, क, ख, अ	गेहूँ
	छ	चारा		
	ब, स	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
४	छ, ब, स	कपास	ग, घ च, ड	गेहूँ इत्यादि
	अ	चारा		
	ख, क	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
५	अ, क, ख,	कपास		
	ड	चारा	छ, ब, स, ग,	गेहूँ
	च, घ	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
६	ड, च, घ	कपास		
	ग	चारा	अ, क, ख, छ	गेहूँ
	ब, स,	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड		

	खेतों के नाम	फ़सल	खेतों के नाम	फ़सल
७	ग, ब, स	कपास		
	छ	चारा	ड, च, छ, अ,	गेहूँ
	क, ख	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
८	क, ख, छ	कपास	ब, स, ड, ग	गेहूँ इत्यादि
	अ	चारा		
	च, छ	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
९	अ, घ, च	कपास		
	ड	चारा	क, ख, ग, छ	गेहूँ इत्यादि
	ब, स	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
१०	ब, स, ड	कपास	अ, घ, च, छ	गेहूँ इत्यादि
	ग	चारा		
	क, ख	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
११	क, ख, ग	कपास	अ, ब, स, ड	गेहूँ इत्यादि
	छ	चारा		
	घ, च	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
१२	घ, च, छ	कपास	ड, क, ख, ग	गेहूँ
	अ,	चारा		
	ब, स	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
१३	अ, ब, स	कपास	ग, घ, च, छ	गेहूँ

वर्ष संख्या	खरीफ़	रबी
ङ	चारा	
क, ख	तोरिया १ एकड़	
	परती ४ एकड़	

इसी प्रकार हिन्दुस्तान के अन्य भागों में भी जहां चरागाह नहीं होते, फ़सलों की चाक्रिक प्रथा ऐसी चलानी चाहिये ताकि कुछ न कुछ ज़मीन पर प्रति वर्ष चारे की फ़सलें बोई जावें। जानवर ही यहां के धन हैं। इन्हें बिना भर पेट खाना खिलाये हमारी खेती में कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। स्मरण रहे कि पीछे कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान जैसे ग़रीब देश के सर्व साधारण किसानों में बैलों को हटा कर सदैव यंत्र द्वारा काम लेने की यथोचित शक्ति नहीं है।

ऊपर हम कह चुके हैं कि हिन्दुस्तानी किसान फ़सल की चाक्रिक प्रथा को तथा उससे होने वाले लाभों को भली भांति जानता है। पर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इस प्रथा का अनुकरण प्रत्येक किसान नहीं करता है। यह विशेष कर दो प्रकार के किसानों के विषय में सर्वथा सत्य है। एक तो वे किसान जो पूर्वी बंगाल जैसी घनी आबादी में तथा बम्बई और बरार के कपास के खेतों के पास रहते हैं। ये स्थान ऐसे हैं जहाँ जूट तथा कपास जैसी व्यवसायिक फ़सलें बोई जाती हैं। इन स्थानों में किसानों की आदत यह है कि वे प्रति वर्ष अपने खेतों में वही फ़सल बोया करते हैं व खेतों की उपज शक्ति को खाद डाल डाल कर नई करते जाते हैं। इस प्रथा के अनुकरण न करने वाले वे किसान हैं जिनके खेत २-३ एकड़ से ज्यादा नहीं होते क्योंकि वे ग़रीब किसान उतने छोटे खेतों में से कोई टुकड़ी परती नहीं छोड़ सकते। इस दोष का परिणाम यह होता है कि उपज कम होती जाती है। विशेष कर गंगा-जमुना के दोआबा में यह

परिणाम साफ़ मालूम होता है। पर हाँ, बंगाल में इसका कोई ख़ास असर नहीं पड़ता क्योंकि वहाँ की ज़मीनों में ऊपर की ओर से बहती हुई नदियों के साथ ज़मीन की उपजशक्ति के बढ़ाने वाले बहुत से तत्व बह कर वहां एकत्रित हो जाते हैं। यदि हम चाहते हैं कि हमारी ज़मीन में से उपजशक्ति का सदैव नाश न हो जाया करे तो हमें चाहिये कि भिन्न भिन्न स्थानों में फ़सलों के उचित प्रकार की चाक्रिक प्रथा के अनुकरण करने के लिये किसानों को उत्साहित करें।

सत्रहवाँ अध्याय

खेती के लिए हानिकारक रोग तथा जीवजंतुओं से फ़सल की रक्षा

भारत में कृषि-सुधार के सम्बन्ध में एक आवश्यक समस्या यह भी है कि कीड़े मकोड़े तथा फ़सलों की अन्य बीमारियों से उनकी रत्ता कैसे करनी चाहिये। विदेशों से आये हुये ऐसे कीट पतंगों से तथा रोगों से यहां की फ़सल की रत्ता करने के लिये भारत सरकार ने एक कानून बना दिया है। इसे The Destructive Insects and Pests Act. II of 1914 यानी सन् १९१४ ई० का कीट पतंग तथा रोगनिवारण एक्ट २, कहते हैं इस क़ानून के द्वारा बाहर से आये हुए ऐसे तत्वों की जाँच बन्दरगाहों में होती है जिनके साथ हिन्दुस्तान के पौधों का नाश करने वाली बीमारियाँ आती हैं। यदि उन पदार्थों में ऐसे कोई हानिकारक कीट पतंग पाये गये तो उन्हें देश में भेजने के पहिले वहाँ ही दवाइयों में भिगोकर मार डालते हैं। इनके सिवाय कृषिविनाशक अनेकानेक कीट पतंग तथा बीमारियाँ देश में ही वर्तमान है जिनसे किसानों की तथा वस्तुतः सारे देश की बहुत हानि होती है। अब हम कुछ ऐसे कीड़ों, बीमारियों तथा अन्य

शत्रुओं का वर्णन करेंगे और उनसे छुटकारा पाने के भी कुछ उपायों का भी वर्णन करेंगे।

यदि खेत जंगलों के आस पास हुए तो उन्हें जंगली सुअर, लोमड़ी, सियार, नीलगाय, तथा हिरन आदि का भय रहता हैं। जंगली सुअर गन्ना, आलू, ज्वार आदि को सत्यानाश कर डालते हैं। नील गाय तथा हिरन ज्वार बाजरा या धान को खा जाते हैं। सियार और लोमड़ी को तो गन्ना बड़ी प्यारी चीज़ मालूम होती है। इनसे खेती को बचाने के लिये यदि किसान रात को पहरा दे तो कभी कभी उसी का प्राण संकट में रहता है। बहुधा देखा गया है कि जंगली जानवरों को भगा देने के लिए किसान लोग खेतों में टीन बाँध देते हैं जिसकी आवाज़ से हिरन, सियार और लोमड़ी जैसे दब्बू जानवर भाग जाया करते हैं। कोई कोई बाँस गाड़ कर उसे कुरता पहना कर आदमी की सूरत बना देते हैं। इसके सिवा खेतों में शिकारी कुत्ते पालने से भी फ़ायदा होगा। ये आये हुए जानवरों को डराकर एक बार भगा ही न देंगे वरन् आगे के लिये उन्हें अच्छी शिक्षा दे देंगे।

अगर खेत गांव के पास हों तो फ़सल को चूहे बर्बाद करते हैं। इनके सिवा चाहे खेत गांव के पास हों या जंगल के, फ़ाख़ता, तोता, गौरया, चमगादड़ आदि जैसी बहुत सी चिड़ियाँ है जो फ़सल को खा जाती हैं। इनके उपद्रवों को भी खेतों में टीन बाँध कर या आदमी की मूर्ति बनाकर दूर कर सकते हैं।

वास्तव में इन सबों से फ़सलों को बचाना कोई अधिक कठिन काम नहीं है। पर हमारे इस अध्याय का जो विषय है वह कीड़ों तथा पौधों की अन्य बीमारियों से बचाना है जिनसे फ़सलों को बहुत हानि होती है। इन विपत्तियों को दूर करना आसान नहीं। टिड्डी, तितली कनकटे (Grass-hopper) आदि नाना प्रकार के कीड़े ऐसे होते हैं जो किसानों के साथ शत्रु का काम करते हैं। एक दो या दस बीस

हिरन, नीलगाय या सियार आदि हों तो उन्हें सहज में भगा सकते हैं। पर जब हज़ारों और लाखों की तादाद में टिड्डियाँ खेतों पर आक्रमण करती हैं जिन्हें टीन की आवाज़ या आदमी की मूर्ति डरा नहीं सकती तब तो किसानों को रोना आ जाता है और मज़ा तो यह कि ये कीड़े बरसात में ही अधिक तर पैदा होते हैं जब कि खेतों में तरह तरह की फ़सलें लहलहाती हुई नज़र आती हैं। दीमक भी किस प्रकार चीज़ों को नुक़सान पहुँचाती है यह लोगों को मालूम ही है। इसकी पहुँच फ़सलों की जड़ तक रहती है।

पर परमेश्वर ने किसानों को यहाँ बिल्कुल निस्सहाय नहीं कर दिया है। उनमें केवल उद्योगशक्ति चाहिये। निराशावादियों के लिये संसार के किसी कोने में किसी व्यापार में स्थान नहीं है। अब हम कुछ ऐसे उपायों का वर्णन करेंगे जिनसे हम कीटजगत से फ़सलों की बहुत कुछ रक्षा कर सकते हैं। कुछ ऐसी भी चिड़ियाँ होती हैं जो इन कीड़ों को खा जाती हैं। कुछ ऐसी चिड़ियों के नाम ये हैं:—किलनहटी या गलगलिया, कठफोरवा, नीलकंठ, हुदहुद, तीतर, मुर्ग़ी, मैना इत्यादि। किसानों को चाहिये कि जो इनमें से घरेलू चिड़ियाँ हों जैसे तीतर, मुर्ग़ी, मैंने उन्हें खेती के काम के लिए ज़रूर पाला करें जो कि उन कीड़ों को खा जाया करेंगी।

फ़सलों की चाक्रिक प्रथा से एक फ़ायदा इस विषय में भी होता है। कई प्रकार के कीड़े ऐसे होते हैं जो एक विशेष प्रकार की फ़सल पर रहते हैं और दूसरे प्रकार की नहीं। मान लीजिये कि आपने एक वर्ष (अ) खेत में एक प्रकार की फ़सल बोई और "ब" खेत में दूसरी प्रकार की फ़सल बोई। दोनों खेतों में भिन्न भिन्न प्रकार के कीड़े आवेंगे। अब यदि आप दूसरे वर्ष उन खेतों में फ़सलों को बदल देवें तो, उन कीड़ों को अपने अपने खेतों में दूसरी दूसरी फ़सलें मिलेंगी जिनपर कि वे जिन्दा नहीं रह सकते। और यह भी सम्भव

है कि दूसरी फ़सल के कीड़े ऐसे हों कि उनमें और पहले के कीड़ों में शत्रुता हो तो वह पहली फ़सल के कीड़ों को खा जावेंगे। इससे वे मर जावेंगे और फ़सल बच जावेगी। हम जानते ही हैं कि फ़सल के बाद भी बहुत से कीड़े मकोड़े इस ज़मीन के भीतर छिपे रहते हैं। इससे खेत जब जोता जावेगा और उसके नीचे की मिट्टी ऊपर उठ आवेगी तो उसमें के कीड़े जो पहले नीचे थे धूप हवा और रोशनी से मर जावेंगे। इससे कृषि को कीड़ों से बचाने में जोताई से बहुत लाभ होता है। जितनी गहरी जोताई हो उतना ही अच्छा। क्योंकि उतने ही नीचे के कीड़े ऊपर आकर मर जावेंगे।

इसके सिवाय खेतों में धुआँ कर देने से भी उसमें के कीड़े मर जाते हैं। पर स्मरण रहे कि धुआँ ऐसा न किया जावे जिससे कि पौधे मुरझा जावें।

परवाना और शमा की मुहब्बत की बात सभी लोगों पर प्रगट है। इससे यदि खेतों में रोशनी करदी जावे तो उसपर कीड़े, टूट पड़ेंगे और मारे प्रेम के अपना जीवन उस शमा पर अर्पण कर देंगे। इससे खेतों की फ़सल की रक्षा भी होगी।

इन उपायों के सिवाय एक दो प्रकार की कुछ दवाइयाँ भी होती हैं जिनका खेती में उपयोग करने से वहाँ के कीड़े मर जाते हैं।

(१) कपड़ा धोने का विलायती साबुन १ सेर लेकर उसे १० सेर पानी में ख़ूब उबालें। जब वह साबुन उस पानी में ख़ूब मिल जावे तो उसे उठा करके उसमें २० सेर मिट्टी का तेल डाल कर उसे ख़ूब मथ डालें। बस नाशक दवा तैयार हो गई। इस दवा का एक हिस्सा आठ हिस्से पानी में मिलाकर खेतों में जहाँ जहाँ कीड़े हों वहाँ वहाँ छिड़क दिया जावे तो इससे कीड़े तो मर जावेंगे पर पौधों का कोई नुक़सान न होगा।

(२) एक हिस्से तम्बाकू को उसके दस गुने पानी में दिन भर

भिगो रक्खो। फिर जितनी तम्बाकू रही हो उसका चौथाई साबुन उसमें छोड़ दो। यह दूसरी दवा बन गई। इस दवा का हिस्सा सात हिस्से पानी में मिलाकर खेती में छिड़कने से कीड़े मर जाते हैं। पौधे के बीज को बोने से पहले गोमूत्र में भिगो कर गंधक और तूतिया के पानी में तर करके सुखा देने से सब पौधों में कीड़े मकोड़े नहीं लगने पाते।

(३) नीम की खली को पानी में मिलाकर छिड़कने से बहुत से कीड़े (ख़ासकर दीमक) मर जाते हैं।

(४) एक घड़े गोमूत्र में एक छटाक हरा थोथा मिलावे। इस पानी में बीज को भिगोकर सुखा देवे। इस बीज के पौधों में दीमक नहीं लगती। या जिस रास्ते से खेत में पानी आता हो उस रास्ते से मदार के पौधे या तूतिया कपड़े में बाँध कर छोद दे। इस पर से आये हुये पानी के प्रभाव से दीमक मर जाती है।

(५) तीन सेर नीले थोथे की पोटरी बनाकर २५ घड़े पानी में छोड़ दे। उसके घुल जाने पर दवा तैयार हो जावेगी। इसके छिड़-काव से कीड़े और ख़ासकर आलू के कीड़े मर जाते हैं।

(६) आठ हिस्सा दूध के साथ एक हिस्सा मिट्टी का तेल मिला-कर उसे पौधों पर छोड़ने से कीड़े मर जाते हैं।

यह तो कीड़ों का वर्णन हुआ। इसी प्रकार पौधों की एक प्रकार की बीमारी का भी सामना करना पड़ता है। पौधों की इस बीमारी को अंगरेज़ी में फ़ंगस (fungus) कहते हैं। यह एक प्रकार की काई सी होती है जो बहुधा पौधों के ऊपर जम जाती है। इससे पौधे पीले पड़ जाते हैं तथा उनमें के दाने बड़े कमज़ोर हो जाते है। यों तो मनुष्य के रोगों की तरह इन रोगों की भी दवायें होती हैं। पर सब से उत्तम तो यही होगा कि ये पौधे जड़ से उखाड़ कर जला दिये जायँ जिसमें यह रोग फैलने न पावे क्योंकि यह बड़ा संक्रामक होता है। इसके, भिन्न भिन्न पौधों पर भिन्न भिन्न रंग में प्रगट होने के

अनुसार, भिन्न भिन्न नाम होते हैं जैसे लाल रंग के फ़ंगस को गिरुवा, काले को कुंडुवा तथा कत्थई रंग के फ़ंगस को लवाही कहते हैं। इस फ़ंगस के लिए तथा कुछ कीड़ों के नाश करने के लिए हम यहाँ पर कुछ साधारण सस्ती दवाइयाँ भी लिख देते हैं।

(१) चूना एक सेर, दो सेर गंधक दोनों मिलाकर दस सेर पानी में दो घंटे उबाल कर रखलो। इसका एक सेर, पन्द्रह सेर पानी में मिलाकर खेती में छिड़क दो।

(२) ताज़ा काजल खेतों में छोड़ दो।

(३) अढ़ाई पाव साबुन-सादा को एक तोला नेपथलीन मिलाकर डेढ़ पाव पानी में नेपथलीन के गलने तक उबाल लो। फिर उसमें एक पाव मिट्टी का तेल ख़ूब मिला दो। इस दवा का एक हिस्सा सौ हिस्से पानी में मिला कर खेतों में छिड़क दो। कीड़े व फ़ंगस नाश हो जावेंगे।

गोबर और चूने की मिली हुई खाद डालने से भी इस रोग का नाश हो जाता है। जिस साल जिस खेत के पौधों में लाल रंग का फ़ुंगस लगे उस साल के बाद उस खेत में गेहूँ न बोना चाहिये। मक्का व ज्वार बोने से इस बीमारी का अंश जाता रहता है।

जिस प्रकार मनुष्यदेह की बड़ी सफ़ाई और निगरानी की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार फ़सल को भी नीरोग और पुष्ट रखने के लिये बड़ी भारी निगरानी और परवाह की आवश्यकता होती है। खेती में बहुत सी बीमारियाँ व अन्य हानि-कारक दोष हमारे ही आलस्य के कारण होते हैं। इससे किसान को सदैव पौधों की निरख-परख करते रहना चाहिये। रोग और शत्रु को आरम्भ में ही बलहीन कर देना चाहिये नहीं तो अन्त में उन्हीं का शिकार होना पड़ता है।

अठारहवाँ अध्याय

पैदावार का विनियोग

जब फ़सल पैदा हो जाती है तो फिर उसकी उपज इस प्रकार खर्च में आती है बहुधा खलिहान में ही उपज का एक हिस्सा गाँव के नौकर चाकर यथा धोबी, बढ़ई, लोहार आदि को प्रथा के अनुसार दे दिया जाता है। उसके बाद जो बच जाता है उसमें से साहूकार या महाजन के उधार रुपये या अनाज के सूद के साथ चुकता किया जाता है। जैसा कि हम नवें अध्याय में लिख आये हैं बहुत से किसानों की उपज की बिक्री गाँव के साहूकारों के ज़रिये होती है। पर कुछ ऐसे भी किसान हैं जिनको उपज की बिक्री व्यापारियों या उनके अढ़तियों के ज़रिये बाज़ार में होती है। बहुत सी जगहों में ये व्यापारी और अढ़तिये आरंभ में किसानों को उनकी खेती के लिये रुपये उधार देते हैं और उनसे शर्त कर लेते हैं कि उपज हो जाने के बाद वे लोग उनसे अमुक अमुक भाव से उसे ख़रीद लेंगे। इसके सिवाय व्यापारियों द्वारा खेती को उपज का रोज़गार उन स्थानों में होता है जहाँ गेहूँ, कपास आदि जैसी "व्यवसायिक" फ़सलें पैदा होतीं हैं। कुछ ऐसे भी किसान हैं जो स्वयं ही बाज़ारों में अपनी उपज को बेचते हैं। हम इस का कुछ दिग्दर्शन करा चुके हैं कि जब किसानों की फ़सल गांव के महाजन या साहूकार द्वारा

बेची जाती है तो किसानों को क्या घाटा सहना पड़ता है। व्यापारी द्वारा बेचने की अपेक्षा उसे साहूकार के द्वारा बेचने से कोई विशेष लाभ नहीं होता।

किसान और ख़रीदारों के बीच के व्यापार की उपयोगिता को हम इन्कार नहीं कर सकते। वर्तमान आर्थिक अवस्थाओं के अनुसार ये व्यापारी अत्यन्त आवश्यक हो गये हैं। पर इस अवस्था में भी उपज का स्वयं किसानों द्वारा ख़रीदारों के हाथ बेचा जाना असम्भव नहीं है। बीच में इस व्यापारी से बहुत ज़रूरी काम निकलते हैं। एक एक फ़सल को एक स्थान में एकत्रित करना, उनको साफ़ करना, उनकी श्रेणी बनाकर उन्हें बाज़ारों में भेज देना और फिर वहाँ किरानी व्यापारियों के ज़रिये ख़रीदारों के हाथ बेच देना। वह थोक में ख़रीद लेता है और ज़रूरत के मुताबिक़ बेचता रहता है। ख़रीद और बिक्री तथा सच्ची मांग और खपत के बीच के समय के लिये वह अपना मूलधन लगाता है और भाव की घटती बढ़ती के नुक़सान का जिम्मा अपने सिर लेता है। ये सब बातें ज़रूरी ही हैं। किसानों की इस असंगठित अवस्था में वह जितना काम करता है उसकी अपेक्षा वह कुछ कम ही फ़ायदा उठाता है। थोक दाम तथा फुटकर दाम के अन्तर का अन्दाज़ा लगा लेने पर यह मालूम हो जावेगा कि उस व्यापारी को क्या फ़ायदा हुआ। तथा यह भी मालूम हो जावेगा कि उपज को बेचने की प्रथा में क्या बुराइयाँ हैं। बिहार प्रांत के केवल तिरहुत विभाग में सन् १९२१ ई० में केवल चावल के व्यापार से वहाँ के दर्मियानी व्यापारियों को ३२ लाख रुपयों का फ़ायदा हुआ था। उसी प्रांत में इन व्यापारियों ने किसानों से ५ पैसे सेर के भाव से गेहूँ ख़रीदा और लोगों के हाथ उसी गेहूँ के आटे को १३ पैसे सेर के हिसाब से बेचा। लाने जाने, तौलने पीसने आदि का ख़र्च निकाल लेने पर प्रति सेर पीछे उन्हें ५ पैसे का फ़ायदा

हुआ। इस प्रकार से ख़रीदार ने जो दाम दिया उसका केवल एक हिस्सा किसानों के पास पहुँचा और व्यापारियों ने इससे भी अधिक बीच ही में हड़प लिया। भारत में बाज़ारों के इस प्रकार असंगठित होने का कारण यही है कि ये ही व्यापारी गाँवों की खेती में साहूकारी का भी काम करते हैं। किसान इस प्रकार साहूकार और व्यापारी के रूप में एक आदमी के चंगुल में फंसा रहता है। हमारे यहाँ ऐसा ढंग ही चला आता है कि बेचारे किसानों को बचाव का कोई रास्ता नहीं सूझता और व्यापारी कई प्रकार के आपत्तिपूर्ण दांव पेंच लगा कर अपना लाभ बढ़ाता ही रहता है। पंजाब का किसान मंडी के दलालों का क़र्ज़दार होता है और दलालों के पास लाचार होकर अपनी फ़सल उसे दे देनी पड़ती है। दलाल तो उपज को फ़सल के दिनों में सस्ते दामों में तय कर लेता है और फिर उसी उपज को ख़ूब बढ़ाकर दाम लगा के बेचता है। फिर उसे उसके मूलधन का व्याज मिलता है, उस की दलाली का कमीशन मिलता है, व बिक्री पर कुछ उसे और भी मिल जाता है। इसके सिवा यह दलाल या अढ़तिया किसान को इस बात पर लाचार करता है कि वह अनाज उतारने वाले (पल्लेदार) को, तौलने वाले (तोलदार) को, भूसा निकालने वाले (चांगर) को, रसोइये (लंगरी) को, भिश्ती तथा मेहतर को भी कुछ न कुछ दे।

मुज़फ़्फ़रपुर जिले के तम्बाकू के रोज़गार में व्यापारी बहुत चालें खेलता है। वह तौलाई की गिनती के लिये मन पीछे तम्बाकू का एक पूड़ा (कुड़िया) ले लेता है, फिर गङ्गाजली के नाम से दूसरा पूड़ा लेता है। फिर तम्बाकू के तौलने तक वह एक पूड़े पर बैठता है और उसे भी अपनी बैठाई के लिये ले लेता है। इसके बाद तौलने वाला और दलाल भी अपना अपना हक़ वसूल कर लेते हैं। जिस तौल से तम्बाकू तौली जाती है वह सरकारी तौल नहीं होती तो भी किसान कुछ बोल नहीं सकता, क्योंकि वहाँ चाल ही ऐसी

चली आई है। इस प्रकार इन सब को दे देने के बाद किसान को कोई ख़ास फ़ायदा नहीं होता। बाज़ार की इस प्रथा से जब उसे अपनी फ़सल में कुछ फ़ायदा नहीं होता तो फिर उससे यह कैसे आशा की जावे कि वह अपनी फ़सल में किसी तरह की उन्नति या अदल-बदल करने की चेष्टा करेगा।

हिन्दुस्तान के सरकारी कृषि विभागों ने किसानों की उपज के प्रकार (quality) तथा परिमाण में उन्नति करने के लिये बड़ी कोशिशें की हैं। किसी किसी दशा को छोड़ कर, जहाँ कि उत्तम प्रकार की उपज बोई गई थी, यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने इस बात की भी सहायता उन्हें दी है जिससे उनकी बढ़ी हुई तथा अच्छी उपज का उनको उचित मूल्य मिल सके। कृषि विभागों ने यह सोचा कि यह उनके कार्य क्षेत्र के परे है। सहयोगी संस्थायें भी केवल इसी काम में बहुत अधिक व्यस्त रही हैं कि किसानों को मूलधन कैसे मिले। उन्हें इसके लिये मौक़ा ही न मिला और न उन्हें इस बात का विशेष ज्ञान ही रहा कि किसानों को उनकी उपज का उचित दाम दिलाने के लिये क्या किया जावे। इसके बहुत थोड़े से ही उदाहरण मिलते हैं जब कि सहयोगी संस्थाओं ने किसानों को उनकी उपज के बेचने में कोई सहायता दी हो। इससे किसान आर्थिक अवस्थाओं के प्रवाह में छोड़ दिये गये हैं और बहुधा उन्हें नुक़सान ही उठाना पड़ता है। क्योंकि वह उसकी ही उपज के बेचने वालों तथा ख़रीदने वालों के सामने एक नाचीज़ है और ख़ास कर तब जब कि व्यापारी और ख़रीदार दोनों अपने अपने क्षेत्र में प्रति वर्ष संगठित होते जाते हैं। उनका तो यही उद्देश्य रहता है कि किसानों से उसकी उपज को सस्ते से सस्ते दामों में ख़रीद लें। बाज़ार बिल्कुल व्यापारियों के हाथ में रहता है। पर असल में किसानों के दृष्टि-कोण से उनका व्यापार किसानों के व्यापार का एक सहायक व्यापार समझा जाता है।

साधारण किसानों की परिस्थितियाँ इस विचार के अनुकूल हैं। उनका धंधा एक बड़े हद तक अब भी मुख्य धंधा है। उसकी उपज की बिक्री धीरे धीरे होती है। उसका संबंध प्रति दिन उपज से है और इसी की ओर सदैव ध्यान लगाये रखना चाहिए। उसकी कला की यह सारी निपुणता उसके खेतों तक ही नियमित रहती है और वह अपने धन्धे के व्यवसायिक पहलुओं की ओर बहुत कम ध्यान देता है। इससे जब तक वह अपनी उपज के अकेले ही या अन्य किसानों के साथ बेचने में कुशलता प्राप्त नहीं कर लेता तब तक सुसंगठित व्यापारियों से जो कि उसकी उपज को खरीदकर बेचते हैं उसका दर्जा अर्थशास्त्र में व सारी आर्थिक अवस्थाओं में घटिया ही रहेगा। यह शिकायत सारे संसार में फैल रही है कि किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं मिलता और हिन्दुस्तान के किसानों में इस प्रकार के अभाव एक दो बातों में छोड़ कर अन्य देशों की अपेक्षा कुछ विशेष नहीं हैं। इन अभावों में से कुछ मुख्य हैं। भारी कर्ज़े से दबे रहना, अशिक्षा, आने जाने के सुभीते की कमी, बाज़ारों का संगठित न होना तथा किसानों में सहयोगिता के अभाव का होना। इन्हीं सब का यहाँ पर वर्णन कर रहे हैं।

इन समस्याओं पर विचार करते समय हम एक बात कह देना चाहते हैं। बाज़ारों का संगठन करने का यह अर्थ जरूरी नहीं है कि वर्तमान बाज़ारों के किसी साधन को दूर कर देना चाहिये। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि उन साधनों के द्वारा संगठन करने पर पहले से अधिक काम हो सकेगा। इससे हम अपनी इस किताब में कहीं भी यह न कहेंगे कि ये व्यापारी दूर कर दिये जावें। संसार के आधुनिक आर्थिक व्यवहारों में ये व्यापारी बहुत महत्वपूर्ण काम करते हैं। और भारत वर्ष में या किसी और स्थान में उनके बिना काम चलाना अत्यंत कठिन है। स्थान स्थान के बीच में माँग

और खपत का पता लगाना, एकत्रित करना, तथा उन दोनों का संचालन करना अत्यंत सूक्ष्म तथा बुद्धिमानी के काम हैं। और जो लोग अपना जीवन व्यापार में ही बिता देते हैं वैसे कुशल व्यापारियों के बिना इन कामों को कोई दूसरा नहीं समझ सकता। अन्य देशों की अपेक्षा तो ये काम भारत में और भी अधिक कठिन हैं क्योंकि यहाँ आवागमन के साधन बहुधा बहुत ख़राब रहते हैं और वस्तुओं का उत्पादन बहुत से ऐसे छोटे छोटे किसानों के हाथों में रहता है जो बहुत ग़रीब होते हैं और जो बेचने के लिए अपनी उपज को काफ़ी समय तक रोक नहीं सकते। इससे इन बीच के व्यापारियों की बड़ी भारी आवश्यकता होती है। इससे साधारणतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रतिद्वन्द्विता के इन दिनों में वे लोग बहुत ज्यादा हड़प कर जाते हैं।

जनता सदैव इन व्यापारियों की ओर सशंकित रहती है। इसका कारण यह है कि व्यापारी लोग अपनी आमदनी के लिए व्यापार तो हमेशा चलाते हो जाते हैं पर उत्पादन कार्य में वे अपने ऊपर कोई ज़िम्मेदारी नहीं रखते। फ़सल के गिर जाने से या जानवरों के नुक़-सान हो जाने से इन व्यापारियों को कुछ दुख नहीं होता और न उनका कुछ बिगड़ता ही है। वास्तव में जिन वर्षों में फ़सल कम होती है उनमें इन व्यापारियों को और भी अधिक लाभ होता है। यदि उपज कम हुई तो दाम बढ़ाकर ख़रीदारों से वसूलकर लिये जावेंगे। बाज़ार में जितना माल लाया जावेगा उसके अनुसार दलालों को उनकी दलाली मिल जावेगी और इस प्रकार इन व्यापारियों के व्यापार तथा लाभ सुरक्षित रहेंगे। पर वर्तमान अवस्थाओं में उपज के उत्पादन कार्य में व्यापारियों की कितनी ज़िम्मेदारी रहती है, इसका ज्ञान साधारण जनता को नहीं है। इससे थोड़ी सी घटनाओं के आधार पर यह निश्चय कर लेना उचित नहीं कि किसानों की सारी

विपत्तियों का कारण निर्दई तथा ज़रूरत से ज़्यादा बीच के व्यापारियों की उपस्थिति ही है।

अब यह तो निर्विवाद ही है कि इस संस्था में बहुत सी बुराइयाँ भरी पड़ी हैं। उदाहरण के लिए यही देख लीजिए कि जो किसानों के पास से पहले उपज इकट्ठा करता है वही उनकी खेती के लिए रुपये उधार देता है। वह सदैव किसानों को अपने चंगुल में फँसाये रहता है और किसानों से निर्दयता के साथ पूरा पूरा फ़ायदा उठाता है। आवागमन के उचित सुभीते न रहने से तथा क्रय-विक्रय के उचित साधनों के न रहने से ऐसे व्यापारियों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। घनी आबादी में जीवन-निर्वाह की समस्या भी इनकी संख्या की अधिकता का कारण है। क्योंकि ऐसी अवस्था में अपना पेट भरने के लिए नाना प्रकार के उपाय ग्रहण करने लगते हैं। फिर उचित अनुचित का विशेष ध्यान नहीं रहता। इससे इन दोनों को दूर करने के लिए किसानों को संगठित करने के सिवाय इस बात की भी बड़ी भारी आवश्यकता है कि आवागमन के रास्तों में सुधार किए जावें। ऐसे सुसंगठित बाज़ार क़ायम किए जावें जहाँ कि किसान आसानी से प्रवेश कर सकें। इस विषय में सुधार करने के लिए निम्न-लिखित विषयों में ज्ञान प्राप्त कर लेने की बड़ी भारी आवश्यकता है—अमुक फ़सल की खेती इकट्ठा करना, फ़सल का जमा करना, बाज़ारों में ले जाना और उनके दाम लगाना।

सहयोगी संस्थाएँ ही ऐसी संस्थाएँ हैं जिनमें ये काम भली भाँति हो सकते हैं। इन संस्थाओं से किसानों में स्वावलम्बन कम ख़र्ची तथा सम्मिलित जवाब-देही के भी भाव उत्पन्न हो सकेंगे। किंतु सह-योगी संस्थाओं के रूप में क्रय-विक्रय का संगठन करना तथा प्रबंध करना कोई खेल नहीं हैं। अन्य संस्थाओं की तरह उसमें भी असफलता

की अवस्थाओं को अच्छी तरह से देख लेना चाहिए। हिंदुस्तान में कहीं कहीं इसके लिए प्रयत्न किए गए, कहीं सफलता मिली तो कहीं असफलता। जहाँ जहाँ असफलता मिली है उन प्रयत्नों के इतिहास को देखने से यह मालूम होता है कि असंतोपजनक साधन, अधीरता तथा कार्य-कर्ताओं की अयोग्यता ही इसके कारण रहे हैं। इससे सहयोगी संस्थाओं के सिद्धांत निर्दोष ही पाए गए हैं। इस सिद्धांत की उपयोगिता यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के उन किसानों में इस संख्या की सफलता से मालूम होती है जिन किसानों की आर्थिक अवस्था तथा शिक्षा हिंदुस्तान के किसानों से कोई ख़ास अच्छी नहीं रही है।

अब हिंदुस्तान की ऐसी संस्थाओं के कुछ उदाहरण देते हैं जहाँ कि सहयोगी संस्थाओं को अच्छी सफलता मिलती गई है। लायलपुर की कमीशन पर बिक्री की दूकान "(लायलपुर-कमीशन-सेल-शाप) और बारामती की बिक्री की संस्था" (बारामती सेल सोसायटी) इन दोनों स्थानों में ख़ूब सफलता मिली है। ये दूकानें आढ़तियों की तरह वस्तुओं के मन-माना दाम नहीं लगातीं। इन दूकानों में दूकानदारी के साधारण नियमों के अनुसार काम होता है जिससे किसानों के मन में इनकी तरफ़ से अच्छी धारणा हो गई है और उन दूकानों के भाव एक दम उतरते-चढ़ते नहीं रहते।

बंबई प्रांत में इस सहयोगी प्रथा में बड़ी उन्नति हुई है और वहाँ कपास बेचने की ऐसी ३० संस्थाएँ हैं। १९२३ सन् ई० में इनमें से १८ संस्थाओं ने २४ लाख रुपये का कपास बेचा था; धारवार की गदग संस्था ने अकेले १० लाख रुपए का बेचा। इन संस्थाओं को बैंकों से आर्थिक सहायता मिलती है।

बंगाल में वहाँ की मुख्य फ़सल जूट के बेचने के लिए ऐसी संस्थाओं की बड़ी उन्नति हुई है। सन् १९२७ ई० में वहाँ इस काम के लिए ७८ सहयोगी संस्थाएं रहीं। इस काम में कलकत्ता के (बंगाल होल-

सेल आर्गेनाइज़ेशन सोसायटी) याने "बंगाल की थोक बिक्री प्रबंध-कारिणी समिति" से बड़ी सहायता मिली है। यह संस्था थोक फ़रोश और फुटकर व्यापारी, साहूकार, दलाल, जहाज़ी, मज़दूर, इंश्योरर, प्रबंधक तथा कमीशन एजेंटों का काम करके; अपने सदस्यों की उपज को सबसे अधिक फ़ायदे के साथ बेच करके तथा इस उपज को बाज़ार में ले जाने का प्रबंध करा करके इस काम में सहायता देती है। बंगाल की माँग और खपत की सारी कृषक-समितियाँ इस संस्था के अधीन कर दी जावेंगी तथा सबमें संयुक्त प्रबंधक रहेंगे ताकि उन सारी संस्थाओं का प्रबंध अति उत्तमता के साथ हो सके। वह किसानों की उपज को एक ही श्रेणी में तथा एक ही भाव में लाने की कोशिश करती है और सारे किसानों से अपने अपने जूट के बंडल में एक छाप लगाने का अनुरोध करती है। उसके अधीन सब समितियों को प्रति दिन अथवा प्रति सप्ताह बाज़ार भाव के उथल-पुथल का समाचार मिलता रहेगा और जो भाव यह संस्था नियमित कर देगी उसी भाव में उनकी उपज बेची जावेगी। इसी प्रकार यह संस्था अन्यान्य ऐसे उपायों का अवलंबन करती है जिससे उसके उद्देश्य की पूर्ति हो और किसानों का भला हो। यद्यपि इस प्रथा की कड़ी आलोचना की गई है पर वहाँ के किसानों की अवस्था तथा वहाँ के जूट की खेती की सर्वसाधारण वर्तमान अवस्था पर विचार करने से यह प्रथा अत्यन्त आवश्यक मालूम होती है।

हमें हिंदुस्तान में अशिक्षित कृषक-समुदाय को एक व्यापारी मंडल में संगठित करना है जिनमें उन व्यापारियों के साथ प्रति-द्वंद्विता करने की योग्यता हो जावे जो आधुनिक व्यापार कला तथा आवागमन के सुभीते से सुसज्जित हैं। हमें उन किसानों के पुश्तैनी आलस्य और असमर्थता को दूर भगा देना है तथा व्यापारियों की चली आई हुई रूढ़ि को तोड़कर उनमें सहिष्णुता का भाव पैदा करना है और उन्हें यह

बताना है कि अपना उचित लाभ उठाने के लिए वे किसानों से मिल कर रहें। इस काम को शुरू करने के लिए हमें यह न चाहिए कि अपनी सहयोगी संस्था को सभी उपज के बेचने के लिए एक बड़ी भारी दूकान बना दें। उचित तो यही होगा कि किसी एक स्थान के एक या दो मुख्य फ़सलों की ओर ही ध्यान लगाए रहें। इस नियमित व्यापार से बाज़ार की अवस्था को अध्ययन करने का तथा खपत पर अधिकार रखने का अच्छा मौक़ा मिलेगा। पहले लगभग दस आदमियों की एक संस्था स्थापित करके कार्य आरंभ करना चाहिए। ऐसी संस्था के लिए योग्य प्रबंधक की आवश्यकता रहती है जिसे व्यवसाय का ख़ासा अच्छा ज्ञान हो। बहुत सी ऐसी संस्थाओं को असफलता इसलिए मिलती है क्योंकि उनमें कोई ठीक प्रबंध नहीं रहता।

बाज़ार के संचालन का प्रयत्न बरार और बंबई में किया गया है और सरकारी कृषि-जाँच-कमेटी ने इस प्रथा के विस्तार करने की सिफ़ारिश की है। ये संस्थाएँ इस बात की निगरानी करती हैं कि माल बेईमानी से न तौला जावे और दलालों की चाल-ढाल ठीक-ठीक रहे। पर हिंदुस्तान के कृषि-संबंधी क्रय-विक्रय के मूल दोष—किसानों को उनकी उपज का उचित मूल न मिलना—दूर नहीं कर सकते। किसानों को उचित मूल्य दिलाने के लिए इससे कुछ अधिक करने की आवश्यकता है। लगभग प्रत्येक दस गाँव पीछे एक व्यापारी संघ होना चाहिए और उन गावों के पटेल, जेठ रैयत, पंच आदि उस संघ के प्रतिनिधि हों तथा उसका एक भाग ख़रीद कर उस संघ में रुपया दें। उसके व्यापार के लिए कोई ऐसा सुविधा-जनक स्थान नियत करें जहाँ बेचनेवाले व ख़रीदार सुभीते से मिल सकें। झूठे बाटों से तौलने या दूसरे प्रकार से बेईमानी करनेवालों के लिए दंड नियत कर दिया जावे। ज़िले के केंद्र संघ से वस्तुओं के भाव आदि के विषय में सदैव पूछ-ताछ किया करें। संघ के स्थान से किसी अन्य

क़स्बा, शहर या किसी रेलवे स्टेशन तक अपने माल को आवश्यकतानुसार ले जाने के लिए उचित प्रबंध कर रखें। सब दलालों के नाम रजिस्टर में दर्ज कर लिए जावें तथा उनसे ज़मानत जमा करा रक्खें ताकि वे कभी गोलमाल न करने पावें तथा संघ के नियमों के विरुद्ध कोई कारवाई न कर सकें। इसके सिवाय उन किसानों की आर्थिक सहायता करें जो ग़रीबी के कारण अपनी उपज को अधिक समय तक नहीं जमा रख सकते। एक नियम ऐसा भी बना दिया जावे कि बिना इस संघ की मंज़ूरी के कोई दूसरा व्यापारी व्यापार न कर सके। इन सब कामों के लिए संघ अपने ख़र्च चलाने के लिए तथा भविष्य में किसी दैवी विपत्ति के समय सहारा रखने के लिए ही लाभ उठावे, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार के संघों के प्रबंध और पूंजी का भार ज़िले के केंद्र संघ के सिर पर रहे तथा अन्यान्य प्रकार से भी केंद्र संघ तथा गाँवों के संघ परस्पर एक दूसरे की सहायता किया करें। इस प्रथा से यह अवश्य ही प्रतीत होगा कि इससे व्यापार में व्यक्ति-गत स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। पर ग़रीब किसानों की उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिए इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं। इस प्रथा के प्रचलित करने के लिए कहीं-कहीं ज़बर्दस्ती भी करनी पड़ेगी। यद्यपि ज़ोर ज़बर्दस्ती सहयोगी संस्थाओं के सिद्धांत के विरुद्ध है पर यह ज़बर्दस्ती केवल उन किसानों की भलाई के लिए ही की जावेगी, क्योंकि बहुत संभव है कि मतलबी दलालों के बहकाने से या ग़रीबी के कारण सशंकित रहने की आदत से किसान लोगों को इन संस्थाओं पर विश्वास न हो। पर जब किसान लोग इन संस्थाओं की उपयोगिता को समझ जावेंगे तो फिर आप ही ज़बर्दस्ती की आवश्यकता न रह जावेगी। इस प्रकार अन्यान्य कार्यों के साथ इन संघों का मुख्य कर्तव्य यह देखना होगा कि किन-किन स्थानों में किस-किस उपज की अधिक माँग है। इस

प्रकार जाँच कर किसानों की उपज का उचित मूल्य दिला दिया करेंगे व उस उपज की अधिक उत्पत्ति के लिए आवश्यकतानुसार सिफ़ारिश भी करेंगे।

इस काम के लिए बैंकों की तथा सरकार की सहायता की बड़ी भारी आवश्यकता है। अमेरिका के संयुक्त राज्य के कुछ स्थानों में इस विधि का प्रयोग कई वर्षों से हुआ है और वहाँ सरकार ने सहायता दी है। वाणिज्य व्यवसाय में निपुण कुछ ऐसे मार्केट-डायरेक्टर्स (बाज़ार-संचालक) सरकार नियत कर दे जो किसानों और ख़रीदारों के बीच माँग और खपत का अंदाज़ा रखें तथा वस्तुओं के भाव, माप-तोल आदि की निगरानी रक्खें इससे व्यापार बहुधा डाँवाडोल न हुआ करेगा और किसानों की ग़रीबी दूर हो जावेगी व ख़रीदार को भी किसी वस्तु के लिए अनुचित दाम न देना पड़ेगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

हिंदुस्तान में पशुओं की समस्या

मूलधनवाले अध्याय में हम यह बतला चुके हैं कि हिंदुस्तान में खेती में काम आनेवाले कुल कितने बैल और भैंसे हैं। यह भी बतलाने का प्रयत्न किया है कि यहाँ की खेती की कुल ज़मीन की जोताई और बोवाई के लिए काफ़ी बैल भैंसे हैं या नहीं। वहीं पर ढोरों की उत्पत्ति-क्रिया की भी कुछ चर्चा की है, जो हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों में पाए जाते हैं। इस अध्याय में हम ढोरों का खेती से संबंध तथा उसके प्रकार पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे। यद्यपि हिंदुस्तान के पंजाब जैसे कुछ स्थानों में काफ़ी अच्छे ढोर पाए जाते हैं पर औसत दर्जे का भारतीय किसान जिन ढोरों से काम लेता है वे बहुधा कमज़ोर व ठिगने होते हैं। ढोरों की इस क्षीणता के दो मुख्य कारण जान पड़ते हैं। पहला तो यह कि ढोरों के चरने के लिए यहाँ जितने चरागाह हैं उनसे कहीं अधिक तो ढोर ही हैं, जिससे प्रत्येक ढोर के लिए काफ़ी चारा नहीं मिल पाता और दूसरे यह भी कि बच्चे उत्पन्न कराने में यहाँ पर काफ़ी ध्यान नहीं दिया जाता।

अब हम पहले कारण पर विचार करेंगे। अगर मान लें कि सारे [illegible] भारत में २१३ एकड़ ज़मीन है जिसमें १०० एकड़ पर खेती होती है, ९२ एकड़ ज़मीन ऐसी हैं जिसपर खेती अभी नहीं हो रही है और २१ एकड़ परती रहती है जिसपर कि जानवर चर सकते हैं।

इस कुल २१३ एकड़ ज़मीन में २१ बैल, १७ गाय, १६ दूसरे ढोर, ३ भैंसे, ६ भैंस और ५ भैंसे के बछड़े, कुल ६७ ढोरों का पालन-पोषण होता है। यह सन् १९२४-१९२५ तक के कृषि जाँच-कमेटी द्वारा बनाई हुई निम्नलिखित तालिका से साफ़ प्रकट हो जाता है।

सन् १९२४-१९२५ में प्रति १०० एकड़ खेती की ज़मीन के पीछे साधारण जानवर तथा भैंसे

प्रांत	अंदाज़न चरागाह एकड़ में	बैल	गाय	दूसरे ढोर	भैंसे	भैंस	बछड़े
आसाम	२४२	२७	२९	३१	४	४	२
बंगाल	३३	३६	३६	३२	३	१	...
बिहार उड़ीसा	५६	२७	२३	१९	३	६	४
बंबई प्रेसीडेन्सी	३३	१०	६	८	१	४	३
सिन्ध	११४	१०	१८	१४	...	७	३
ब्रह्मदेश	३४७	११	९	१०	२	३	२
मध्यप्रदेश बरार	१०७	१५	१२	१२	२	३	३
मद्रास	७९	१५	१७	१७	४	८	५
पंजाब	६२	१६	२०	११	१	१०	८
संयुक्त प्रांत	५२	२९	१७	१८	२	१८	१०
दिल्ली कुर्ग आदि छोटे मोटे स्थानों सहित सारा ब्रिटिश भारत	९२	२०	१७	१६	३	६	५

यह देखते हुए कि चरागाह इतनी कम है और सारे जानवरों के लिए काफ़ी चारा नहीं मिल सकता, हमारी यह राय है कि इतनी सी ज़मीन के लिए ये ढोर बहुत हैं। जिस देश में चारा इस तरह से नियमित परिमाण में मिलता है वहाँ यदि ढोरों से पूरा फ़ायदा उठाने की कोशिश की जावे तो बैलों को पूरी तरह से काम में लाना होगा, गायों का दूध .खूब निचोड़ निकालना होगा और खाद को बड़ी सावधानी से जमा करके खेतों तक ले जाना होगा।

भारत के ढोरों की संख्या की तालिका के महत्व को अच्छी तरह से समझने के लिए मिश्र देश और हालैंड, इन दो भिन्न देशों के ढोरों की ओर भी हम कुछ दृष्टिपात करेंगे। हालैंड देश का उदाहरण हमने इसलिए लिया है कि उसकी सारी ज़मीन के परिमाण की अपेक्षा वहाँ बहुत अधिक ढोर हैं व मिश्र देश में बहुत कम हैं। भारत और हालैंड के बीच खेती के विषय में बहुत विभिन्नता है तथा मिश्र देश व भारत में इस विषय में बहुत समानता है।

प्रति १०० एकड़ खेती के रक़बे के पीछे

ब्रिटिश भारत में	६७ ढोर
हालैंड में	३८ ढोर
मिश्र देश में	२५ ढोर

हालैंड में बहुधा घोड़े तथा मिश्र देश में ख़च्चर काम में लाए जाते हैं। हिंदुस्तानी ढोर की अपेक्षा उसी उम्र का व उसी जाति का हालैंड का एक ढोर वजन में दुगना होता है और हालैंड की गाय हिंदुस्तानी गाय से पाँच से दस गुना दूध अधिक देती है। मिश्र देश के साधारण ढोर भारतीय ढोरों से आकार में औसतन बड़े होते हैं। इन सब बातों से यह मालूम होता है कि हिंदुस्तान के ढोर दूसरे देशों के ढोरों से चाहे किसी बात में कम हों पर संख्या में उनसे अधिक ही निकलेंगे। ऊपर के अंकों से जितनी कल्पना की जा सकती है,

अवस्थाओं में समान भारत और मिश्र देश के ढोरों में उससे भी अधिक विभिन्नता है क्योंकि भारत की अपेक्षा मिश्र देश की बहुत अधिक ज़मीन में एक बार से अधिक खेती होती है जिससे खेतों की जोताई के लिए अधिक ढोरों की आवश्यकता होती है।

अब भारत और मिश्र, इन दो देशों की तालिकाओं की आपस में तुलना करने की जगह यदि हम दोनों देशों के एक एक स्थान विशेष के ढोरों की दशाओं की तुलना करें तो कृषि-अवस्था आमतौर से बराबर ही होगी। साथ ही हम को ढोरों की चर्चा करते समय उस ज़मीन पर निर्वाह करने वाले दूसरे जानवरों का ध्यान न भुला देना चाहिए क्योंकि मिश्र में चारे के लिए बैल और भैंसों के साथ बकरे और भेड़ की प्रतिद्वंद्विता होती है। फिर मिश्र देश में ऊँट और खच्चर भी बहुधा काम में लाए जाते हैं। मिश्र की सारी खेती सिंचाई पर निर्भर रहती है और बहुत सी ज़मीन पर साल भर में दो या तीन फ़सलें बोई जाती हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए मिश्र देश के घारबे प्रांत की तुलना पंजाब के लायलपुर से करते हैं। दोनों स्थानों की खेती सिंचाई पर निर्भर है, दोनों स्थानों में गहरी उपजाऊ नदी द्वारा जमा की हुई मिट्टी वाली ज़मीन (Alluvial soil) पाई जाती है, तथा दोनों स्थानों में लकड़ी के बने हुए औज़ारों को खींचने के लिए मज़बूत बैलों की आवश्यकता होती है। दोनों स्थानों के किसान मुख्यतः मुसलमान होते हैं और उन दोनों स्थानों में खेती ऊँचे दर्जे की होती है। निम्नलिखित फ़सल के अंक घारबे के सन् १९२४-१९२५ तथा लायलपुर के सन् १९२५-१९२६ के हैं।

		घारबे	लायलपुर
वर्षा	इंच	२ से ४	१२ से १४
कुल खेती का रक़बा	एकड़	१७,३४,०००	२०,३५,०००

खेती के रकबे के प्रति १०० एकड़ पर कुल ढोर	संख्या	७·१	२४·२
भैंसे	,,	९·४	२३·३
बकरे	,,	१०·३	११·०
भेड़	,,	१·५	९·६
खच्चर	,,	९·१	१·३
ऊँट	,,	·८	·६
	एकड़	१४,७५,०००	१६,००,०००

घारबे में खेती के ऊपर दिए हुए कुल रक़बे में से २,८९,००० एकड़ में चारा बोया जाता है। दोनों देशों की इस प्रकार तुलना करने में ख़ास मार्के की बात यह मालूम होती है कि घारबे में इतने कम जानवर होते हुए भी वहाँ की खेती का दर्जा इतना बढ़ा चढ़ा हुआ है।

संक्षेप में हम यहाँ पर यह कह देना चाहते हैं कि हिन्दुस्तान की ढोर विषयक समस्या शोचनीय है। जिस स्थान में ढोरों के पालन पोषण के लिए जितनी बुरी हालत होती है उतनी ही उसी स्थान में ढोरों की अधिक संख्या पाई जाती है। इससे गायें कमज़ोर हो जाती हैं व उनके बछड़े भी ठिगने व कमज़ोर पैदा होते हैं जिनसे किसानों को संतोष नहीं हो सकता और वे अच्छे बैल पैदा करने की फ़िक्र में बराबर बच्चा पैदा कराते जाते हैं और बैलों की संख्या को बढ़ाते जाते हैं। जैसे इनकी संख्या बढ़ने लगी या जैसे जैसे चरागाहों में भी खेती की पहुँच होने लगती है वैसे वैसे चारे की कमी के कारण गायों में और कमज़ोरी आने लगती है। फिर तो यह हालत हो जाती है कि अच्छे बछड़े पैदा करने की आशा वहुत कम होती जाती है। यह नहीं समझना चाहिए कि जितने चारे की आवश्यकता एक वर्ष में १०० छोटे छोटे ढोरों के लिए होती है उतनी ही उन ढोरों के दुगने आकार वाले ५० ढोरों के लिए होती

है। बल्कि यह समझना चाहिए कि चारे का एक निश्चित परिमाण जो छोटे आकार वाले सौ बैलों को बारह महीनों को काफ़ी होगा वह उनसे दुगने आकारवाले सौ बैलों को आठ नौ महीने को काफ़ी होगा। इससे ठिगने ढोरों की एक बड़ी सी संख्या भारत जैसे देश के लिए, जहाँ कि कभी कभी चारा बड़ी मुश्किल से मिलता है, एक अनावश्यक और बड़ा भारी बोझा है। भारत के ढोरों की तादाद बढ़ चली है और यहाँ के ढोर इतने छोटे होने लगे हैं कि उनके आकार तथा प्रकार में उन्नति करना इस देश के लिए एक जटिल समस्या हो गई है। पर ढोरों की उन्नति पर कृषि कर्म की उन्नति बहुत निर्भर है और इस समस्या का हल करना अत्यंत ही आवश्यक है।

इस विषय में उन्नति करने के लिए बहुत सी रायें पेश की गई हैं तथा प्रत्येक प्रांत के विशेषज्ञों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो रहा है। हम यहाँ ढोरों की उन्नति करने के विषय में दो आवश्यक बात कह देना चाहते हैं। पहले तो यह कि जिस प्रकार से हो यहाँ के ढोरों की आवश्यकता खेती के लिए कम हो जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक यह उपाय है कि जहाँ तक हो किसानों के खेत टुकड़े टुकड़े में बिखरे हुए न हों। जोताई के औज़ारों में उन्नति करनी चाहिए, सड़कें और रास्ते अच्छे बनाने चाहिए और बैलों की शक्ति बढ़ानी चाहिए। बैलों की शक्ति बढ़ाने के लिए यह ज़रूरी है कि जब गाय दूध नहीं देती हैं, जब उनके पेट में बच्चे हों या जब उनके बछड़े छोटे हों तो उनके चारे के लिए उचित प्रबंध होना चाहिए ताकि वे ख़ूब दूध देने के लायक़ हो जावें। किंतु भारतीय किसानों की कार्य शक्ति उनकी अशिक्षा तथा ग़रीबी के कारण नियमित रहती है। उनमें दूरदर्शिता तथा निपुणता का अभाव होता है। वे ढोरों के पालन पोषण में अपनी चली आई हुई पुरानी चाल का ही अनुसरण करते हैं। जिन दिनों में वे उनसे काम लेते हैं उन दिनों में तो उन्हें ख़ूब

खिलाते पिलाते हैं। पर दूसरे दिनों में वे उनकी ओर से लापरवाह हो जाते हैं। हिंदुस्तान के सैकड़ों हज़ारों किसानों में से बहुत कम ऐसे होंगे जो अपने काम में आने वाले ढोरों को अच्छी तरह से रखते होंगे।

ढोरों के चारे में उन्नति करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता है। एक तो यह कि जितना चारा अभी होता है उससे पूरा पूरा लाभ उठाया जावे, दूसरी यह कि चरागाह का रक़बा बढ़ाया जावे और तीसरी यह कि किसानों को यह समझाया जावे कि उन्हें अपने खेतों के एक हिस्से में चारा बोना चाहिए। इनमें से हम पहले उपाय पर विचार करते हैं। यह देखने में आया है कि जब बरसात के दिनों में या उसके बाद भी तरह तरह की घास या अन्य चारे पैदा होते हैं उन दिनों में किसान उन सब से पूरा फ़ायदा नहीं उठाता व उन्हें बरबाद हो जाने देता है। हिंदुस्तान में जो पयाल सुखाए जाते हैं वे उतने लाभदायक नहीं होते जैसे कि पाश्चात्य देशों में होते हैं। इसका कारण यह होता है कि बरसात के आख़िरी दिनों में जब घास काटकर पयाल बनाने लायक़ होती है तो मौसम इतना नम रहता है कि उन दिनों में पयाल बनाया नहीं जा सकता और बरसात के बिल्कुल अंत में भी जब घास एक दम पक नहीं जाती पयाल बनाने का मौक़ा बना रहता है तब स्वयं किसान ही अपनी खेती के फ़सलों के काम में लगे रहते हैं। केवल उन्हीं स्थानों में पयाल बनाने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ती जहाँ कि वर्षा हल्की होती है। जहाँ वर्षा हल्की होती है वहाँ पयाल के लायक़ घास ही कम होती है। इन्हीं कारणों से हिंदुस्तानी किसान पयाल बनाने की ओर से उदासीन रहता है। पर उसकी उदासीनता तो तब पैदा हुई थी जब कि खेती के पुराने सिद्धांत की उत्पत्ति हुई थी। अब तो इस उदासीनता का कोई कारण नहीं। क्योंकि सुखाई हुई घास भी भूखे ढोरों के लिए बड़े काम की चीज़ है और उसको कुछ दिनों तक क़ायम रखने से वह घास और

भी लाभदायक हो जावेगी। फिर किसानों के लिए अब पयाल बना लेना बिल्कुल असंभव नहीं है। उन ज़िलों में जहाँ घास ख़ूब होती है वहाँ यदि पयाल न हो सके, तो कम से कम किसानों के पास सूखी घास तो ख़ूब होनी चाहिए।

पर बहुधा यही सुनने में आता है कि इस देश का किसान घास काटने के दिनों में बहुत कम लाभ उठाता है तथा जब घास में ढोरों के लिए सब से अधिक उपयोगी पदार्थ रहते हैं उस समय उसे काट कर वह बहुत ही कम लाभ उठाता है। यह नहीं कि वह एक दम पके हुए घास की कमज़ोरी को न जानता हो। अच्छे पयाल बनाने में वास्तविक बाधाएँ न तो धूप की कमी ही है और न वर्षा की अधिकता। वास्तविक बाधा है किसानों की चली आई हुई रूढ़ियें। भारतीय किसान को घास काटने की ही आदत पड़ी है, पयाल बनाने की नहीं।

यह बड़े भाग्य की बात है कि अच्छा चारा जमा कर रखने के लिए धूप कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। गत कुछ वर्षों से कई प्रकार के सायलो (Silo)—चारा जमा रखने के खत्तियाँ—बनाने की कोशिशें की गई हैं और यह जाचने की कोशिश की गई है कि उन सायलों में कौनसी फ़सल सबसे अधिक अच्छी तरह से रखी जा सकती है। सायलों में जो चारे रक्खे जाते हैं उन्हें सायलेज कहते हैं। सायलेज बनाना हिंदुस्तान में कोई कठिन बात नहीं है। यह काम हिसार में १८९९ से होता चला आ रहा है। पूसा में भी सायलेज बहुत दिनों से जानवरों का मुख्य चारा रहा है। पर जन साधारण की प्रवृत्ति हम इस विषय की ओर केवल इन्हीं दस बारह वर्षों से झुकी हुई पाते हैं। सायलेज की उपयोगिता से लोग इसके लिए बहुत उत्साहित होकर इसका अनुकरण कर रहे हैं। देश के बहुत से सरकारी कृषि-विभागों में आज सूखे दिनों में ढोरों के लिए सायलेज

बनाया जाता है और उससे ढोरों को बहुत लाभ पहुँचता है। पर देश के बहुत से किसान अब भी सायलेज का उपयोग नहीं कर रहे हैं। पूसा में यद्यपि बहुत वर्षों से सायलेज बनता चला आ रहा है और ढोर खरीदते समय यद्यपि किसान लोग उसकी उपयोगिता को अच्छी तरह से देखते हैं पर तो भी स्वयं उस पर हाथ नहीं लगाते। अन्य स्थानों में इसका उपयोग अब धीरे धीरे बढ़ता जा रहा है।

सायलो (Silo) या चारा जमा करने की जगह को निम्नलिखित विधि से बनाते हैं। ज़मीन में गड्ढा खोदते हैं। फिर ईंट पत्थर और चूना लगाने से पक्का सायलो बनता है। अगर ख़ाली ज़मीन रही तो कच्चा सायलो कहलाता है। अगर सायलो कच्चा रहा तो उसमें पहले भूसा या पयाल का पेठन दे देते हैं। चारा जब पकने के क़रीब आ जाता है, जब वह न तो बिल्कुल कच्चा रहता है और न बिल्कुल पक ही जाता है, तो उसे बारीक काट काट कर सायलो में भर देते हैं। ऊपर से उसे इस प्रकार ढक देते हैं कि उसमें हवा या पानी ज़रा भी न जा सके। ऐसे रखे हुए चारे को सायेलेज कहते हैं। सूखे दिनों में जब चारा नहीं मिलता इसे ही ढोर चाव से खाते हैं। सायलेज उनके लिए बहुत लाभदायक भी होता है। मक्का, ज्वार, जई, कई प्रकार की घास तथा पेड़ की पत्तियों के भी सायलेज बनाए जा सकते हैं। जो घास पक जाने पर ढोरों को कोई ख़ास लाभ नहीं पहुँचाती वह सायलेज़ बन जाने पर उनके लिए अधिक स्वादिष्ट तथा लाभदायक हो जाती है। ढोरों को सायलेज़ खिलाते समय उसमें स्वाद उत्पन्न करने के लिए ऊपर से नमक भी मिला देना चाहिए। यह आम शिकायत सुनने में आती है कि सायलेज गायों से अधिक दूध निकालने के लिए ही तथा अन्य बेकार ढोरों के लिए ही लाभदायक होता है। पर कड़ी मेहनत करने वाले बैलों को कोई फ़ायदा इससे नहीं पहुँचता। इसीसे

किसान ज़्यादातर सायलेज बनाने के लिए तैयार नहीं होते। पर यह सच नहीं है। उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिन दिनों में गाय बैल तथा किसी भी जानवर के लिए ताज़ा चारा मिलना मुश्किल हो जाता है उन दिनों के लिए तो सभी ढोरों के लिए सायलेज सब से अधिक सुलभ और लाभदायक भोजन है।

जो चारे अभी सहज में मिल सकते हैं उनसे पूरा लाभ उठा लेने पर भी देश के कई स्थानों में चारे की कमी रह जाती है। इस अवस्था में इस कमी को पूरा करने का केवल यही उपाय है कि प्रत्येक किसान अपनी ज़मीन के एक हिस्से में ढोरों के लिए चारा बोया करे। हिंदुस्तान में चारे के लायक़ बहुत से पौधे पाए जाते हैं। देशी पौधे जैसे ज्वार, मक्का और संजी चारे के लिए बहुत अच्छे होते हैं। इनके सिवाय कई प्रकार के विदेशी पौधे भी यहाँ पैदा किए जा सकते हैं जो जानवरों के लिए बहुत अच्छे चारे का काम देंगे। इनमें से कुछ का वर्णन नीचे किया जाता है।

आस्ट्रेलियन चरी—यह मामूली चारे से अधिक ताज़ी व मीठी होती है। बरसात में बोई जाकर दिसम्बर तक हरी बनी रहती है। इसकी फ़सल तीन बार काटी जाती है। यह ढोरों के लिए बहुत अधिक लाभदायक भोजन होती है। एक एकड़ में २४ सेर बीज बोया जाता है।

चीन देश का लुसरीन नामक पौधा—यह पौधा इस देश में चीन देश से लाया गया है। इसकी बुवाई अक्तूबर के महीने में की जाती है तथा यह ८ वर्ष तक लगा रहता है। एक एकड़ ज़मीन में लुसरीन के चार सेर बीज बोये जाते हैं।

फ्रांसीसी जई तथा स्काटलैंड की जई—यह अक्तूबर और दिसम्बर के बीच बोई जाती है और मई महीने तक ताज़ी व हरी

रहती है। देशी जई से इसकी पैदावार बहुत अधिक होती है। एक एकड़ ज़मीन में इसका तीस सेर बीज बोया जाता है।

बरसीम घास—यह मिश्र देश से लाया हुआ पौधा है। अक्तूबर के महीने में कपास के साथ साथ या कपास की फ़सल के कट जाने के बाद उसी खेत में बोई जाती है। एक एकड़ ज़मीन में इसके १६ सेर बीज बोए जाते हैं। जनवरी से मई तक इसकी पाँच कटाई हो सकती हैं। यह केवल एक बहुत अच्छा चारा ही नहीं है; बल्कि जिस खेत में बरसीम बोया जाता है उसमें फ़सल के लिए लाभदायक नोषजन गैस भर जाती है अतः वह खेत अगली फ़सल के लिए बहुत उपजाऊ हो जाता है।

इस विषय में असली कठिनाई चारे के लिए अच्छे पौधे का पता लगाना या सायलेज बनाना नहीं है। असली कठिनाई तो किसानों से इन बातों का अनुकरण कराना है। उसे यदि आप इन सब बातों की शिक्षा देंगे तो वह यही कहेगा कि हम ज़मीन का लगान देते हैं, नहर के पानी का पैसा देते हैं, पैसा ख़र्च कर खेती करते हैं इससे हम वह ही फ़सल बोवेंगे जिससे हमें पैसा मिले या जो हमारे पेट में पड़े। ढोरों को मुफ़्त में खिलाने पर ज़मीन में फिर से कुचल देने के लिए (खाद के रूप में) हम क्यों कोई फ़सल बोवें। पर उस बिचारे को यह नहीं मालूम है कि बरसीन जैसे चारे की फ़सल को बोने से खेती के अत्यन्त आवश्यक औज़ार ढोरों के लिए चारे का व खेतों का उपजाऊपन बढ़ जाने का कैसे दोहरा फ़ायदा होता है। इससे सरकार व जमींदारों का, जिन पर देश की उन्नति की ज़िम्मेदारी है, यह कर्तव्य है कि किसानों में इन सब बातों का ज्ञान उत्पन्न करावें। फिर चारा बोने में किसानों को दूसरी आपत्ति यह होती है कि यदि वे खेतों में चारा बोवें तो ढोर आकर उसे खा जाते हैं। वे रात दिन कहां तक पहरा दे सकेंगे। इसके लिए तो यही उपाय हो सकता है कि जहाँ तक हो

खेतों को कटीले पौधों से रूँध दें। फिर जहाँ तक बन पड़े गांव के सभी किसान एक ही साथ अपने अपने खेतों में चारा बोया करें ताकि उनकी रक्षा करने की चिंता व ज़िम्मेदारी सभी किसानों पर जा पड़े। ऐसा हो जाने पर प्रत्येक किसान अपने अपने ढोरों की परवाह करेगा। सहयोग से कौन सा काम सरल नहीं हो जाता है?

आवश्यकता से अधिक जानवरों की संख्या बढ़ने से ही जानवरों की दशा यहाँ ख़राब नहीं होती। किंतु साथ ही जनसंख्या के बढ़ने से भी चारा और चरागाह की समस्या जटिल हो जाती है। जैसे जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है वैसे वैसे खेती से बाहर पड़ी हुई ज़मीन उन मनुष्यों के क़ब्ज़े में आती जाती है। चरागाहों की संख्या में उन्नति कर देने से निश्चय ही ढोरों को बहुत लाभ होगा। यदि ढोरों की संख्या न बढ़े, यदि चरागाह काफ़ी हों, यदि सूखे दिनों के लिए चारे का उचित प्रबन्ध हो जावे तो निश्चय ही अच्छे अच्छे बैल भैंसे मिलने लगें।

चरागाहों पर आबहवा का भी बहुत असर पड़ता है। ठंडे देशों की अपेक्षा इस देश के चरागाह कम उपजाऊ व कम लाभदायक होते हैं। कई स्थानों तथा देशों का इस पृथ्वी पर इतना अच्छा भौगोलिक स्थान होता है कि उनके चरागाहों से पैदा हुए वनस्पति से वहाँ के ढोरों की सब ऋतुओं में रक्षा होती है। हिंदुस्तान की अवस्था उन देशों के समान नहीं है। उत्तर के कुछ हिस्सों में कुछ अच्छे चरागाह हैं। पर सारे देश के चरागाह बहुधा ऐसे हैं जिनकी बरसात में पैदा हुई घास गर्मी के दिनों तक बिल्कुल सूख जाती है या इतनी ख़राब हो जाती है उससे ढोरों को कोई विशेष लाभ नहीं होता। इससे साफ़ प्रकट होता है कि केवल चरागाहों की संख्या बढ़ा देने से ही काम नहीं चलेगा। बल्कि चरागाहों की उपज शक्ति तथा उनमें पैदा होनेवाली घास पर भी ध्यान रखना ज़रूरी है।

प्राकृतिक चरागाहों में खेती करने से तो ढोरों की मुसीबतें तो बढ़ती ही हैं साथ ही चरागाहों में आबादी भी आकर बढ़ती जा रही है, जैसा कि इसी अध्याय में कहा जा चुका है, जिसके कारण ढोरों के चरने के लिए काफ़ी जगह नहीं मिलती। जनसंख्या का ध्यान छोड़ कर केवल चरागाह के नाम से सदैव खेती की ज़मीन पर ही आक्रमण करने से लाभ के बदले बड़ी भारी हानि होती है। इस प्रकार कहाँ तक खेती के काम से ज़मीन छीनी जा सकती है। आख़िर यह फ़सलें कहां पैदा होंगी? इससे ढोरों की अवस्था सुधारने के लिए ज़रूरत से ज़्यादा ढोर तथा आदमियों को भी एक स्थान से दूसरे स्थान हटाना ही उचित होगा। किंतु हिंदुस्तान में इस समय समाज की जो अवस्था है उसके अनुसार जीवन निर्वाह जैसे जटिल समस्या के लिए भी लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना बड़ा कठिन काम है। इससे जहाँ तक हो, चरागाहों की उन्नति करने के लिए जंगलों में अधिक से अधिक चरागाह बनाने चाहिए। अब हम देखते हैं कि चरागाहों की संख्या बढ़ाना कोई सहज काम नहीं है तथा यदि खेती की ज़मीन को चरागाह बनाने से कृषि अवस्था में उन्नति करना, जो हमारा मूल उद्देश्य था, उसी की हानि होती है तो चरागाह के प्रश्न को हल करने के लिए उसकी उपज में उन्नति करना बहुत ज़रूरी है। लोगों की राय है कि चरागाह में ढोर चराने के नियमों में सख़्ती करने से, चरागाहों के चारो तरफ़ घेरा लगा देने से तथा चारे के जमा कर रखने से चरागाहों की उपज में उन्नति हो सकती है।

किसानों के लिए उनके ढोरों के चारे की समस्या इसलिए और भी जटिल हो जाती है कि गांव व शहर के बहुत से अन्य लोग भी जो खेती नहीं करते, ढोर पालते हैं, पर उन ढोरों के लिए स्वयं चारा पैदा नहीं करते। ये ढोर किसानों के ढोरों से केवल चरागाह में प्रति-द्वंद्विता नहीं करते पर साथ ही जब चारा पैदा नहीं होता तब ग़रीब

किसानों की हरी हरी फ़सलों को भी खाकर नुक़सान पहुँचाते हैं। इसलिए इस विषय में भी नियम बनाए जावें कि प्रत्येक व्यक्ति को कितने ढोर रखने चाहिए व उसे सर्व साधारण के चारागाहों में अपने ढोरों को चराने का कितना हक़ मिलना चाहिए।

इस विषय की ओर भी सरकार का, विशेषकर सरकारी जंगल-विभाग का, ध्यान आकर्षित हो रहा है। संयुक्त प्रांत के जंगल-विभाग के प्रमुख अधिकारी की यह राय है कि जंगलों में चरागाहों के टुकड़े टुकड़े कर दिये जावें और प्रति वर्ष एक एक या दो दो या इससे भी अधिक टुकड़ों में बारी बारी से ढोरों को चराया जावे।

अब हम यहां पर ढोरों की उत्पत्ति क्रिया पर कुछ विचार करेंगे। उत्पत्ति क्रिया में उन्नति करके गाय और बैल, भैंसे व भैंस दोनों प्रकार के जानवरों की नसल, उनकी ताक़त तथा उनके आकार, में उन्नति कर सकते हैं, तथा गाय या भैंस के दूध देने की शक्ति की अपेक्षा बछड़े उत्पन्न करने के गुणों को बढ़ा सकते हैं। किंतु इस विषय पर विचार करते समय एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। ढोरों की उत्पत्ति क्रिया में यदि उन्नति करके उनके आकार, प्रकार तथा शारीरिक नसल में यदि उन्नति कर दी जावे तो भी आगे चलकर उनकी-सारी उन्नति देश की चारे की खपत पर निर्भर रहती है। निस्संदेह हिंदुस्तान के ढोरों में दूसरे देशों के ढोरों की अपेक्षा एक ख़ासियत होती है। जो कुछ थोड़ा सा चारा उन्हें मिल जावे उसी पर वे काफ़ी दिनों तक अच्छे बने रहते हैं और प्रत्येक किसान इस बात को सदैव ध्यान में रक्खे कि चारे की खपत की समस्या से स्वतंत्र होकर ढोरों में उन्नति कैसे हो। पर सार्वजनिक सिद्धांत यही है कि ढोरों की उन्नति चारे की खपत पर ही निर्भर रहती है। यदि गायों को उचित परिमाण में चारा न मिले तो एक तो उनके बछड़े अच्छे न पैदा होंगे और वह दूध भी ठीक न दे सकेंगी।

हिंदुस्तान में ढोरों की उत्पत्ति क्रिया में उन्नति करने के लिए एक सुभीता है। चारे की कमी होने पर भी यहाँ अच्छे बछड़े पैदा कराने के लिए अच्छे अच्छे साँड़ पाये जाते हैं। इसके लिए विदेशों से साँड़ लाने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि सभी प्रान्तों में लोगों का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित हो रहा है और सभी प्रांतों में इस काम के लिए गोशालाएँ बनाई जा चुकी हैं पर नीचे लिखे हुए १९२३-२४, १९२४-१९२५, १९२५-१९२६ के भिन्न भिन्न प्रान्तों में उत्पत्ति क्रिया के लिए सरकार द्वारा दिये हुये सांड़ों की संख्या को देखने से यह मालूम होता है कि इस विषय में बहुत कम उन्नति हुई है।

उपरोक्त तीन वर्षों में भिन्न भिन्न प्रान्तों में सरकार द्वारा दिये हुए सांड़ों की संख्याः—

प्रांत	१९२३-१९२४	१९२४-१९२५	१९२५-१९२६	औसत
आसाम	५	६	९	७
बंगाल	८	...	७	५
बिहार-उड़ीसा	३	१	२१	८
बंबई	३६	२७	२७	३०
बर्मा	२	...	३	२
मद्रास	४०	१३	६	२०
मध्यप्रदेश	४६	५०	५९	५२
पंजाब	२४१	२९६	४२२	३२०
संयुक्त प्रांत	७२	५४	९९	७५

इस काम के करने में भारत जैसे ग़रीब देश के किसान असमर्थ हैं। इससे सरकार को ही इसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए।

अब यहाँ हम हिंदुस्तान के कुछ मुख्य मुख्य स्थानों के ढोरों की उत्पत्ति क्रिया के विषय में लिखते हैं ताकि सर्वसाधारण को इस विषय का कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त हो जावे। पंजाब सरकार का ढोरों का उत्पत्ति विभाग हिसार में है और ब्रिटिश भारत में हिसार इस कार्य का सबसे बड़ा व पुराना स्थान है। उसकी स्थापना सन् १८०९ ईस्वी में हुई थी। पहले यहाँ ऊँटों की अच्छी नसलें पैदा कराने का काम किया जाता था। उसके बाद ढोरों व घोड़ों के उत्पन्न कराने का काम शुरू हुआ किंतु सन् १८५० ई० से केवल ढोरों की उत्पत्ति कराने में ही यह संस्था अधिक ध्यान दे रही है। कुछ घोड़े, गधे, खच्चर तथा भेड़ों के सिवा हिसार में ढोरों की संख्या ५५०० से ६००० तक है। क़रीब तीन तीन वर्ष के तीन चार सौ जवान बछड़े सालाना बेचे या नीलाम कर दिये जाते हैं। इन्हें बहुधा डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड लेकर किसानों तक पहुँचाते हैं। हिसार की इस संस्था से पंजाब के लोगों को ढोरों की नसल में उन्नति करने में बहुत सहायता मिलती है।

संयुक्त प्रान्त में ढोरों की अच्छी नसलें पैदा करने के लिए इस समय दो स्थान हैं। एक तो मथुरा के निकट माधुरी कुंड नामक स्थान है। यहाँ हिसार साँड़ व मुर्रा भैंसे की नसलें पैदा की जाती हैं। दूसरा खेरी ज़िले में मंझरा नामक स्थान है। यहाँ सहीवाल व ख़ैरागढ़ साँड़ तथा मुर्रा भैंसे की नसलें पैदा की जाती हैं। आस-पास के किसान इन दोनों स्थानों से यथाशक्ति लाभ उठाते हैं। सरकार द्वारा ७½ रुपये सैकड़ा सालाना दर से उन्हें तक़ावी मिलती है ताकि वे लोग इन दोनों स्थानों के सांड़ों से लाभ उठा सकें।

बंबई में इस काम के लिये तीन स्थान हैं। उत्तर गुजरात में

चरोदी नामक स्थान, जहाँ कंकरेज नसल पैदा की जाती है। दक्षिण महाराष्ट्र प्रदेश में बाकापुर नामक स्थान जहाँ अमृतमहल नामक नसल तैयार की जाती है और करॉंची के पास फिहई नामक स्थान जहाँ सिंधी सांड़ पैदा किये जाते हैं। ये सिंधी नसल हिंदुस्तान में सब से बढ़िया दुधारू नसल है। आजकल बम्बई प्रान्त में कुछ अच्छे अच्छे सॉंड़ पिंजरापोल, गौशाला व इस विषय की सहयोगी संस्थाओं को इसी मार्ग में उन्नति करने के लिए दिये जाते हैं व उनसे यह शर्त करा ली जाती है कि उन सांड़ों का दुरुपयोग न किया जावेगा। पर बंबई जैसे विशाल प्रदेश में इन से ही काम नहीं चल जाता। प्रांत भर के बहुत से तालुकों में ढोरों की अच्छी नसलें तैयार करने के लिए स्थान बनाये जावें और उन स्थानों में प्रांत के केन्द्र स्थान से सांड़ मंगाये जावें।

मध्य प्रदेश में यद्यपि ऐसी नौ संस्थाएँ हैं, जिन में से दो लगभग २५ वर्षों से हैं पर इस प्रदेश में अच्छे सांड़ों की उत्पत्ति, जिनकी अच्छी संतान हों, बहुत कम है। इस प्रांत की अवस्थाएँ ही कुछ ऐसी हैं जिससे इस विषय में उन्नति करने में कठिनाई पड़ती है। वहाँ केवल ग्वालो नामक नसल ही प्रसिद्ध है। अब इस प्रांत में भी इस विषय में उन्नति करने की ओर लोगों का तथा सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ है। नागपुर के तेलिन खेड़ी नामक स्थान में सहिवाल नसल तैयार की जाने लगी है।

मद्रास में यद्यपि ग्वाले लोग ढोरों की नसलें बढ़ाने की चिंता करते थे पर किसानों को इस विषय में कोई विशेष उत्साह न था। हाल ही में वहाँ के सरकारी कृषि विभाग ने बंगलोर के पास होसुर नामक स्थान में इसका एक केन्द्र खोला है और वहाँ ओंगले का नगयाम और सिन्धी नसल पैदा किए जाते हैं। नेलोर जिले में चिंताला देवी नामक स्थान में ओंगले नसल तैयार की जाती है। गंतूर में भैंसे की नसलों में

उन्नति की जाती है। कोयमबतोर में ऐरशायर, सिंधी व सहिवाल नसलें पैदा की जाती हैं।

इन प्रांतों तथा कुछ अन्य प्रांतों के सिवा इस विषय की ओर कुछ देशी रियासतों का भी ध्यान आकर्षित हो रहा है। इस विषय में सबसे आगे मैसूर रियासत का नंबर आता है। यहाँ अमृतमहल नसल पैदा की जाती है। मैसूर में यह काम १८ वीं शताब्दी के बीच से आरंभ हुआ है।

बड़ौदा रियासत में पहले काठियावाड़ की नसल पैदा की जाती थी। पर उसके स्थान में दूसरी नसल तैयार की जाने लगी है। धार रियासत में सिंधी, मालवी, और निमाड़ी नसलें तैयार की जाती हैं।

इस प्रकार से यद्यपि अब हिंदुस्तान में ढोरों की अच्छी व मज़बूत नसलें तैयार करने का काम जारी है पर हिंदुस्तान जैसे विशाल देश का काम इतने से नहीं चल सकता। बड़े बड़े ज़मींदारों व महाजनों को इस ओर भी अधिक ध्यान देना चाहिए। केवल कृषि-कार्य के लिए ढोरों की नसलें बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। हिंदुस्तानी बहुधा शाकाहारी होते हैं व उन्हें मांस भक्षण से घृणा होती है। इससे लोगों की तंदुरुस्ती बढ़ाने के लिए मांस के स्थान में दूध घी की मात्रा बढ़ाना अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य जितना ही अधिक तंदुरुस्त होगा उसका उतना ही अधिक आर्थिक महत्व होगा और दूध घी की मात्रा बढ़ाने के लिए गायों की नसलें भी बढ़ाना अत्यंत आवश्यक है। आजकल गायों के कमज़ोर व ठिगने होने के कारण दूध की पैदावार बहुत कम हो गई है व प्रति मनुष्य पीछे औसतन दूध की मांग अमेरिका, डेनमार्क, स्वीडन और स्वीट्ज़रलैन्ड आदि देशों से भी, जिन देशों में लोग आमतौर से मांस खाते हैं, कम हो गई है।

---

*

बीसवाँ अध्याय

खेती के मूलधन की उन्नति

इस अध्याय में हम यह बतायेंगे कि खेती बारी के लिए भारतवर्ष में रुपये पैसे का प्रबंध कैसे होता है। इस देश में औसत दर्जे के किसान के पास बहुत थोड़ा सा रक़बा होता है। यह हम कह चुके हैं तथा यह भी लोगों को मालूम हो चुका है कि भारतीय किसान बहुत ग़रीब होते हैं। यदि भारतीय किसान अपने खेतों में घनी (Intensive) खेती करे तो उस छोटे रक़बे से ही उसके व उसके कुटुंब के निर्वाह के लिए काफ़ी धन प्राप्त हो सकता है। पर घनी (Intensive) खेती तो तभी संभव है जब कि उस रक़बे की उन्नति करने के लिए या उसकी आबपाशी करने के लिए रुपए ख़र्च किए जावें। इस प्रकार मूलधन के लगाने से भारतवर्ष में खेती को बहुत फ़ायदा हुआ है। इस प्रकार के खेतों में स्थायी उन्नति करने के लिए किसान बहुधा अपना ही मूलधन लगाता है, चाहे वह अपनी कमाई की बचत में से लगावे या उधार लेकर। पर अब सरकार को भी अपनी इस ज़िम्मेदारी का ज्ञान हो गया है कि उसे किसानों को इस उन्नति-कर्म के लिए सस्ते से सस्ते सूद पर रुपया उधार देना चाहिए।

स्थायी मूलधन के सिवा किसान को मोट, ढोर, खेती के अन्यान्य महँगे औज़ारों व कभी कभी मकान बनाने के लिए भी रुपये की

आवश्यकता होती है। इनके सिवा अन्य व्यापारों की अपेक्षा खेती में भी बीज, खाद, ढोरों के चारा आदि रोज़ाना ख़र्च के लिए कुछ रुपयों की आवश्यकता होती है।

किसान का खेती के मामूली ख़र्चों के लिए बहुत सा रुपया गाँव के साहूकार से मिलता है। यह साहूकार उसे घरेलू काम या कुछ पूजा-पाठ तथा निजी व्यवहार के लिए भी रुपए उधार देता है। पर व्यवसाय के लिए दिए हुए रुपए व घरेलू काम के लिए दिए हुए रुपए में कुछ अंतर नहीं मानता। इसी प्रकार क़र्ज़दार किसान भी दोनों हिसाबों को अलग अलग नहीं रखता जैसा कि प्रत्येक बुद्धिमान् को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जितना धन खेती में लगाया गया है उससे अधिक उस खेती से उगाहना है और घरेलू काम के लिए अपनी आमदनी में से बचत करके ख़र्च करना चाहिए। इस ला-परवाही का परिणाम यह होता है कि सब हिसाब-किताब गड़बड़ रहता है और बहुधा किसान क़र्जदार बना रहता है। और चूँकि खेती में लगाये हुए धन और घरेलू काम में लगाए हुए धन का अलग अलग न तो साहूकार के पास हिसाब-किताब रहता है और न किसान के पास ही, इससे यह साफ़ साफ़ पता लगाया नहीं जा सकता कि कितना धन किसान ने अपनी खेती में उन्नति करने के लिए व कितना घर के लिए उधार लिया। आम राय यह है कि खेती के कामों के लिए उसके क़र्ज़ का बहुत कम हिस्सा लगता है।

भारतवर्ष में साहूकारी—रुपए-पैसे उधार देना एक बहुत पुराना व्यवसाय है, अतः कर्ज़दार की भलाई के लिए और इस व्यव-साय के संचालन के लिए मनु के समय से आज तक नियम बनते चले आये हैं। साधारण दिनों में तो साहूकार लोगों की ज़रूरतों को पूरा कर देते थे। पर भारी अकाल के दिनों में उनके पास से काफ़ी धन न मिल सकता था और ब्रिटिश राज्य के

पूव इस कमी को सामयिक व स्थानीय शासक पूरा करते थे। बृटिश सरकार ऐसा कोई ख़ास काम नहीं कर रही है जिससे उसे प्रजा-प्रियता का गर्व हो सके। पुरानी प्रथा शुरू-शुरू में बृटिश सरकार ने भी जारी रखी और किसानों को आबपाशी आदि कामों के लिए तक़ावी देने के नियम १७९३ ईस्वी में बनाये गए। इसके बाद भी कई बार इसी प्रकार के और और नियम भी सरकार द्वारा बनाये गए। पर स्मरण रहे कि सरकार ने पुरानी प्रथा की त्रुटियों को दूर करने का कोई यत्न नहीं किया। उसने जो कुछ किया वह किसानों की कर्जदारी की समस्या को हल करने के लिए ही किया।

भारतवर्ष में कृषि-कर्म की उन्नति के लिए आवश्यक बातों की चर्चा पिछले अध्याय में कर चुके हैं। उनमें से कुछ ऐसी हैं जिनका संबंध केवल व्यक्तिगत किसान से रहता है व जिन्हें करने की सामर्थ्य व्यक्तिगत किसान के पास भी है। अच्छी खाद, अच्छे औज़ार, अच्छी जुताई इत्यादि इस प्रकार की उन्नति के उदाहरण हैं। इनके सिवा कृषि-कर्म अथवा ग्राम्य-जीवन की उन्नति के लिए बहुत सी ऐसी बातें हैं जैसे पक्का कुआं बनाना, खेतों में घेरे रूँधना, पानी निकालने के रास्ते बनाना, जिनसे कि बहुत से किसानों को फ़ायदा होता है व जिनके लिए बहुत से धन की आवश्यकता होती है और जिनको यहाँ पर एक किसान नहीं कर सकता। ऐसे कामों को ज़मींदारों को अपने ऊपर लेना चाहिए। फिर इसके सिवा किसी रेलवे स्टेशन या बड़े बाज़ार से संबंध करने के लिए अच्छी सड़कें बनाना, या पानी बहाने के लिए बड़ी-बड़ी नालियाँ बनाना जिससे खेतों के तत्व न बह जावें, या बीहड़ ज़मीन का सुधार करना आदि ऐसे बहुत से उन्नति के काम हैं जिनमें बहुत ख़र्च लगता है। इन कामों को डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या सरकारी कृषि-विभाग जैसी कोई सार्वजनिक संस्था ही कर सकती है।

मूलधन वाले अध्याय में हमने उस संस्था के विषय में कुछ वर्णन करने की चेष्टा की है, जिसके द्वारा किसान अपनी खेती में मूलधन की व्यवस्था करता है। किसानों के ऊपर क़र्ज़े का बड़ा भारी बोझ लदा रहता है पर उस बोझ में से बहुत कम हिस्सा खेती की स्थायी उन्नति के लिए लगाया जाता है। इसी प्रकार बहुत से ज़मींदार भी क़र्ज़दार रहते हैं। उनके क़र्ज़ का बहुत कम हिस्सा खेती की स्थायी उन्नति में लगाया जाता है। दोनों का एक बहुत बड़ा भाग उनके निजी काम में ख़र्च हो जाता है। इसके विषय में सन् १९२७ ईसवी की जाँच कमेटी ने, जिसका नाम उसके सभापति लिनलिथगो साहब के नाम पर लिनलिथगो कमीशन था, जाँच करके निम्नलिखित राय प्रकट की है—भारतवर्ष में बहुधा जो एक दीर्घ-काल के लिए क़र्ज़ा लिया जाता है उसे स्वयं अपने खेतों को गिरवी रखकर किसान लेते हैं। पहले जब ज़मीन सस्ती थी तो उसे रेहन करने पर अधिक रुपया नहीं मिलता था, पर अब चूँकि ज़मीन का मूल्य बढ़ चला है इससे अनुमान किया जाता है कि उसके पीछे क़ाफ़ी रक़म उधार मिल जाती होगी। पंजाब में इस विषय में सन् १९२० ईसवी में सविस्तर जाँच की गई थी। इसके अनुसार दख़ली रेहन में रखी हुई खेती की कुल ज़मीन के ऊपर ३५ करोड़ रुपये उधार दिए गए थे। औसत निकालने पर ऐसी ज़मीन पर प्रति एकड़ १२ रुपये से भी कम मिला था। यद्यपि दूसरे प्रांतों में प्रति एकड़ ज़मीन के दख़ली रेहन पर रुपयों का औसत इससे भी कम होगा, पर यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के रोज़गार में बहुत क़ाफ़ी बड़ी रक़म फँसी हुई है। जब हम यह ख्याल करते हैं कि अँगरेज़ी क़ानून के चालू होने के पहले इस प्रकार कम रुपये फैलाये जाते थे तो हमारे लिए यह अनुमान कर लेना बहुत सहज हो जाता है कि ज़मीन पर किसानों का हक़ क़ायम हो जाने पर तथा उसका मूल्य बढ़ जाने पर उसका अमानती दाम

कितना बढ़ गया। पंजाब में इसके बाद और जाँच करने से पता लगता है कि इस रेहन के ऊपर लिए हुए क़र्ज़े का एक बहुत छोटा हिस्सा खेती की उन्नति करने के लिए ख़र्च किया जाता था। इसके विरुद्ध कोई और बात किसी प्रांत में देखने में नहीं आई है, और अब यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि रेहन के ऊपर लिए हुए रुपये में से बहुत कम खेती की उन्नति के लिए ख़र्च किया गया है। जब बिना रेहन के क़र्ज़ा अधिक बढ़ जाता है जिसके बाद साहूकार और उधार देने में भलाई नहीं समझता है तब फिर किसान लाचार होकर खेती के मामूली काम के लिए अपनी ज़मीन रेहन रख कर रुपये उधार लेता है। जहाँ ज़मीन को रेहन रख कर रुपये उधार लिए गए वहाँ यही समझिए कि कोई कमज़ोर किसान किसी चालाक साहूकार के चँगुल में फँसा। इस तरह के कर्ज़े के भारी बोझ से वास्तव में खेती-बारी में बड़ी हानि होती है। इसका मुख्य कारण यही है कि क़र्ज़ के एक मुख्य ज़रिये से आया हुआ पैसा अनुत्पादक कामों में ख़र्च हो जाता है और उन्नति के लिए जो उधार मिलता है वह क्षीण होता जाता है।

अब नीचे हम यह बताना चाहते हैं कि किसानों के इस क़र्ज़े के बोझ को कम करने के लिए, उनकी फ़ज़ूल ख़र्ची की आदत को छुटा कर उनमें स्वावलंबन के भाव उत्पन्न करने के लिए, व उन्हें कम ब्याज पर खेती की यथार्थ उन्नति करने के वास्ते रुपये देने के लिए क्या-क्या उपाय किये गए हैं व उनका क्या परिणाम निकला है। ज्वाइन्ट स्टाक (Joint Stock) बैंक नामक संस्था की स्थापना इसीलिए हुई है। इसको हिंदुस्तानी में हम सहयोगी संपत्ति बैंक कह सकते हैं। ऐसे बैंकों का संबंध बड़े-बड़े ज़मींदारों तथा उन लोगों से रहता है जिनके पास क़र्ज़े की अमानत के लिए प्रत्यक्ष दीखने वाले (Tangible) पदार्थ हों जो बाज़ार में शीघ्र बेचे जा सकें। सहयोगी संपत्ति बैंक

बहुधा गोदाम में रखे हुए अनाज की अमानत पर उधार देते हैं। इससे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इन बैंकों से साधारण किसानों को कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ है और न हो सकता है।

हमारे पास कई ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं जब कि स्वयं पूँजीपति लोग खेती में उन्नति करने का भार अपने ऊपर लेते हैं। उनके पास ख़ुद की तो ज़मीन होती नहीं पर वे उन्नति के लिए जो कुछ काम करते हैं उसके लिए किसानों से उनकी उपज का कुछ हिस्सा लेते हैं। पंजाब के नैऋत्य दिशा में अरोरा जाति के पूँजीपति लोग बहुधा अपने पैसे से किसानों की खेती में आबपाशी के लिए उनकी उपज के कुछ हिस्से लेने की शर्त पर कुएँ खुदवाते हैं। इसके सिवा पंजाब में कुछ ग़ैर सरकारी नहरें भी हैं जो पूँजीपतियों ने किसानों के लाभ के लिए बनवाई हैं। अपनी नहर का पानी देकर वे लोग किसानों से उनकी उपज का कुछ हिस्सा--बहुधा एक चौथाई--लेते हैं। इसके सिवा प्रत्येक प्रांत में पूँजीपति तथा साहूकार लोग किसानों से उनकी ज़मीन के हक़ को प्राप्त कर लेते हैं। इससे यह होता है कि बपौती ज़मींदारी वाले भी इन लोगों के हाथों में अपनी ज़मीन देकर केवल साधारण किसान रह जाते हैं। यदि इस प्रथा से काफ़ी रक़म ज़मीन की उन्नति करने में ही लगाई जाती तो इसके विरुद्ध किसी को आपत्ति नहीं होती, पर ऐसा बहुत कम होता है। ये नए ज़मींदार जो पहले केवल पूँजीपति या साहूकार ही थे—उस प्राप्त हुई ज़मीन की उन्नति करने की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं देते। उसका लगान ही वसूल करके संतुष्ट रह जाते हैं। कुछ हद तक यह सच ज़रूर है कि कई प्रांतों में काश्तकारी क़ानून ऐसे हैं जिनसे इन नए ज़मींदारों को उस ज़मीन पर पूरा पूरा अधिकार करने में कुछ बाधा पहुँचती है। पर जो किसान वास्तव में अपनी ज़मीन में पैसा लगाकर उसकी उन्नति करना चाहते हैं उनके सामने से, जहाँ तक हो, नए क़ानून बनाकर उनकी

यथार्थ बाधाओं को दूर कर देना चाहिए। खेतों की वर्तमान श्रेणी के अनुसार वैज्ञानिक उन्नति इन्हीं बड़े बड़े जमींदारों से हो सकती है क्योंकि उनकी खेती के लायक़ सारी आर्थिक व्यवस्था करने की शक्ति व सामग्री उनके हाथों में रहती है। निजी आर्थिक शक्ति के सिवा ज्वाइंट स्टाक बैंक भी उन्हें रुपए उधार देने को तैयार रहता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। फिर उन्हें तक़ावी भी मिल सकती है।

ग़रीब किसानों की सहायता करने के लिए सरकार ने भी कुछ क़ानून बनाए हैं। सन् १८८३ ईसवी में लैंड इम्प्रूवमेंट लोन्स ऐक्ट (Land improvement Loans Act of 1883.) और सन् १८८४ ईसवी में एग्रीकलचरल लोन्स एक्ट (Agricultural Loans Act of 1884.) नामक दो क़ानून सरकार द्वारा बनाए गए थे। लैंड इम्प्रूवमेंट लोन्स ऐक्ट के सहारे प्रांतीय सरकार द्वारा बनाए गए नियमों के भीतर किसान को सरकार से सीधा क़र्ज़ मिल जाता है। इस क़र्ज़ पर व्याज का दर वही होता है जो बाज़ार में साधारणतया पाया जाता है। पर बहुत से किसानों को इस क़ानून का अब तक पता नहीं है जिससे साधारण जनता पूर्ण-रूप से इस क़ानून से लाभ नहीं उठा सकती।

इन सब के सिवा "लैंड मार्गेज बैंक" भी होते हैं जो किसानों को उनकी ज़मीन की अमानत पर रुपए उधार दे देते हैं। सच पूछिये तो खेतों में उन्नति करने के लिए मूलधन की बहुत अधिक कमी नहीं है। कमी तो इस बात की है कि लोग इस मूलधन को किसी उत्पादक कार्य में यथोचित रूप से लगावें।

एग्रीकलचरल लोन्स एक्ट के द्वारा भी प्रान्तीय सरकार किसानों को खेती के उन कामों के लिए रुपए उधार देती है जिनके लिए लैंड इम्प्रवमेन्ट लोन्स एक्ट के द्वारा नहीं दिया जा सकता था।

एग्रीकलचरल लोन्स एक्ट के अनुसार केवल उन्हीं किसानों को उधार दिया जाता है जिनके पास खेती के लायक़ ज़मीन हो। और इस क़ानून के अनुसार बीज, ढोर, आदि ख़रीदने के लिए ही रुपया उधार दिया जाता है। अकाल के दिनों में इस क़ानून से ग़रीब किसानों को सहायता मिली है। इस क़ानून के अनुसार दिये गये क़र्ज़ का ब्याज जहाँ तक हो सकता है कम होता है। किन्तु इस क़ानून से खेती की सारी ज़रूरतें दूर नहीं हो सकतीं। इसका ख़ास प्रयोग अकाल के ही दिनों में होता है। आजकल सहयोगी बैंकों के द्वारा इस क़ानून का काम किया जा रहा है, क्योंकि सहयोगी बैंकों से खेती की सारी आर्थिक जरूरतें पूरी हो जाती हैं। पर जब तक सहयोगी बैंक कम-ख़र्ची की ओर लोगों का ध्यान न करा देवे और सहयोगी बैंकों के उसूलों का ख़ूब प्रचार न हो जावे तब तक इस क़ानून का बना रहना बहुत ज़रूरी है।

अब यहाँ पर हम किसानों के ऋणी बने रहने के विषय में कुछ और कह देना उचित समझते हैं। किसान अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए रुपए तो लेता ही है साथ ही वह बहुधा भोग विलास के लालच में भी पड़कर क़र्ज़ लेता है। उधार लेने से ही क़र्ज़ नहीं बढ़ता पर असल में उस उधार को न छुटा सकने के कारण ही उसका क़र्ज़ पड़ा रह जाता है। जैसे क़र्ज़ लेने के बहुत से कारण थे वैसे ही क़र्ज़ न छुटा सकने के भी बहुत से कारण उपस्थित हो जाते हैं। क़र्ज़ देनेवाला मुख्यतः अपने लाभ के लिए ही देता है। क़र्ज़दारों की लाचारी का वर्णन हिंदुओं की मनुस्मृति में, मुसलमानों के क़ुरान शरीफ़ में, व ईसाइयों की पवित्र बाइबल में मिलता है। तात्पर्य कहने का यह कि क़र्ज़दारों की लाचारी हालत एक बहुत पुरानी बात है और इस समस्या ने पूर्व और पश्चिम सभी देशों के शासकों को परेशान कर रखा है तथा इसके दूर करने के लिए सभी देश के शासकों ने भरसक प्रयत्न

किए हैं व करते जा रहे हैं। क़ानून में उन्नति हो रही है, व्यापार वाणिज्य में उन्नति हो रही है, कचहरी अदालत में उन्नति हो रही है, सहयोगी संस्थाओं में उन्नति हो रही है। पर सब प्रकार की उन्नति होते रहने पर भी भारत जैसे ग़ुलाम देश में यहाँ के असली मालिक व अन्नदाता देहाती किसानों की शिक्षा में उन्नति नहीं हो रही है, क्योंकि अंग्रेज़ी फ़ौज, सिविल सर्विस वालों की पेंशन और कमीशन पर कमीशन बैठाने से इस काम के लिये रुपया नहीं बचता। परिणाम इस अशिक्षा का यह होता है कि किसानों में इतनी बुद्धि नहीं होती जिससे वे अपने सारे क़र्ज़ का अलग अलग हिसाब-किताब—कि कितना खेती के लिए लिया गया था और कितना निजी काम के लिए लिया गया था—आदि का व्योरा रखें। वर्षों से वह इस ग़रीबी को निभाता आ रहा है और कई बार उसे अकाल का सामना करना पड़ा है। अशिक्षा के कारण वह अपनी ग़रीबी के कारणों से व उनके दूर करने के उपायों से बहुधा अनभिज्ञ रहता है। इसीसे उसके क़र्ज़ का बोझ दिनों दिन बढ़ता चला जाता है।

क़र्ज़ बढ़ने के उपरोक्त कारणों के सिवा अन्यान्य कारण भी हैं। ग़रीब किसानों को उनके परिश्रम का दाम जितने अधिक विलंब में मिलता है उतना ही अधिक उन्हें उधार लेने की आवश्यकता पड़ती है। उधार न ले तो फिर वह खावे ही क्या? उसके पास कोई बपौती पूँजी तो जमा नहीं है। बाप-दादे बिचारे भी उसी की तरह ग़रीब थे। सो वे उसके लिए कहाँ से पूँजी जमा कर जाते। यदि किसानों को माहवारी या हफ़्तेवारी मज़दूरी मिलती जाती तो उन पर क़र्ज़ का बोझ इतना न बढ़ता। पर यहाँ तो प्रत्येक फ़सल के बाद ही, अथवा छः छः महीने में, या यदि किसी किसान के खेतों में एक ही फ़सल होती हो तो पूरे बारह महीने में उसे उसकी मेहनत का दाम मिलता है।

किसानों की क़र्ज़दारी का एक और भी कारण है। साधारण

शिक्षा तो उनमें रहती नहीं, भला क़ानून का ज्ञान उन्हें कहाँ से हो। उन पर ख़ुद के क़र्ज़ का बोझ तो लदा ही रहता है पर बहुधा किसानों पर बपौती क़र्ज़े का भी बोझ आ पड़ता है। क़ानून तो यह कहता है कि लड़का बाप से जितनी संपत्ति पावे वहीं तक वह बाप के क़र्ज़ का देनदार हो। और अगर बाप ने किसी अव्यवहारिक काम के लिए उधार लिया हो तो लड़का ऐसे उधार का हर्गिज़ देनदार नहीं है। पर अशिक्षा के कारण हिंदुस्तानी किसान इस डर से कि क़र्ज़े के पाप से मेरा बाप दूसरे जन्म में साहूकार के घर में औरत या बैल या ग़ुलाम की योनि में पैदा न हो जावे, बाप का सारा क़र्ज़ क़बूल कर अपने ऊपर उसके चुकता कर देने की ज़िम्मेदारी ले लेता है। बहुत से लोगों की राय है कि बपौती क़र्ज़दारी वर्तमान किसानों की क़र्ज़दारी का एक प्रधान कारण है।

किसानों की इस विपत्ति को दूर करने के लिए नीचे लिखी हुई बातें अत्यंत आवश्यक हैं। ज़मीन का लगान कम कर दिया जावे ताकि लोगों को उधार लेने का बहुत मौक़ा मिला करे, सरकार द्वारा क़र्ज़ देने की प्रथा बढ़ाई जावे, सहयोगी संस्थाओं का ख़ूब प्रचार किया जावे तथा सब से ज़रूरी उपाय यह है कि किसानों में यथोचित शिक्षा का प्रचार किया जावे ताकि वे कम-ख़र्ची का महत्व समझ सकें जिससे कम ख़र्च में ही उन्हें अधिक लाभ हो। जब तक इन संस्थाओं का पूरा पूरा प्रचार न हो जावे तब तक देहात के साहूकारों को दूर न किया जावे, क्योंकि आजकल यही साहूकार खेती की आर्थिक आवश्यकताओं को वास्तव में पूरा करते है। सहयोगी संस्थाओं के प्रचार से ये साहूकार आप ही दूर हो जावेंगे या अपना व्यवसाय उचित रीति से तथा ग़रीब किसानों का ध्यान रख कर चलाना आरंभ कर देंगे।

हिंदुस्तान में पहले सहयोगी संस्थाओं का आरंभ सरकार ने १९०४ ईसवी

में किया था। चूंकि जनता को पहले सहयोगी संस्थाओं का अनुभव नहीं था इससे उसे इस विभाग के सरकारी अफ़सरों पर इन संस्थाओं के संचालन करने के लिए निर्भर रहना पड़ता था। हिंदुस्तान की सहयोगी संस्थाओं के विषय में तीन बातों पर ध्यान देना चाहिए। पहले इन सहयोगी संस्थाओं का काम केवल रुपये उधार देना निश्चय किया गया था। अब सभी आलोचकों की यही राय है कि उसकी यह नीति उचित ही थी। चूंकि यह बात हिंदुस्तान में नई न थी इससे जब तक पूरा अनुभव प्राप्त न हो जावे तब तक धीरे-धीरे तथा नियमित क्षेत्र में ही काम करना उचित था। उन दिनों में इस विषय में अधिक साहित्य भी नहीं था। इससे इस ओर धीरे-धीरे ही उन्नति हो सकी थी। इस प्रकार पहले ये संस्थाएं बहुधा कृषि-कर्म के लिए रुपये उधार देने का ही काम करती थीं।

हिंदुस्तान की सहयोगी संस्थाओं के विषय में दूसरी बात यह है कि ये संस्थाएँ जनता के कहने से नहीं खोली गईं थीं। जापान की तरह यहाँ की सरकार ने भी लोगों की अवस्था में सुधार करने के लिए इसके विषय में अपनी ही ओर से क़ानून बनाया। क़ानून बना लेने के बाद जन साधारण को ऐसी सहयोगी संस्थाओं के हानि लाभ का ज्ञान हुआ।

फिर तीसरी बात यह है कि चूंकि इस क़ानून को सरकार ने ही पहले अपनी ओर से बनाया इससे सरकार ने ही इसके लिए अपनी ओर से एक विभाग खोला। फिर धीरे-धीरे जनता का भी ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाने लगा। हम कह चुके हैं कि सहयोगी संस्था वाले पहले क़ानून के अनुसार केवल रुपये उधार देने वाली सहयोगी संस्थाओं का प्रचार हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के आर्थिक व्यवहारों का काम नहीं आरंभ किया गया। इसकी पूर्ति सन् १९१२ ईस्वी में एक दूसरा क़ानून बनाकर की गई। यद्यपि अब

ऐसी संस्थाएँ जिन्हें कोआपरेटिव सोसायटी कहते हैं अन्य प्रकार के आर्थिक व्यवहार करती हैं पर मुख्यतः उनका काम रुपये उधार देना ही रहता है। इसके कुछ कारण हैं। एक तो यह कि ग़रीब किसानों को अवश्य ही क़र्ज़ लेना पड़ता है और साहूकारों के ब्याज का दर बहुत ऊँचा होता है। साहूकार के मूलधन का ब्याज चुकता करने में ही बहुत से किसानों की सारी उपज ख़तम हो जाती है। फिर सहयोगी संस्थाओं द्वारा उधार लेने से किसानों में मितव्ययता की आदत पड़ती है व फ़िज़ूल ख़र्ची की आदत दूर हो जाती है क्योंकि ये संस्थाएँ बहुधा उत्पादक व कुछ अत्यंत आवश्यक कार्यों के लिए क़र्ज़ देती हैं।

यद्यपि ये संस्थाएँ पहले सरकार द्वारा ही क़ायम की गई थीं पर अब लोगों को इनकी उपयोगिता दिन दिन मालूम होती जा रही है व उनका विस्तार दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। १९२७ ईसवी में ब्रिटिश भारत में कृषि-सहयोगी-संस्थाओं की संख्या ६७,००० थी। उन सबका मूलधन २४ करोड़ रुपयों से अधिक था। १९१५—१६ से इन संस्थाओं में कैसी उन्नति हो रही है यह नीचे दी हुई तालिका से ज्ञात होगा—

कृषि सहयोगी संस्थाएँ ।

सन्	क़र्ज़ देनी वाली संस्थाएँ			अन्य आर्थिक व्यवहारवाली संस्थाएँ		
	संस्थाओं की संख्या	उनके सदस्यों की संख्या	उनके चालू मूलधन	संस्थाओं की संख्या	उनके सदस्यों की संख्या	उनका चालू मूलधन
			लाख रुपये में			लाख रुपये में
१९१५-१६	१६६९०	६६५,५१७	४९२	९६	४८२२	१
१९१६-१७	१९४६३	७२३३२१	५६५	१६०	७१८६	१
१९१७-१८	२१६८८	७६७२६५	६३५	२४९	१३९४४	५
१९१८-१९	२६२१४	८६४५००	७३४	४३७	२४२३७	१३
१९१९-२०	३२५१५	१०४६८३९	८७३	६१६	२४०५७	१८
१९२०-२१	३७६७३	१२०४१९९	१०६०	८५७	५०२१२	२१
१९२१-२२	४१५१६	१३४७२७७	१२०८	१०७३	६२९८४	३०
१९२२-२३	४५०४३	१४५२०८०	१३४७	९३७	५७३२०	३२
१९२३-२४	४९११८	१५८५८०८	१५१५	११९६	७७६८६	४०
१९२४-२५	५४३९०	१७४९११६	१७५९	१५२५	९९६९४	४९
१९२५-२६	५९०१८	१९०१५२९	२०४७	१७६९	१२१७८९	५४
१९२६-२७	६५१०१	२१,१५,७४६	२४१४	२१३३	१५४३२२	५८

नीचे एक और भी तालिका देते हैं जिससे यह पता लग जावेगा

कि भिन्न भिन्न प्रांतों के गाँवों में १९२६-२७ तक कितने लोगों का संपर्क सहयोगी संस्थाओं से हो चुका था :—

प्रांत	सब प्रकार के कृषि सहयोगी संस्थाओं से संबंध रखनेवालों की संख्या	कर्ज़ देनेवाली कृषि-सहयोगी-संस्थाओं से संबंध रखनेवालों की संख्या	१९२१ के मनुष्य गणना के अनुसार देहातों की जन-संख्या।
अजमेर-मेरवाड़	१०१८५	९८७९	३३०,०००
आसाम	४२४७८	४२४७८	७४२८०००
बंगाल	३८०५६२	३२९७६५	४३,५०९,०००
बिहार उड़ीसा	२०५८२५	२०५०००	३२६२७०००
बम्बई	२६०१८२	२६०१८२	१४९०८०००
ब्रह्मदेश	८७४४८	८७४४७	११९२१०००
मध्यप्रदेश व बरार	५८०३९	५८०३९	१२५१९०००
कुर्ग	११२२३	११२२३	१५५०००
मद्रास	६१३२२०	५८३३१५	३७०४००००
दिल्ली	४२५०	४२५०	१८४०००
पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	६८१	६८१	१९१५०००
पंजाब	४०१५४३	३७३१५५	१८४७३०००
संयुक्त प्रांत	१४८४०५	१४८३३२	४०५७००००

इसके सिवा शहरों में भी इन संस्थाओं का प्रचार हो रहा है। बंबई में धारवाड़ ज़िले और पंजाब प्रांत के जालंधर ज़िले में वहाँ की जनता के एक-चौथाई हिस्से का तथा मद्रास के दक्षिण कनाडा ज़िले में वहाँ की जनता के पाँचवें हिस्से का सम्पर्क सहयोगी संस्थाओं से है। अब तो सहयोगी संस्थाओं का ज्ञान लोगों में बढ़ रहा है, मितव्ययता या कम-खर्ची की आदत पड़ रही है, पैसे के उपयोग व बैंकों के सिद्धांतों की शिक्षा दी जा रही है। जहाँ सहयोगी संस्थाएँ अच्छी तरह स्थापित हो चुकी हैं वहाँ साहूकारों के ब्याज का दर काफ़ी घट गया है और उनके शिकंजे कमज़ोर पड़ गये हैं। १९२५—२६ के अंत तक कृषि-सहयोगी-संस्थाओं के लगभग २० लाख सदस्यों ने* **अपनी** संस्थाओं से १८ करोड़ रुपये कर्ज़ लिए जिसमें से पौने सात करोड़ उन्हीं के थे। इस प्रकार ऐसी संस्थाओं में काफ़ी उन्नति हो चुकी है। पर तो भी इस विषय में और भी उन्नति करने के लिए बहुत स्थान पड़ा हुआ है। इस संस्थाओं में केवल आर्थिक लाभ ही नहीं होता साथ ही लोगों की नैतिक उन्नति भी होती है।

केवल क़र्ज़ देने वाली सहयोगी संस्थाओं में बहुत से दोष भी पाये जाते हैं व उनकी उपयोगिता को बढ़ाने के लिए उन दोषों को दूर करना अत्यंत आवश्यक है। उन दोषों को दूर करने का सबसे मुख्य उपाय सहयोगी संस्थाओं के सिद्धांतों का अधिकाधिक प्रचार करना ही है। उक्त विषयक शिक्षा के अभाव से ही उन संस्थाओं में बुराइयाँ भरी हुई हैं।

---

* इन संस्थाओं की तरक़्क़ी के उपाय ग्राम्य-सुधार शीर्षक अध्याय में बताये जावेंगे।

इक्कीसवाँ अध्याय

किसान के भूमि-संबंधी क़ानून।

देश देश में अपनी अपनी व्यवसायिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्यान्य अवस्थाओं के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के क़ानून चालू रहते हैं। इसी प्रकार भारतवर्ष में भी राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पहलू के अनुसार अमीर व ग़रीब सभी के लिए सरकार द्वारा क़ानून बनाए गए हैं। किसी देश के जन-साधारण के दैनिक व्यवहारों जैसे जीवन-निर्वाह के लिए परिश्रम करना, उस परिश्रम का मूल्य प्राप्त करना, फिर उस धन से अपनी नित्य की आवश्यकताओं को पूरा करना इत्यादि-के लिए उस देश के आर्थिक क़ानून बड़े महत्व के होते हैं। यहाँ जितने मुख्य मुख्य प्रकार के क़ानून बनाए गए हैं जैसे उत्तराधिकार के क़ानून, काश्तकारी के क़ानून, खान संबंधी क़ानून या अन्य व्यापार केंद्रों में काम करने व मज़दूरों के संबंध के क़ानून, रुपए उधार देने के क़ानून, ज्वाइंट स्टाक बैंक या सहयोगी बैंक आदि बनाने के क़ानून, इन सब का मनुष्य के आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए हिंदुओं तथा मुसलमानों के उत्तराधिकार के कानूनों को ही देखिए। इनपर देश में बड़े बड़े रोज़गार क़ायम करना निर्भर है क्योंकि जिसके पास जितनी संपत्ति रहेगी व उस संपत्ति को जितने अधिक दिनों तक काम में रखने का उसे अधिकार होगा उसी के अनुसार ही

वह उसे किसी छोटे-मोटे रोज़गार में लगावेगा। हमारे देश के धार्मिक व सामाजिक व्यवहार साम्यवाद के भाव से भरे हुए हैं तभी यहाँ उन व्यवहारों के आधार पर एक ही आदमी के पास सारा धन इकट्ठा रखने के विरुद्ध नियम बनाए गए हैं। हिंदुओं में बपौती धन लड़कों में बराबर बराबर बट जाता है। किन्तु स्वयं आर्जित धन के संबंध में पुरुष को किसी को भी इच्छा अनुसार दे देने का अधिकार है पर बहुधा वह धन भी वंशजों में ही बँट जाता है। मुसलमानी क़ानून इससे भी आगे बढ़ा हुआ है। वंश की पैत्रिक संपत्ति केवल वंश के क़तार में पुरुषों को ही नहीं मिलती वरन् स्त्रियों को भी मिलती है। परिणाम यह होता है कि यदि किसी आदमी के पास किसी समय कोई बड़ा सा व्यवसाय रहा हो तो उसके मरने के बाद उस व्यवसाय का सारा मूलधन उसके वंशजों में वंशावली के अनुसार टुकड़े टुकड़े होकर बँट जाता है। इन वंशजों में कोई तो कुछ व्यवसाय करना चाहता है और कोई कुछ। पर हमारे इस क़ानून की बुराई हमारे यहाँ की खेती-बारी में और भी अधिक झलकती है। क्योंकि एक तो व्यवसायी लोगों में फूट के उतने कारण नहीं होते जितने कि किसानों में होते हैं। फिर खेती पेशे वालों की अपेक्षा व्यापार पेशे वाले कुछ अधिक समझदार होते हैं। भारतवर्ष में खेती-बारी ही सब से मुख्य व्यवसाय है और हम इस व्यवसाय में लगभग ७० फ़ी सदी से भी कुछ अधिक लोगों को लगा हुआ देखते हैं। उपरोक्त क़ानून से खेती में होनेवाली बुराई का एक उदाहरण लीजिए। आगरा ज़िला, तहसील फ़ीरोज़ाबाद के विजयपुर गाँव में एक धनवान किसान था। उसके पास १८ बीघे ज़मीन एक हल और एक जोड़ी बैल था। वह उस रक़बे में अपना ही बीज आदि मूलधन लगाकर खेती कर लेता था व उसे महाजन के पास जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उसके मरने के बाद उसके तीन लड़कों ने

उसकी ज़मीन के आपस में बाँट लिया। परिणाम यह हुआ कि तीनों को अपना अपना हल व बैल रखना पड़ा। बाप ने इतना धन तो अवश्य छोड़ दिया था कि जिससे उस रक़बे पर एक किसान खेती कर सकता था। पर उसकी छोड़ी हुई संपत्ति इतनी नहीं थी जिससे तीन किसान अलग अलग खेती कर सकें। इससे उन तीनों किसानों के अपनी खेती के ख़र्चे के लिए महाजन की शरण लेनी पड़ी। फिर उनका निर्वाह छः छः बीघे में न हो सका। इससे कुछ शिकमी ज़मीन भी लेनी पड़ी। फिर इतनी सारी ज़मीन के लिए उन्हें बीज भी महाजन से क़र्ज़ लेना पड़ा। इस सब घटती का क्या कारण हो सकता है इसका हम यहाँ पर विचार करेंगे। वे उन्हीं उपायों के काम में लाते हैं जो उनके बाप दादे काम में लाते थे। सब बातें तो वही हैं। कदाचित् कोई यह कहे कि चूँकि उन्होंने कुछ ज़मीन शिकमी काश्त पर ली इसी से उनकी यह हालत हुई। पर यह बात नहीं हो सकती। क्योंकि इन्हीं की तरह सैकड़ों शिकमी काश्तकार हैं जो मज़े से अपनी काश्तकारी चला रहे हैं। पर जब कुछ मौरूसी काश्तकारों में आपस में बँटवारा हो जाता है और बपौती ज़मीन के टुकड़े टुकड़े करके सब काश्तकार अलग अलग काश्तकारी करने लगते हैं तो वे प्रतिवर्ष क़र्ज़दार व ग़रीब होते जाते हैं। इसलिए उन तीनों की ग़रीबी का कारण ज़मीन का इस तरह से बँटवारा होना ही है। इस प्रथा से ज़मीन केवल टुकड़े टुकड़े ही नहीं हो जाती है, साथ ही साथ किसानों की क़र्ज़दारी भी बढ़ती जाती है। यदि वह ज़मीन सारे मूलधन के साथ केवल एक ही भाई के मिली तो कम से कम एक तो समृद्धिशाली किसान दिखलाई पड़ता। अर्थशास्त्र तथा कृषि-कर्म के दृष्टिकोण से एक समृद्धिशाली किसान तीन क़र्ज़दार किसानों से कहीं अच्छा है।

इतना ही नहीं, हमारे देश के उत्तराधिकार संबंधी नियमों के

कुछ और परिणाम देखिए। इन नियमों से केवल यही नहीं होता कि ज़मीन टुकड़े टुकड़े हो जावे और वह प्रति किसान को अर्थशास्त्र के सिद्धांत के विपरीत परिमाण में मिले जिसके कारण खेती बारी में उन्नति करने में बाधा पहुँचे, पर साथ ही इन्हीं नियमों के फल स्वरूप किसान के खेत गाँव भर में या दो तीन गाँवों में बिखर जाते हैं जिसकी बुराई का वर्णन हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। जब तक यहाँ के उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन न हो जावेगा तब तक चाहे कोई कितना प्रयत्न क्यों न करे यहाँ के खेतों की चकबन्दी करने में सफलता नहीं मिल सकती।

इसी प्रकार हमारे देश के कुछ क़ानूनों का यहाँ के निवासियों के आर्थिक जीवन से इतना घनिष्ठ संबंध है कि जब तक कोई जिज्ञासु उन क़ानूनों का ज्ञान प्राप्त न कर ले तब तक वह इस देश के श्रमजीवियों के श्रम तथा उनके जीवन का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अब हम ऐसे ही कुछ कानूनों पर विचार करेंगे।

काश्तकारी के हिसाब से भारतवर्ष के दो भाग हो सकते हैं। एक भाग वह जहाँ तीन भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्य एक साथ पाये जाते हैं और उन तीनों का वहाँ की ज़मीन के साथ और आपस में संबंध होता है। ये तीन प्रकार के मनुष्य सरकार, ज़मींदार या मालगुज़ार और किसान होते हैं। इस स्थान को ज़मींदारी स्थान कहते हैं। दूसरे वह जहाँ कि ज़मीन के ऊपर दो मनुष्य समूहों का आपस में संबंध होता है—सरकार और किसान। इसको रैय्यतवारी स्थान कहते हैं। बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा, मध्यप्रदेश, संयुक्त-प्रदेश, पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश और पंजाब प्रान्त में ज़मींदारी गाँव पाये जाते हैं। मद्रास, बंबई और बरार में रैय्यतवारी गाँव पाये जाते हैं। ज़मींदारी स्थानों में यद्यपि सरकार ने ज़मींदारों और मालगुज़ारों को उन हिस्सों का पूरा मालिक नहीं बना दिया है, पर व्यवहार में

ज़मींदार और मालगुज़ार अपने अपने हिस्से से पूरे मालिक की तरह फ़ायदा उठाते हैं। वे अपनी ज़मींदारी बापदादों से हिंदू या मुसलमान क़ानून के अनुसार प्राप्त करते हैं। उसे वे बेच सकते हैं और रेहन रख सकते हैं। हाँ उनके अधिकार दो प्रकार से नियमित रहते हैं। एक यह कि सरकार ने जो मालगुज़ारी उनकी ज़मीन पर लगा दी है उसके अनुसार उन्हें सरकारी मालगुज़ारी अवश्य देनी पड़ेगी, और दूसरे यह कि उनसे नीचे के किसानों को क़ानून में जो हक़ मिले हैं उन हक़ों का उन्हें पूरा पूरा ख़्याल रखना पड़ेगा। हम यहाँ पर ज़मींदारी प्रथा वाले भिन्न भिन्न प्रान्तों के कुछ काश्तकारी क़ानूनों का वर्णन कर देना उचित समझते हैं। पहले आसाम, बंगाल व बिहार का वर्णन करेंगे जहाँ मालगुज़ारी का स्थायी प्रबंध किया गया है।

बंगाल—बंगाल के सन् १८८५ ईसवी के काश्तकारी के क़ानून के अनुसार वहाँ ज़मीदार के नीचे पाँच प्रकार के किसान होते हैं :—

१ पटनीदार (Permanent tenure holder), २ काश्तकार शरह मोअय्यन (Fixed rate tenant), ३ काश्तकार साख़्तुल मिलकियत (Ex-proprietary tenant), ४ काश्तकार दख़ीलकार या मौरूसी (Occupancy tenant), ५ काश्तकार ग़ैरदख़ीलकार या ग़ैर मौरूसी (Non-occupancy tenants)

१ पटनी जोतदार या स्थायी हक़ रखनेवाले काश्तकार कई प्रकार के होते हैं और ये दो मुख्य भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम तो स्थायी जोतदार जो स्थायी प्रबंध द्वारा बनाये गये थे, और दूसरे पटनी तालुक़दार।

स्थायी जोतदारों का लगान उस समय तक नहीं बढ़ाया जा सकता है जब तक कि यह साबित न कर दिया जाय कि रिवाज के मुताबिक़

लगान बढ़ाने का हक़ है, या पट्टे में इस बात की शर्त है। अगर स्थायी प्रबंध के बाद लगान कभी नहीं बढ़ाया गया है तो अब नहीं बढ़ाया जा सकता है। स्थायी जोतवाले काश्तकार बड़े ज़मींदारों के नीचे छोटे ज़मींमारों की तरह रहते हैं।

पटनी ताल्लुक़दार वास्तव में ज़मीदारियों के स्थायी ठेकेदार हैं। इनका लगान हमेशा के लिए नियत है। यदि ये ज़मीदार को लगान न दें तो उनका हक़ फ़ौरन कलक्टर द्वारा बेचा जा सकता है।

काश्तकार शरहमोअय्यन (fixed rate tenant) भी काश्तकार इस्तमरारी की तरह होते हैं पर अन्तर उन दोनों में यह होता है कि काश्तकार इस्तमरारी तो ज़मीदार की तरह होता है, पर शरहमोअय्यन काश्तकार ख़ुद ही काश्तकारी करता है। दोनों के लगान स्थायी बन्दोबस्त के समय जो नियत कर दिये गये हैं वही रहते हैं। पर ज़मीदार शरहमोअय्यन काश्तकार के लगान को यह कह के बढ़वा सकता है कि उस काश्तकार के हक़ की ज़मीन गंगवार (Alluviul) से बढ़ गई है और वह काश्तकार यह कह कर लगान कटवा सकता है कि उसकी ज़मीन का कुछ हिस्सा सार्वजनिक कार्य के लिए ले लिया गया है इस लिए वह पहले से कम हो गई है। इस हक़ काश्तकारी पर उत्तराधिकारियों का हक़ होता है वह दूसरों को दिया जा सकता है या बेचा जा सकता है।

काश्तकार शरहमोअय्यन के सिवा इस सिलसिले में काश्तकार साक़तुल् मिलकियत (Ex-proprietary tenants) होते हैं। फिर मौरूसी काश्तकार और ग़ैरमौरूसी काश्तकार भी होते हैं। मौरूसी काश्तकार का लगान किसी शर्त के मुताबिक़ प्रत्येक १० वर्ष के बाद

पिछले लगान के सोलहवें हिस्से से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता और नीचे लिखी शर्तों पर केवल माल की अदालत में ही मौरूसी किसानों के लगान को बढ़ाया जा सकता है :—

(१) यह कि उसी गाँव के या पड़ोस के गाँवों के मौरूसी काश्तकार उसी प्रकार की ज़मीन का जो लगान देते हैं उससे इस काश्तकार का लगान कम है।

(२) यह कि उस लगान के दौरान में उपज का दाम बाज़ार में बढ़ गया है।

(३) यह कि इस लगान के दौरान में ज़मीदार के ख़र्चे से उस ज़मीन की उपज शक्ति बढ़ गई है।

(४) यह कि उस ज़मीन की उपज शक्ति (Fluvial action) जल प्रवाह के कारण बढ़ गई है।

लगान बढ़ाने के क़ानून के विपरीत कुछ ऐसे नियम भी बना दिये गये हैं कि जिससे लगान कम किया जा सकता है। वह इस प्रकार है—अनुचित रूप से और न्याय के विपरीत कोई लगान किसी हालत में न बढ़ाया जावेगा।

मौरूसी किसान जो लगान नक़द रुपयों में देता है वह निम्न कारणों से कम किया जा सकता है—(१) यह कि इस लगान के समय में किसी ऐसे कारण से जो केवल स्थायी नहीं, यदि उस ज़मीन की उपज का औसत दाम घट गया हो, और (२) यह कि किसान की किसी भूल के बिना ही आकस्मिक या सामयिक कारण से उस ज़मीन की मिट्टी कमज़ोर पड़ गई हो।

यहाँ पर मौरूसी हक़ पर उत्तराधिकार का हक़ होता है पर यदि कोई उत्तराधिकारी नहीं है तो वह हक़ ज़मीदार के पास वापिस चला जाता है।

बंगाल के काश्तकारी क़ानून के अनुसार मौरूसी व शरहमोअय्यन

काश्तकारों को उनके हक़ की ज़मीन में हर प्रकार से उन्नति करने का अधिकार दिया गया है। वे कुएँ, तालाब, नाली या पानी जमा करने या सिँचाई करने के लिए या खेती के और कामों के लिए कुछ बना कर उस ज़मीन की उन्नति कर सकते हैं, या पानी के अधिक बहाव से उसे बचाने का उपाय कर उसकी उन्नति कर सकते हैं। या खेतों के चारों तरफ मेड़ें बनाकर या और भी तरह तरह से अपनी ज़मीन की तरक्क़ी कर सकते हैं।

बक़ाया लगान में अगर मौरूसी काश्तकार को ज़मीन बेच दी जावे तो उसका मौरूसी हक़ जमींदार के पास एक दम वापिस नहीं चला जाता। कुछ रस्में पूरी करने के बाद फिर वह किसान को मिल सकता है।

यहाँ पर ग़ैरमौरूसी काश्तकारों के विषय में भी कुछ कह देना उचित है। ग़ैर मौरूसी काश्तकार वे काश्तकार हैं जो शरह-मोअय्यन या मौरूसी काश्तकार नहीं हैं। जिस समय किसी काश्तकार को ग़ैर-मौरूसी हक़ मिले उसी समय जो इसके और ज़मींदार के बीच लगान तय हो जाता है वही लगान उस ग़ैर-मौरूसी काश्तकार को देना पड़ता है। लगान न देने से या ज़मीन के दुरुपयोग करने से या उस ज़मीन के बारे में जो शर्तें हो गई हों उनको तोड़ने से या उसकी अवधि खतम हो जाने से वह ग़ैर मौरूसी काश्तकार बेदख़ल कर दिया ज़ा सकता है। ग़ैर-मौरूसी हक़ की रक्षा करने के लिए सन् १८८५ ईसवी के क़ानून काश्तकारी के अनुसार कुछ ऐसे नियम बना दिये गये हैं जिनसे वह अदालत माल या अफ़सर बन्दोबस्त द्वारा लगाये हुए लगान पर कम से कम पाँच साल के लिए उस ज़मीन को अपने पास रख सकता है। इसके सिवा इस क़ानून में काश्तकारी के बारे में और अधिक बातें नहीं लिखी हैं। जिस विषय पर क़ानून ख़ुलासा

नहीं है, वहाँ विवेक, समानता तथा रिवाज के सहारे काम निकालना चाहिए।

संयुक्त प्रान्त में काश्तकारों के अधिकार।

इस संबंध में संयुक्त प्रान्त के चार विभाग किये जा सकते हैं। प्रथम बनारस को निकाल कर आगरा प्रान्त, दूसरा अवध, तीसरा कमायूँ, और चौथा बनारस डिविज़न।

बनारस को छोड़ आगरा प्रान्त में काश्तकारी के हक़।

यहाँ हक़ ज़मींदारी की प्रथा को महालवारी प्रथा कहते हैं, क्योंकि इस प्रान्त में मालगुज़ारी के लिए स्थान की जो एक मात्रा नियत की जाती है उसे महाल कहते हैं। सरकार और किसान के बीच जो आदमी होता है उसे ज़मींदार (Land-holder) कहते हैं। उसे सरकार ज़मीन का मालिक मानती है। कहीं तो ऐसा एक ही ज़मीदार होता है और कहीं किसी पूर्व पुरुष के कुछ उत्तराधिकारी साथ मिल कर ज़मींदार होते हैं। ये किसानों से लगान वसूल करते हैं और इसको कभी कभी घटा बढ़ा भी सकते हैं। इनकी ज़िम्मेदारी सरकार को सिर्फ़ मालगुज़ारी और अबवाब देना भर है जो सरकार उनकी ज़मीन पर प्रति चालीस वर्ष पर लगाती है। सन् १८८५ में सहारनपुर संबंधी नियमों के पास हो जाने के बाद सरकार इस प्रान्त में ज़मीदारों द्वारा वसूल किये हुए लगान का ४५ से ५५ फ़ी सदी तक लिया करती थी। पर गत पच्चीस वर्षों के मालगुज़ारी के इतिहास को देखने से यह मालूम होता है कि बहुधा ४५ फ़ी सदी ही लिया जाता है और सन् १९२६ के क़ानून के मुताबिक़ सरकार ४० फ़ी सदी से ज्यादा नहीं ले सकती। व्यवहार में मालगुज़ारी नियत करते समय ज़मींदारों द्वारा ज़मीन की जो उन्नति हुई हो उसके लिए कुछ रियायत की जाती है। खेती में सामयिक डाँवाडोल का ज़मींदारों की ग़रीबी

का और मालगुज़ारी की सख़्ती का भी ख़याल रखा जाता है। इसके सिवा जब ज़मींदार स्वयं काश्तकारी करता है तो उसकी सीर पर कुछ रियायत कर दी जाती है और जब कभी उनसे अधिक लगान माँगा जाता है तो कुछ रियायत दिखलाई जाती है। साधारण नियम यह है कि नये प्रबन्ध के बाद पहले पाँच वर्षों तक जो मालगुज़ारी दी जाती थी उससे पच्चीस फ़ी सदी से अधिक मालगुज़ारी न बढ़ा दी जाय और अगर ४० फ़ी सदी से अधिक मालगुज़ारी बढ़ाई जावे तो वह पाँच पाँच साल के अन्त पर बढ़ाई जावे। अबवाब (cess) डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आमदनी का मुख्य ज़रिया है। १९२३ के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट (District Board Act) के अनुसार उन्नति के कामों के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ज़मींदारों की मालगुज़ारी का दस फ़ी सदी तक अबवाब ले सकती है।

यद्यपि नये प्रबन्ध के समय ज़मींदार लोग क़ानून के अनुसार सरकार से इक़रार करते हैं कि वे लोग उस ज़मीन पर प्रतिवर्ष वह मालगुज़ारी देंगे जो उन पर आयन्दा चालीस वर्ष के लिए नियत की गई है, पर असल में ज़मींदार का हक़ मालिक का सा होता है। उस हक़ पर हिन्दुओं और मुसलमानों के क़ानून के अनुसार उत्तराधिकार का हक़ होता है। वह हक़ बेच भी दिया जा सकता है। अगर कोई क़ानूनी उत्तराधिकारी न हुआ तो दान-पत्र या वसीयतनामा द्वारा दूसरों को दे दिया जा सकता है। क़ानून के अनुसार ज़मींदारों के अधिकार निम्नलिखित प्रकार के होते हैं। (१) ज़मींदारी ग़ैर-मुश्तर्का—इसमें एक ही ज़मींदार होता है जो अपने महाल से लगान वसूल करके सरकार को मालगुज़ारी देता है। (२) ज़मींदारी मुशतर्का—इसमें एक से अधिक मालिक होते हैं। बहुधा एक ही पूर्व पुरुष के सन्तान होते हैं और आपस में मिल कर उस ज़मींन के मालिक बने रहते हैं। उन हिस्सेदारों में से एक को सरकार

लम्बरदार बना देती है। वह बहुधा उन सब हिस्सेदारों का मुखिया होता है और हिस्सेदारी की सारी ज़मीन की मालगुज़ारी सरकार को देता है। (३) पट्टीदारी—जब संयुक्त ज़मींदारी बटवारा होने से टूट जाती है तो फिर उसे पट्टीदारी कहते हैं। हर एक पट्टीदार की मालगुज़ारी की ज़िम्मेदारी अलग अलग पट्टीदारों पर आ पड़ती है या वे सब पट्टीदार लम्बरदार के ज़रिये अपनी अपनी मालगुज़ारी सरकार को देते हैं। मगर एक महाल के सब पट्टीदार अलग अलग और साथ ही साथ उस पूरे महाल की मालगुज़ारी के ज़िम्मेदार होते हैं। जब लम्बरदार दूसरे पट्टीदारों के लगान को भी वसूल करता है तो वह उस लगान में से सरकारी माल गुज़ारी और पट्टीदारों का हिस्सा देने से पहले पाँच फ़ी सदी हक़ लम्बरदारी ले सकता है। (४) भाई-चारा—यह हिस्सेदारी का दूसरा रूप है। इसमें एक से अधिक मालिक होते हैं जो सब साथ मिलकर किसी ज़मीन पर हक़ रखते हैं। बटवारा हो जाने पर अपना अपना हक़ वे लोग अलग कर लेते हैं। पर भाई-चारे के हर एक हिस्सेदार के पास सचमुच में जो ज़मीन होती है उसी के अनुसार उनमें से प्रत्येक का हक़ निश्चय किया जाता है। पट्टीदारी में पट्टीदारों का हक़ उनकी वंशावली में जो उनका स्थान होता है उसी के अनुसार निश्चित किया जाता है। (५) अधूरी पट्टीदारी और अधूरा भाई-चारा—यहाँ एक से अधिक ज़मींदार होते हैं। प्रत्येक के पास कुछ तो संयुक्त ज़मीन का हिस्सा होता है और कुछ अलग की ज़मीन होती है।

व्यवहार में यद्यपि ज़मींदार ही ज़मीन का पूरा मालिक होता है पर वास्तव में उसकी ताक़त सोलह आने नहीं होती। एक तो यह कि सरकार ४० वर्ष तक के लिए उसकी मालगुज़ारी नियत कर देती है। यह मालगुज़ारी चाहे वह अपनी ज़मीन से फ़ायदा उठावे या न उठावे उसे देना ही पड़ती है, क्योंकि यहाँ आमदनी

पीछे नहीं, महाल पीछे लगान लगाया जाता है। यह सच है कि अगर किसी साल खेती बहुत ख़राब हुई तो सरकार पूरा या कुछ हिस्सा लगान का माफ़ कर देती है। पर यह सरकार की ज़मींदार के ऊपर मेहरबानी है। दूसरे, ज़मींदार के नीचे के किसानों का हक़ सरकार द्वारा नियत है और इनके आगे ज़मींदार उन लोगों से अधिक फ़ायदा नहीं उठा सकता। इसलिए भारतवर्ष के ज़मींदारी प्रांतों में यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि ज़मीन का वास्तविक मालिक कौन है सरकार, ज़मींदार या किसान। प्रत्येक का एक दूसरे से कई प्रकार का संबंध है।

किसानों के अधिकारों के आधार पर आगरा प्रांत में निम्नलिखित प्रकार के काश्तकार पाये जाते हैं। (१) साख़्तुल मिलकियत काश्तकार—इसमें वे सब किसान आते हैं जो पहले उसी महाल के जिसमें कि उनकी वर्त्तमान ज़मीन है ज़मींदार थे और जिन्होंने अपनी ज़मीन बेचकर या दूसरे तरीक़े से अपना हक़ ज़मींदारी खो दिया था, पर जिनके पास १९०१ सन् ईस्वी में वर्त्तमान क़ानून काश्तकारी के पास होने के समय उस ज़मीन पर, जो अभी उनके पास है, सीर का हक़ था या जिसे वे लगातार १२ वर्षों तक खुद जोतते रहे थे। ऐसे किसान आजकल बढ़ते जा रहे हैं। उनको अब उसी ज़मीन में साख़्तुल-मिल्कियत का हक़ मिल गया है और उस ज़मीन का लगान जो एक दख़ीलकार काश्तकार देता है उससे रुपये में चार आना कम देना पड़ता है। जब तक साख़्तुल़-मिल्कियत काश्तकार अपने हिस्से का लगान देता रहेगा तक तक कोई उसे बेदख़ल नहीं कर सकता। उसका लगान योंही बढ़ाया नहीं जा सकता और अगर ज़मींदार ने उससे सलाह करके या अदालत ने उसका लगान बढ़ा भी दिया तो फिर दूसरे दस वर्षों तक उसका लगान बढ़ाया नहीं जा सकता। इस किसान के हक़ पर उत्तराधिकार का हक़ होता है।

पर किसी अदालत द्वारा दी हुई डिगरी के लिए वह नहीं बेचा जा सकता। पर यों ही परस्पर दूसरे हक़दार को साख़्तुल मिल्कियत काश्तकार अपना हक़ दे सकता है।

वह अपनी ज़मीन को दूसरों को पट्टे पर पाँच वर्षों के लिए दे सकता है, इससे अधिक नहीं। एक बार पट्टे से उसे मुक्त कर लेने के बाद बिना दो वर्ष पूरे हुए उसे फिर किसी को पट्टे पर नहीं दे सकता। अगर एक साल से अधिक के लिए देना है तो उस पट्टे की रजिस्ट्री करा लेनी पड़ती है।

साख़्तुल मिल्कियत काश्तकार के लगान को उसका ज़मींदार केवल निम्न लिखित कारणों से बढ़ा सकता है, किसी अन्य कारण से नहीं:—

(१) पड़ोस के गाँव में इसी तरह वा इतने फ़ायदेवाली ज़मीन का ग़ैरमौरूसी काश्तकार जो लगान देता है उस लगान से अगर इस काश्तकार के हिस्से का लगान रुपये में चार आने से भी कम हुआ तो।

(२) इस किसान की ज़मीन की उपज-शक्ति बिना उस किसान के किसी प्रकार की सहायता के उस लगान के समय में बढ़ गई हो तो।

(३) अगर गंगवार (alluvium) या किसान ने ज़बर्दस्ती से ज़मीन बढ़ा ली हो तो।

उसका लगान निम्नलिखित कारणों से घटाया भी जा सकता है—

(१) अगर इस लगान के समय में किसी ऐसे कारण से जो उस किसान के वश की बात न थी, उसकी ज़मीन की उपज-शक्ति घट गई हो, या

(२) अगर पानी के बहाव से (deluvium) या किसी सार्वजनिक काम के लिए उसकी कुछ ज़मीन ले लेने से उसकी ज़मीन कम हो गई हो।

साख़्तुल मिल्कियत काश्तकार को निम्नलिखित कारणों से बेदख़ल कर सकते हैं—

(१) अगर लगान देने में उसने तीन वर्ष से अधिक देर कर दी हो या अगर उसके ऊपर या उसके उन्हीं हकों पर डिकरी हो गई हो तो और (२) अगर क़ानून के विरुद्ध वह अपनी उस ज़मीन को दूसरों को दे देता है या पट्टे पर दे देता है।

अब दूसरे प्रकार के किसानों के विषय में लिखेंगे। ये किसान मौरूसी काश्तकार कहलाते हैं। आगरा प्रांत में मौरूसी किसानों की संख्या बढ़ती जा रही है क्योंकि १९२६ ईसवी के काश्तकारी क़ानून के अनुसार ज़मींदार किसी भी किसान को हक़ मौरूसी दे सकता है। मौरूसी हक़ पर उत्तराधिकार का क़ानून लागू होता है। वह किसी दीवानी या माल अदालत की दी हुई डिकरी से दूसरों को नहीं दिया जा सकता। पर वह साथ के हिस्सेदार को या वारिस को, जो कि उसके बाद उस ज़मीन का अधिकारी होनेवाला हो, अपनी मर्ज़ी से दिया जा सकता है। निम्न-लिखित अवस्थाओं में मौरूसी हक़ टूट जाता है—

(१) जब किसान बिना उत्तराधिकारी के मर जाता है।

(२) जब किसान लगान न देने के कारण बेदख़ल कर दिया गया हो।

(३) जब ज़मीन को किसान ने दूसरे को दे दिया हो।

(४) जब सार्वजनिक काम के लिए ज़मीन ले ली गई हो।

ज़मींदार मौरूसी काश्तकार का लगान निम्नलिखित कारणों से बढ़ा सकता है।

(१) उसी तरह की ज़मीन का या उतने ही फ़ायदे वाली ज़मीन का लगान जो दूसरे मौरूसी काश्तकार देते हैं उससे अगर लगान कम हो।

(२) पुराने लगान के समय में अनाज का दाम बढ़ गया हो।

(३) यदि उस किसान के बिना प्रयत्न किये हुये उस ज़मीन की उपज-शक्ति बढ़ गई हो।

(४) गंगवार (alluvium) या उस किसान ने ज़बरदस्ती से ज़मीन बढ़ा ली हो।

मौरूसी काश्तकार निम्न-लिखित कारणों से अपना लगान घटाने के लिए नालिश कर सकता है।

(१) अनाज का दाम घट गया हो।

(२) उसकी ज़मीन की उपज-शक्ति घट गई हो या पानी के बहाव (deluvium) से या ज़मींदार की ज्यादती से उसकी ज़मीन का रक़बा घट गया हो।

मौरूसी किसान अपनी ज़मीन को पाँच वर्ष से अधिक के लिए पट्टे पर नहीं दे सकता। एक बार देने के बाद दूसरे दो वर्षों तक उसे फिर नहीं दे सकता। अगर एक साल से अधिक पट्टे पर दिया तो उसकी रजिस्ट्री करा लेनी होगी।

निम्नलिखित कारणों में से किसी भी एक या एक से अधिक कारणों से मौरूसी किसान बेदख़ल किया जा सकता है :—

(१) यदि उसके या उसके हक़दारों के विरुद्ध उस ज़मीन के लगान न देने के लिए डिकरी हो गई हो।

(२) अगर कोई ऐसा काम किया गया हो जिससे उस ज़मीन को हानि पहुँचे या जिस काम के लिए वह ज़मीन दी गई थी उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही की गई हो।

(३) अगर उस किसान ने उस सारी ज़मीन को या किसी एक हिस्से को पट्टे पर या योंही दूसरे को क़ानून के ख़िलाफ़ दिया हो।

तीसरे प्रकार के काश्तकार ग़ैर-मौरूसी या ग़ैर-दख़ीलकार होते हैं। इसमें वे सभी किसान आते हैं जिनका उनकी खेती की ज़मीन पर कोई

स्थायी हक़ नहीं होता। लगान का बढ़ाया जाना या उनका बेदख़ल होना ज़मींदारों की मर्ज़ी पर रहता है। ग़ैर-मौरूसी किसान साल साल भर के लिए ज़मीन काश्तकारी के लिए लेता है और वह किसी साल के अन्त में उस ज़मीन को छोड़ सकता है या उससे अलग किया जा सकता है। यदि वह खुद छोड़े तो उसे चाहिए या उससे ज़मीन छुड़ाई जावे तो उसके ज़मींदार को चाहिये कि ऐसा करते समय प्रत्येक फ़सली साल के एक महीने पहले, इस बात की सूचना दूसरे फ़रीक़ को दे दे। सन् १९०१ ईसवी के क़ानून काश्तकारी के अनुसार इन किसानों के उपकार की भी व्यवस्था की गई है। अगर कोई किसान ज़मीन को सात वर्ष या अधिक समय के लिए पट्टे पर ले तो उसे फिर उस ज़मीन पर मौरूसी हक़ नहीं मिल सकता। फिर किसान और ज़मींदार की सलाह से उसपर लगान बढ़ाया जा सकता है। यदि यह असफल हुआ या उस किसान ने ज़मीन छोड़ने से इनकार कर दिया तो फिर मामला अदालत माल में पहुँचाया जाता है। यदि ज़मींदार का इरादा काश्तकार को बेदख़ल करने का नहीं बल्कि केवल लगान बढ़ाने का ही हो तो अदालत जो लगान का फ़ैसला करदे उसी लगान पर उस काश्तकार को उस फ़ैसले के बाद सात साल तक उस ज़मीन को जोतने का हक़ रहेगा, और यह समझा जावेगा कि वह किसान उस ज़मीन को रजिस्ट्री किये हुये पट्टे पर जोत रहा है। यदि ज़मींदार का इरादा किसान को बेदख़ल करने का रहा हो तो फिर अदालत वही फैसला करेगी और काश्तकार को वह ज़मीन छोड़ देनी पड़ेगी। इसके सिवा आगरा प्रान्त में क़ानूनी काश्तकार (Statutary tenants) या काश्तकार हीन-हयात भी होते हैं। ये अभी हाल में क़ानून द्वारा बनाये गये हैं।

प्रत्येक आदमी जो कि सन् १९२६ ईसवी के आगरा काश्तकारी क़ानून के शुरू होने के समय, सीर, बग़ीचे की ज़मीन, चरागाह, पानी

के भीतर की ज़मीन को—जिसमें सिंघाड़ा आदि बोया जाता है—छोड़ कर किसी और ज़मीन का काश्तकार था और जो काश्तकार इस्तमरारी या मौरूसी किसान नहीं था, या जो काश्तकार इस्तमरारी के क़ब्ज़े की ज़मीन पर खेती नहीं करता था, या जो इस क़ानून के शुरू होने के बाद बिना मौरूसी हक़ के ऊपर लिखी हुई ज़मीनों के सिवा किसी भी ज़मीन में काश्तकार बनाया गया था, या जो कि इस क़ानून के शुरू होने के बाद ऊपर लिखी ज़मीनों को छोड़कर किसी भी ज़मीन पर काश्तकार इस्तमरारी द्वारा काश्तकार बना लिया गया था, वह काश्तकार हीनहयात कहलावेगा और उसका अधिकार इस ज़मीन पर जीते जी रहेगा। पर शर्त पहली यह है कि किसी शिकमी काश्तकार को यह हक़ हीनहयाती न मिलेगा और कोई शिकमी काश्तकार हीनहयाती काश्तकार माना न जावेगा। दूसरी शर्त यह है कि किसी सार्वजनिक काम में आनेवाली ज़मीन पर या फ़ौजी ज़मीन पर या कैन्टून्मेन्ट की ज़मीन पर या रेलवे की सीमा के भीतर की ज़मीन पर या सरकारी जंगल विभाग की सीमा के भीतर की ज़मीन पर या जेल की ज़मीन पर या इसी तरह की किसी और ज़मीन पर यह हक़ न दिया जावेगा। तीसरी शर्त यह है कि सरकार ने इस क़ानून के शुरू होने के पहले जिस ज़मीन को चाय का खेत क़रार दे दिया था उस पर या नदी की ज़मीन पर जहाँ कभी कभी खेती की जाती है उसमें यह हक़ न दिया जावेगा।

काश्तकार हीनहयात के मर जाने के बाद पाँच वर्ष तक उसके वारिस का उसपर हक़ रहेगा। पाँच वर्ष के बाद अगर उस वारिस और ज़मींदार के बीच शरह तय हो गई तो फिर उसे भी काश्तकार हीनहयात का हक़ दे दिया जावेगा।

सन् १९२६ ईसवी के क़ानून काश्तकारी के अनुसार लगान में तब्दीली करने के लिए एक बहुत मार्के की बात हुई है। वह यह कि

सरकार एक ख़ास समय में जिसे कि रोस्टर साल (Roaster year) कहते हैं एक रोस्टर पदाधिकारी (Roaster Officer) नियुक्त करेगी जो किसानों के लगान में परिवर्तन करेगा और उसके बाद फिर उनके लगानों में कुछ तब्दीली न हो सकेगी। इससे जो ख़ास फ़ायदा होगा वह यह कि इज़ाफ़ा लगान वग़ैरह के मुक़द्दमे न होंगे।

अवध में काश्तकारी के अधिकार—यहाँ ज़मींदारों के हक़ को ताल्लुक़दारी कहते हैं। यह भी आगरा के हक़ ज़मींदारी की भाँति होता है। पर अवध के ताल्लुक़दार अपनी अपनी सीमा के नवाब होते हैं और उनके किसान बिल्कुल उनके हाथ में होते हैं। अवध के ज़मींदार अपना ताल्लुक़ा सरकारी सनद द्वारा पाए हुए हैं, और इन सनदों में सिर्फ़ यह लिखा है कि "तुम भरसक अपनी ज़मीन की उन्नति करना और उस पर पहले जो कुछ अधिकार काश्तकारों के थे उन सब की तुम रक्षा करोगे और मानोगे।" फिर मालगुज़ारी क़ायम करने के लिए आगरा प्रांत की तरह ज़मीन का यहाँ महाल नहीं होता वरन् सारे ताल्लुक़े पर एक साथ मालगुज़ारी क़ायम की जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि अवध में ज़मींदार नहीं होते पर ज्यादातर यहाँ ताल्लुक़दार ही होते हैं। इधर कई रियासतों में इस्तमरारी बंदोबस्त कर दिया गया है क्योंकि वहाँ के ताल्लुक़दारों ने सरकार की कुछ सेवा की थी। फिर कुछ ऐसी भी ताल्लुक़े हैं जहाँ सिर्फ़ बड़े लड़के को हक़ मिले (Primogeniture) यह क़ानून लागू होता है। ताल्लुक़दारों के नीचे एक दो या इससे भी अधिक गाँव के ज़मींदार होते हैं। एक गाँव का एक ही ज़मींदार हो या अधिक हिस्सेदार हों तो उनका ताल्लुक़दार के साथ वही संबंध होता है जो बंगाल में पट्टनीदार का वहाँ के ज़मींदारों से होता है। अंतर केवल इतना ही होता है कि अवध के ज़मींदारों की मालगुज़ारी का दर पट्टनीदारों की तरह स्थायी नहीं होता। वह सेटिलमेंट अफ़सरों द्वारा चालीस चालीस

वर्ष के लिए तय किया जाता है। इनके सिवा अवध में साक़ुल-मिल्कियत काश्तकार और मौरूसी या दख़ीलकार काश्तकार होते हैं और उनके वही अधिकार होते हैं जो आगरा प्रांत में ऐसे काश्तकारों के सबंध में बताए जा चुके हैं। अवध में मौरूसी काश्तकार अधिक नहीं पाए जाते पर तालुक़दार या ज़मींदार किसी भी शिकमी काश्तकार से नज़राना लेकर हक़ मौरूसी दे सकता है। अवध का मौरूसी काश्त-कार आगरे के मौरूसी काश्तकार से कुछ अधिक फ़ायदे में रहता है क्योंकि यहाँ मौरूसी काश्तकार का लगान उसी स्थिति के एक हीन-हयात काश्तकार की बनिस्बत रुपये में दो आना कम होता है। पर अवध में सबसे अधिक मार्के का किसान "हीन-हयाती काश्तकार" है। इसमें वे सभी किसान आते हैं जो ऊपर लिखे हुए किसानों में से नहीं हैं और जो शिकमी काश्तकार भी नहीं हैं। सन् १९२३ ईसवी में "अवध रेंट अमेंडमेंट एक्ट' (The Oudh Rent Amendment Act) यानी अवध लगान सुधार क़ानून के शुरू होने के समय उनके क़ब्ज़े में जो ज़मीन थी, उस ज़मीन पर, जब पिछली बार उनका लगान तय किया गया था या जब पिछली बार उनकी ज़मीन में कुछ परिवर्तन किया गया था, उसके बाद दस वर्ष के लिए या जहाँ कुछ परिवर्तन नहीं हुआ था वहाँ जब उस किसान को उस ज़मीन पर दख़ल दिया गया था उसके बाद दस वर्ष तक वह अपना वही हक़ क़ायम रख सकता है। इस श्रेणी के काश्तकारों में वे काश्तकार भी आते हैं जिन्होंने सन् १९२३ ईसवी के क़ानून बनने के बाद से किसी ज़मीन पर काश्त-कारी शुरू की हो। उनमें और उनके ज़मींदार के बीच में जो लगान निश्चित हो चुका है उसी लगान पर वे लोग दस वर्ष तक उस ज़मीन को जोतते रहेंगे, और इस क़ानूनी अवधि के भीतर अर्थात् दस वर्ष तक उनका लगान न बढ़ाया जावेगा। अगर इस अवधि के भीतर वह हीनहयाती काश्तकार मर गया तो उस अवधि में

बाक़ी दिनों के लिए वह हक़ उसके उत्तराधिकारी को मिलता है। उसके बाद कुछ नियमों के अनुसार उस ज़मीन का लगान बढ़ाया जा सकता है। हीनहयात काश्तकार ने यदि उस ज़मीन पर कुछ उन्नति की हो और अवधि पूरी होने तक उस उन्नति का पूरा फ़ायदा न उठा सका हो तो अवधि पूरी होने पर बाक़ी बची हुई उन्नति के लिए वह ज़मींदार से दाम माँग सकता है।

कमायूं में काश्तकारों के अधिकार

(१) कमायूं में बहुधा रैयतवारी होती है। उन ज़मीनों के हक़-दार चाहे जिस प्रकार के हों पर व्यवहार में वे हिस्सेदार कहे जाते हैं। मालगुज़ारी वसूल करने के लिए ज़मीन का क्षेत्र एक गाँव का होता है, और गाँव के सब हक़दार एक साथ या अलग अलग उस सारे गाँव की मालगुज़ारी के देनदार होते हैं। पर सब हिस्सेदारों में से एक या अधिक प्रधान मालगुज़ार नियत कर दिये जाते हैं। प्रधान सब हिस्सेदारों से मालगुज़ारी वसूल करता है और इसके लिए उस मालगुज़ारी के कुछ हिस्से पर उसका हक़ होता है। वह सब पंच हिस्सेदारों की ओर से उस सारे गाँव का प्रबंध करता है व उससे जो कुछ फ़ायदा होता है उसे अपने पास रख लेता है। यदि कोई किसान चाहे तो अपनी पट्टी की ज़मीन और अपना हिसाब किताब अदालत के द्वारा अलग करा सकता है। पर पहाड़ी गाँवों में पूरा बटवारा बहुत कम देखने में आता है क्योंकि वहाँ क़रीब क़रीब हर गाँव में कुछ न कुछ ज़मीन पंचायती होती है जिसे संजायत कहते हैं। हिस्सेदारी हक़ कमायूं पहाड़ी की विशेष प्रथा के अनुसार उत्तराधिकारियों को मिल सकता है।

(२) हिस्सेदारों के ऊपर थोकदार या कनिपुर या सयाने होते हैं। ये तीनों एक ही प्रकार के हक़दारों के नाम हैं, और पहाड़ी हिस्सों के किसानों के एक प्रकार के प्रतिनिधि हैं। वे ज़मीन के मालिक नहीं

होते पर उन्हें ज़मीन की मालगुज़ारी वसूल करने का हक़ होता है और उन्हें उस मालगुज़ारी में से कुछ हिस्सा मिलता है। इसके सिवाय उन्हें कुछ और व्यवहारिक नज़राना रुपये या अनाज के रूप में मिलता है। उनका हक़ भी उत्तराधिकारी को मिल सकता है या दूसरों को किसी अन्य प्रकार से दिया जा सकता है।

(३) हिस्सेदारों के नीचे खैकार होते हैं जो बहुत कुछ मैदान के मौरूसी काश्तकारों से मिलते जुलते हैं। और इनके अलावा एक क़िस्म के काश्तकार सिरतन होते हैं जो ग़ैर दख़ीलकार की तरह होते हैं। खैकारी ज़मीन के हिस्सेदार खैकारों से जो लगान वसूल करते हैं उसमें का कुछ हिस्सा उन्हें मालक़ाना के रूप में मिलता है। और यदि खैकार बिना उत्तराधिकारी के मर जाय तो वह ज़मीन हिस्सेदारों की खुदकाश्त हो जाती है। अलमोड़ा और नैनीताल में हिस्सेदारों को उनके द्वारा वसूल किये हुए लगान का पच्चीस फ़ी सदी और गढ़-वाल में बीस फ़ी सदी हिस्सा मिलता है।

खैकार एक प्रकार का किसान होता है जिसका हक़ उत्तराधिकारी को मिल जाता है पर दूसरों को किसी अन्य प्रकार से नहीं दिया जा सकता है। बन्दोबस्त के समय में उसका लगान निश्चित कर दिया जाता है और उस बन्दोबस्त की अवधि तक उसमें अदल-बदल नहीं किया जा सकता। कुछ दाम देने पर हिस्सेदार से खैकारी हक़ मिल सकता है। फ़िलहाल सरकार भी उन लोगों को खैकारी हक़ देने लगी है जिन्होंने बहुत सी सरकारी बेकार ज़मीन की उन्नति करके उनसे खेती के काम लायक़ कर दिया है।

सिरतन ग़ैर-दखीलकार काश्तकार होते हैं। कमायूं में ऐसे किसान बहुत कम होते हैं। सारी ज़मीन की ९४ फ़ी सदी हिस्सों पर हिस्सेदार और खैकार काश्तकारी करते हैं और केवल ६ फ़ी सदी पर

सिरतनों की काश्तकारी होती है। उनका मौरूसी हक़ नहीं होता और वे लोग हिस्सेदारों की मर्ज़ी पर बेदख़ल कर दिये जा सकते हैं।

बनारस डिविज़न में काश्तकारी के अधिकार

स्थायी या इस्तमरारी प्रबन्ध के अनुसार ज़मींदार उसे कहते हैं जिसका अपनी ज़मीन पर ज़मींदारी का हक़ हो, और जिसका वह हक़ उसके उत्तराधिकारियों को मिल सके या जिसे वह उसपर लगाई हुई मालगुज़ारी की शर्त पर दूसरों को बेच सके या दान कर सके। उसकी ज़मीन पर जो मालगुज़ारी लगाई गई हो उसके देने के बाद वसूल किये हुए लगान से जो कुछ बच जावे वह उसका होता है। और अगर उसकी ज़मींदारी में कोई नई ज़मीन काश्त में आवे तो उसका फ़ायदा भी उसी को होता है, जैसा कि बंगाल व बिहार में क़ायदा है। यहाँ पर भी सरकार ने ऐसे नियम बना रखे हैं जिनसे कि ज़मींदार के नीचे वाले काश्तकारों के अधिकारों की पूरी रक्षा होती है और ज़मींदार उनमें किसी प्रकार का नाजायज़ रुपया वसूल नहीं कर सकता और न किसी प्रकार का दबाव ही डाल सकता है। ज़मींदार के स्थायी प्रबंध के अनुसार जो अधिकार मिले थे उनपर पहले लोगों में बहुत मतभेद था। पर अब सब लोगों की राय एक हो गई है कि ज़मींदार अपनी ज़मीन के एक दम सोलह आने मालिक नहीं बना दिए गए थे और न उस स्थायी प्रबंध को उन्हें ऐसा बनाने का इरादा ही था। पर उनके अधिकार उनके मातहत तरह तरह के किसानों के अधिकारों द्वारा—जिन किसानों को जब तक वे लगान लेते जाते थे तब तक निकालने का उन्हें कोई हक़ न था—नियमित थे। फिर यदि ज़मींदार समय पर सरकार द्वारा तय की गई अपनी ज़मींदारी की मालगुज़ारी देने में भूल करता है तो सरकार को उसकी ज़मींदारी बेच डालने का अधिकार है।

इससे हमें स्थायी प्रबंध वाले स्थान में ज़मींदार की हैसियत का कुछ

ज्ञान हो सकता है। ज़मींदारी प्रथा के अनुसार स्थायी प्रबंध वाले स्थानों में ला-खिराज नाम की काश्तकारी होती है जो बहुत कुछ ज़मींदारी प्रथा की तरह ही होती है। पर चूँकि उसपर सरकार को कोई मालगुज़ारी नहीं दी जाती इससे ज़मींदारी की मालगुज़ारी न देने पर वह बेची नहीं जा सकती।

पञ्जाब

पञ्जाब में मालगुज़ारी वसूल करने की प्रथा ज़मींदारी की है। सरकार अलग अलग किसानों से लगान न वसूल कर भिन्न स्थानों के ज़मींदारों से वसूल करती है। आम तौर पर वहाँ बहुत से कुटुम्ब एक साथ उस गाँव के मालिक होते हैं और ख़ुद अपनी ज़मीन जोतते हैं। वे सारे कुटुम्ब किसी एक ही पुरखे की शाखा नहीं होते। प्रत्येक के पास बहुधा थोड़ी थोड़ी सी ज़मीन ही होती है। यद्यपि इन कुटुम्बों के मुखिया लोग सब मिलकर संयुक्त ज़मींदार माने जाते हैं और क़ानूनन सब एक साथ मालगुज़ारी के ज़िम्मेदार होते हैं और उन सबका प्रतिनिधि उन्हीं में से कोई एक होता है जिसे सरदार या लम्बरदार कहते हैं। पर व्यवहार में प्रत्येक कुटुम्ब के हिस्से की मालगुज़ारी अलग अलग वसूल की जाती है। इसलिये ये नाम मात्र के ज़मींदार फ्रांस की तरह (Peasant proprietor) होते हैं, यानी ऐसे काश्तकार होते हैं जो ख़ुद अपनी अपनी ज़मीन के मालिक होते हैं। किसी किसी अवस्था में किसी गाँव के बहुत से काश्तकार-मालिक (Peasant Proprietor) एक ही वंश के होते हैं। सब की ज़मीन एक होती है और अलग अलग काश्तकार जो काश्तकारी करता है वह उसे एक सम्प्रदाय के काश्तकार की हैसियत से करता है। उस ज़मीन में उनका जितना हिस्सा होता है उतनी ही उनकी ज़मीन होती है और उसी के परिमाण में फ़ायदे के हक़दार होते हैं। मालगुज़ारी वग़ैरह उन्हीं हिस्सों के अनुसार लगाई जाती है। पर वह समूह उस सारी ज़मीन की

मालगुज़ारी के लिए ज़िम्मेदार होता है। यदि उनमें से कोई एक काश्तकार अपने हिस्से के हिस्सेदारों को छोड़ किसी बाहरी आदमी को बेचे तो उसके साथ के हिस्सेदारों को उस ज़मीन पर हक़शफ़ा का अधिकार होता है, अर्थात् दूसरा हिस्सेदार अगर चाहे तो उतने ही दाम पर किसी बाहरी आदमी के बदले लेने का अधिकारी हो सकता है। यहाँ पर बेचने वाले को या उस बाहरी खरीदार को कुछ बोलने की गुंजाइश नहीं। पर ये समूह टूट सकते हैं और उसके सब हिस्सेदार उस ज़मीन को अलग अलग बँटवाकर और मालगुज़ारी की ज़िम्मेदारी भी अलग अलग करवा सकते हैं। इस ज़मीन का बट-वारा भाई-चारा या पट्टीदारी के सिद्धान्त पर हो सकता है। ऊपर दिया हुआ सारा वर्णन पञ्जाब के मध्यभाग और नैऋत्य-भाग के लिए लागू होता है। पञ्जाब के नैऋत्य-भाग में ज़मीन के मालिकों के सिवाय एक प्रकार के और हक़दार पाये जाते हैं जिन्हें चकदार, सिलहदार, तरादादागार या कासूरख़्वार कहते हैं। ये बहुधा दूसरों की ज़मीन में अपने पैसे से आबपाशी के लिए कुएँ व नहर बनवाते हैं। उन कुओं और नहरों पर तथा उन कुओं और नहरों से जिस ज़मीन की सिंचाई होती है उनपर उनके उत्तराधिकार को या दूसरों को दे देने का अधिकार रहता है। पर ज़मींदार चाहे तो उन हक़दारों से उनके कुओं या नहरों के दाम देकर उन्हें ख़रीद सकता है।

ज़मींदारों के ज़िम्मेदारी हक़-हक़ूक़ात और जो आगरा प्रान्त में होते हैं वही पञ्जाब में भी होते हैं। पर पञ्जाब के सन् १९०० ईसवी के एलियनेशन आफ़ लैण्ड एक्ट (Alienation of Land Act) अथवा ज़मीन को निकाल देने के क़ानून से, जिसका सुधार सन् १९०७ ईसवी के और क़ानून के अनुसार हो गया है, ज़मीन को बेच देने के लिए कुछ क़ैद कर दी गई। एक सम्प्रदाय का कोई काश्तकार उस सम्प्रदाय के या किसी दूसरे सम्प्रदाय के काश्तकार को अपनी ज़मीन हिबा नहीं कर

सकता (बिना मूल्य नहीं दे सकता)। इस क़ानून के द्वारा ग़ैर-काश्तकारों के हाथ ज़मीन को रेहन कर देने पर भी कुछ क़ैद कर दी गई है। कुछ ज़मीन को छोड़कर बाक़ी की ज़मीन का कहीं कहीं ३०-३० वर्षों में व कहीं कहीं २०-२० वर्षों में बन्दोबस्त किया जाता है। वहाँ बन्दोबस्त करने का सिद्धान्त यह है कि मालगुज़ारी सारी अवस्थाओं को देखकर लगाई जावेगी पर किसी अवस्था में भी उपज से उसके सारे ख़र्च को काटकर जो बच रहेगा उसके आधे से अधिक न लिया जावेगा।

पञ्जाब में काश्तकारों के अधिकार—यद्यपि पञ्जाब में काश्तकार-मालिकों की संख्या बहुत है पर तो भी १९१८-१९ के हिसाब के अनुसार २,९०,००,००० एकड़ में से १,५०,००,००० एकड़ ज़मीन पर केवल काश्तकार ही खेती करते थे। वहाँ निम्न प्रकार के किसान पाये जाते हैं—

(१) मौरूसी या दख़लकार काश्तकार—इस श्रेणी में वे काश्तकार हैं जिन्होंने सन् १८८७ ईसवी के लैण्ड एक्ट (Land Act) के बनने के समय दो पीढ़ी तक ज़मींदार को सरकारी मालगुज़ारी के सिवाय और कुछ नहीं दिया था, और इनके अलावा वे काश्तकार भी हैं जो इस क़ानून के बनने के पहले किसी विशेष कारण से दख़ीलकार काश्तकार या मौरूसी काश्तकार मान लिए गये थे। पञ्जाब में अब मौरूसी हक़ बढ़ती पर नहीं है। लगभग इन्हीं के बराबर एक और काश्तकार भी हैं जिन को हल्के-ज़मींदार (Inferior owners) कहते हैं। इन ज़मींदारों का सादा हक़ अन्य ज़मींदारों की भाँति होता है। अन्तर केवल यही होता है कि अपने से ऊँची श्रेणी के ज़मींदारों को कुछ देते हैं। उत्तराधिकारियों के सिवाय किसी दूसरे को अपनी ज़मीन देने का अधिकार मौरूसी काश्तकारों और हल्के ज़मींदारों को मिल सकता है और नहीं भी मिल सकता। इसके

सिवाय मौरूसी काश्तकारों के दूसरे हक़-हक़ूक़ात आगरा प्रान्त के मौरूसी काश्तकारों की तरह होते हैं। अन्तर केवल वही होता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उनका हक़ कुछ क़ैद के साथ दूसरों को दिया जा सकता है। फिर इसके सिवाय जिस गाँव में उनकी ज़मीन होती है और अगर वहाँ कोई ज़मीन बेची जाती हो तो उसपर उनका हक़शफ़ा का अधिकार होता है। (२) ग़ैर-दख़ीलकार काश्तकार (Tenants at will) में काश्तकार सिवाय अदालत की नोटिस के बेदख़ल नहीं किया जा सकता है। अदालत का यह नोटिस उनके नाम साल के कुछ ख़ास ख़ास मौक़ों पर निकाला जाता है। और उन्हें बेदखल करने के पहले यह मौक़ा दिया जाता है कि अगर वे चाहें तो अदालत में अपने दख़ल क़ब्ज़ा का हक़ साबित करें या उन्होंने उस ज़मीन की जो उन्नति की है और जिस उन्नति का असर अब भी बाक़ी है दाम ले लें। इसके लिए वहाँ के काश्तकारी क़ानून में ख़ास तौर से कुछ नियम बना दिये गये हैं।

सरकारी बेकार ज़मीन पर काश्तकारों के अधिकार—बेकार ज़मीन को काम के लायक़ बना देने के लिए यह नियम बनाया गया कि कोई भी बेकार ज़मीन सस्ते भाव से ३५ वर्ष के लिए पट्टे पर दे दी जा सकती है। पट्टे की अवधि पूरी होने पर वह ज़मीन उसी काश्तकार की हो जाती जो उस पर उपर्युक्त विधि से ३५ वर्ष तक काश्तकारी करता रहा हो। पर १८९७ सन् ईसवी में नये क़ानून बनाये गये, जिनके अनुसार पट्टेदार को पट्टा पूरा होने पर केवल मौरूसी हक़ मिलता है। ये नियम उस ज़मीन के लिए लागू नहीं होते जहाँ आबादी बस जाने की संभावना हो।

नहर-उपनिवेशों के काश्तकारी के अधिकार—पंजाब के नहर-उपनिवेशों में क़रीब क़रीब नये प्रकार के काश्तकारी के अधिकार और नये प्रकार के गाँव बसाये गये हैं। सिंध नद (मुलतान)

और सोहाग परगना (मान्ट गोमरी) के पहले के किसानों को जो पहले पट्टा दिया गया था उन पट्टेदारों को इस बात का अधिकार था कि यदि वे चाहें तो एक हल्के दाम में उस ज़मीन पर मौरूसी हक़ ख़रीद लें। १८९० में जब ज़मीन को निकाल देने के हक़ का दुरुपयोग होने लगा तो सरकार केवल उसी प्रकार का मौरूसी हक़ देने लगी जिससे वे अपने हक़ दूसरों को न दे सकते थे। चिनाव के उपनिवेश में अन्त में इस्तमरारी काश्तकारी ही स्थापित हो गई। अदालती डिक्री पर काश्तकारों के हक़ बैय नहीं किये जा सकते और फ़ायनेनशल कमिश्नर की आज्ञा बिना उनके हक़ों का बैयनामा, हिबानामा या रेहन नहीं हो सकता। दक्षिण चिनाब-नहर-उपनिवेशों में काश्तकारी के अधिकार बीस बीस वर्ष के लिए दिये जाते हैं, और इसके बाद पट्टा देने की तारीख़ के पाँचवें वर्ष बाद मौरूसी हक़ दिया जाता है।

मध्य-प्रदेश में काश्तकारी क़ानून—बरार को छोड़ कर सारे मध्य-प्रदेश में ज़मींदारी या मालगुज़ारी प्रथा है। यहाँ भी मालगुज़ारी वसूल करने का एक अदत एक गाँव है। यहाँ के मालगुज़ारों को मालगुज़ार कहते हैं। मालगुज़ारों के अधिकार आगरा प्रान्त के ज़मींदारों के बराबर होते हैं। पर मध्य-प्रदेश के मालगुज़ारों का उनके किसानों पर अधिकार आगरा प्रान्त के ज़मींदारों की अपेक्षा कम होता है। यहाँ के ख़ास प्रकार के किसानों (Privileged classes) की बेदख़ली किसी ख़ास क़ानूनी कारण से अदालत की डिक्री पर हो सकती है। मालगुज़ारों को काश्तकारों पर लगान बढ़ाने का अधिकार बहुत कम होता है क्योंकि लगान बन्दोबस्त अफ़सरों द्वारा ही नियत किया जाता है, और जो कुछ किसी तरह से बढ़ाया भी जाता है वह कुछ नियमित अवधि के बाद ही बढ़ाया जा सकता है। मध्य-प्रदेश में बीस बीस वर्ष के लिए बन्दोबस्त किया जाता है। अगर एक गाँव में एक से ज्यादा मालगुज़ार हुये तो उनमें से एक लम्बरदार बना दिया जाता है।

लम्बरदार के अधिकार—(१) अगर गाँव का बटवारा न हुआ हो तो उस गाँव के व्यवहारों के अनुसार लम्बरदार गाँव का प्रबन्ध बाक़ी हिस्सेदारों की तरफ़ से करता है। पर उसे यह अधिकार नहीं होता कि वह और हिस्सेदारों की ज़मीन को हमेशा के लिए किसी को दे दे। वह गाँव के चलन के अनुसार किसी ज़मीन को थोड़े दिनों के लिए किसी किसान को पट्टे पर दे सकता है।

(२) किसानों से लगान वसूल करने का लम्बरदार का अधिकार गाँव के व्यवहार या किसी समझौते पर निर्भर रहता है। यदि उस गाँव में ऐसा व्यवहार या ऐसा समझौता नहीं है तो केवल लम्बरदार बना देने से उसे यह अधिकार नहीं मिलता कि वह सारे गाँव के किसानों से लगान वसूल करे। यह अधिकार उसे न तो उस प्रान्त का काश्तकारी क़ानून देता है और न बन्दोबस्त का क़ानून। जहाँ कहीं लम्बरदार लगान वसूल करता है तो वह इसी लिये करता है कि मालगुज़ारों ने उसे ऐसा करने का हक़ दे दिया है। गाँव का आपस में बटवारा करते समय मालगुज़ार उससे ये हक़ आपस में समझौता कर वापिस ले सकते हैं। आमतौर से किसी एक गाँव में वहाँ के मालगुज़ार के किसान ही खेती करते हैं। वहाँ तीन प्रकार के किसान होते हैं क़तई मौरूसी किसान (absolute occupancy tenants), किसान मौरूसी और ग़ैर मौरूसी किसान। क़तई मौरूसी हक़ पर उत्तराधिकार का हक़ होता है, और माल-गुज़ारों के हक़शफ़ा की शर्त पर दूसरों को बैय किया जा सकता है। मौरूसी हक़ कुछ क़ैद के भीतर उत्तराधिकारियों तक जा सकता है और वह कुछ उत्तराधिकारियों को बैय भी किया जा सकता है। दूसरों के नाम बैय करने के लिए मालगुज़ार की आज्ञा की आवश्य-कता होती है, और बिना इस आज्ञा के वह बैयनामा रद्द किया जा सकता है। अगर मौरूसी काश्तकार किसी बाहरी आदमी को अपनी

ज़मीन बैय कर देना चाहता है तो उसे सिर्फ़ मालगुज़ार ही को मंजूरी लेने के लिए कुछ देना नहीं पड़ता बल्कि साथ ही यदि कोई उत्तराधिकारी हो तो उसकी राय भी लेनी पड़ती है। मौरूसी काश्तकारी को रेहन नहीं किया जा सकता। पर एक साल के लिए पट्टे पर दी जा सकती है।

जब तक क़तई-मौरूसी काश्तकार और मौरूसी काश्तकार मौरूसी ज़मीन का लगान देते रहते हैं और जब तक वे लोग उस ज़मीन को खेती के सिवाय किसी दूसरे काम के लिए नहीं लगाते तब तक वे अपनी ज़मीन से बेदख़ल नहीं किये जा सकते। क़तई मौरूसी काश्तकार का लगान बन्दोबस्त अफ़सर (Settlement officer) द्वारा तय किया जाता है और जब तक कोई ख़ास कारण न हो तब तक लगान बन्दोबस्त की अवधि के भीतर बढ़ाया नहीं जा सकता। मौरूसी काश्तकार का लगान दस वर्ष के बाद बढ़ाया जा सकता है, यदि काश्तकार और ज़मींदार या मालगुज़ार के बीच या मालगुज़ार की अर्ज़ी पेश करने पर काश्तकार और बंदोबस्त अफ़सर के बीच में यह समझौता हो जावे कि उसके हक़ की ज़मीन पर जो लगान लगाया गया था वह उचित लगान से कम है या पिछली बार लगान लगाने के बाद पैदावार का दाम बढ़ गया है या खेती की ज़मीन में कोई स्थाई उन्नति हो गई है। साधारणतया हम यह कह सकते हैं कि मध्य-प्रदेश में मौरूसी काश्तकारों का लगान भी क़तई मौरूसी-काश्तकारों की तरह सिर्फ़ बंदोबस्त के समय में ही बढ़ाया जाता है।

जिस ज़मीन में मालगुज़ार ख़ुद खेती करता है वह उसकी निजी ज़मीन कहलाती है। निजी ज़मीन दो प्रकार की होती है—सीर और ख़ुदकाश्त। लगातार किसी ज़मीन पर १२ वर्ष तक खेती करते रहने से वह सीर हो जाती है। सीर की ज़मीन ग़ैर-मौरूसी काश्तकार को पट्टे पर दी जा सकती है। पर इसलिये कि इस प्रकार के किसान

बहुत से न होने पावें, यह नियम बना दिया गया है कि बीहड़ और परती छोड़कर गाँव की सारी ज़मीन की एक चौथाई से ज्यादा सीर नहीं हो सकती। ख़ुदकाश्त, जब तक कि मालगुज़ार को उसमें सीर का हक़ न मिल जावे तब तक, एक साल के लिए भी पट्टे पर नहीं दी जा सकती। औसत दर्जे के गाँव में सीर व ख़ुदकाश्त दोनों प्रकार की ज़मीन पाई जाती है। यद्यपि मालगुज़ार गाँव का मालिक होता है, पर साथ ही किसी किसी गाँव में कुछ ऐसे स्वतंत्र काश्तकार होते हैं जो मालगुज़ार को सिवाय सरकारी मालगुज़ारी के और कुछ नहीं देते। इन लोगों को मलिक मक़बूज़ा कहते हैं। मालगुज़ार के काश्तकारों का लगान लगाते समय अफ़सर बंदोबस्त मलिक मक़बूज़ा का भी लगान निश्चय करते हैं। मलिक मक़बूज़ा का लगान भी मालगुज़ार वसूल करता है और उसकी इस मिहनत के लिए उस लगान का कुछ हिस्सा उसे मिल जाता है। मलिक मक़बूज़ा के बचे हुये लगान को मालगुज़ार अदालत दीवानी के ज़रिये या मध्य प्रदेश के क़ानून लगान के दफ़ा १५७ के अनुसार डिपुटी कमिश्नर के ज़रिये वसूल कर सकता है।

मद्रास और बम्बई प्रान्त में रैय्यतवारी प्रथा

दोनों प्रान्तों की कुछ समानताएँ—मद्रास के उत्तर भाग अर्थात् उत्तरी सरकार में इस्तमरारी बन्दोबस्त पाया जाता है और यहाँ की ज़मींदारी और काश्तकारी प्रथा वैसी ही हैं जैसी कि बंगाल में। बाक़ी हिस्सों में रैय्यतवारी प्रथा चालू है। सरकार अपनी मालगुज़ारी वसूल करने के लिए किसी ज़मींदार के बदले सीधे किसानों से संबंध रखती है। कुछ अंतर के साथ यही प्रथा सारे बंबई प्रांत, सिंध और बरार में पाई जाती है। रैय्यतवारी प्रथा के अनुसार सरकार ज़मींदारों से मालगुज़ारी तय नहीं

करती और न मालगुज़ारी नियत करने का परिमाण एक गाँव या मोहाल होता है। लगान सीधा काश्तकारों से तय किया जाता है और प्रत्येक किसान जितनी ज़मीन पर खेती करता है उतने ही का लगान देता है। काश्तकारों का लगान तीस वर्षों के लिए नियत होता है। जब तक किसान अपनी ज़मीन का लगान देता रहता है तब तक ज़मीन उसकी बनी रहती है और उसमें कुछ अंतर नहीं आने पाता। यदि किसान चाहे तो ख़ुद अपनी ज़मीन का कुछ हिस्सा छोड़ सकता है या अपनी ज़मीन कुछ और बढ़ा सकता है। फिर जितनी उसके पास रहेगी उतनी ही का लगान उसे देना पड़ेगा। लगान देने की ज़िम्मेदारी व्यक्ति गत होती है। काश्तकार का उस ज़मीन पर पूरा मालिकाना अधिकार होता है। उसकी ज़मीन रेहन या बैय की जा सकती है और उस ज़मीन पर उत्तराधिकारियों का भी हक़ होता है। उसकी ज़मीन पर उसका हक़ ठीक दूसरे प्रांतों के ज़मींदारों की तरह होता है।

मद्रास की कुछ विशेषताएँ

(१) **स्थायी बे-लगान के किसान**—इस प्रकार के किसान सरकार को कुछ लगान नहीं देते।

(२) **इनामदार**—इन किसानों का उनकी ज़मीन पर मालिकाना हक़ होता है और वे लोग सरकार को एक प्रकार का नज़राना देते हैं। उनका यह लगान (नज़राना) न बढ़ाया जाता है और न घटाया जाता है।

(३) **रैय्यतवारी काश्तकार**—मद्रास प्रांत में इसी प्रकार के काश्तकार अधिक हैं। व्यवहार में ये किसान अपने अपने पट्टे की ज़मीन के पूरे ज़िम्मेदार होते हैं। अगर वे अपनी ज़मीन में कुछ उन्नति करते हैं तो उसके लिए उनका लगान नहीं बढ़ाया जाता।

बंबई प्रांत की विशेषताएँ

मद्रास की तरह बंबई में भी मुख्यतः रैय्यतवारी प्रथा है। पर वहाँ कुछ ज़मींदारी गाँव भी हैं और उनके ज़मींदार खोट कहलाते हैं। यहाँ पुराने ज़माने की तरह कुछ किसान रहते हैं जिनके अधिकार अन्य प्रांतों के दख़ीलकार काश्तकार के अधिकारों की तरह सुरक्षित रहते हैं।

बाईसवाँ अध्याय

किसान के भूमि संबंधी क़ानून (२)

पिछले अध्याय में हम भिन्न भिन्न प्रांतों के काश्तकारों के अधिकारों का वर्णन कर चुके हैं। अब हम इस बात की जाँच करेंगे कि भारतवर्ष के काश्तकारी क़ानून सदोष हैं या नहीं। पर इसकी विवेचना करने के पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि यदि ये सदोष हैं तो किस कारण से। कोई प्रथा ज़मींदारों के ख्याल से अच्छी हो सकती है पर वही प्रथा जनता के लिए नुक़सानदेह हो सकती है। जैसे बंगाल का इस्तमरारी बंदोबस्त या कोई प्रथा कुछ समय के लिए व्यक्तिगत काश्तकारों के लिए अच्छी हो सकती है पर अंत में वही प्रथा राष्ट्र के लिए हानिकारक हो सकती है, जैसे कुछ पिछड़े हुए प्रदेशों में किसानों द्वारा ज़मीन के स्वामित्व (peasant proprietor-ship) की प्रथा। इसलिए पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि भारतवर्ष के काश्तकारी क़ानून का हम किस दृष्टिकोण से विचार करेंगे। यहाँ पर हम व्यक्ति विशेष या किसी विशेष संप्रदाय का विचार न न करेंगे। इस विषय की विवेचना हम राष्ट्रीय दृष्टि से ही करेंगे। राष्ट्रीय लाभ पर राष्ट्र की लगभग सभी शाखाओं और उपशाखाओं का लाभ निर्भर रहता है, और काश्तकारी क़ानून के आदर्श नमूनों

का वर्णन करते समय भी हम राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही विचार करेंगे। आदर्श काश्तकारी प्रथा पर विचार करते समय इस बात का पूरापूरा ध्यान रखेंगे कि राष्ट्र के लगभग सभी व्यक्तियों को खेती के काम चलाने में पूरी स्वतंत्रता मिले और अन्य उद्योग धंधों में सफलता प्राप्त करने में वे सहायक हों। कम से कम ऐसा न हो जिससे देश के और कारबार में अड़चन पड़े।

फिर काश्तकारी क़ानून में किसी भी प्रकार का सुधार करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किसी मनुष्य को लाचार होकर कोई उद्यम ग्रहण न करना पड़े। जैसी जिसकी रुचि और योग्यता हो उसी के अनुसार वह उद्यम ग्रहण करे। वर्त्तमान काश्तकारी क़ानून में जब हिन्दुओं और मुसलमानों के उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार किसी काश्तकार या ज़मींदार के मर जाने पर उसकी ज़मींन का बटवारा होता है तो लाचार होकर उसके बाल बच्चों को भी काश्तकारी करनी पड़ती है क्योंकि बटवारे की उपरोक्त विधि से प्रत्येक उत्तराधिकारी को कुछ न कुछ ज़मीन मिल ही जाती है। इस प्रथा से बहुत से ऐसे टुटपुँजिए ज़मींदार पैदा हो जाते हैं, जो अपनी छोटी छोटी ज़मींदारी की थोड़ी थोड़ी आमदनी से अपना पेट नहीं भर सकते, इससे वे पैसा पैदा करने के लिए स्वयं शहर में चले जाते हैं और शहर में रहते हुए यद्यपि अपनी किसानों की उन्नति के लिए कुछ करते-धरते नहीं पर उनसे लगान वसूल करते रहते हैं। फिर पीढ़ी दर पीढ़ी जो मौरूसी काश्तकारी चली आती है उससे कोई बड़ा ताक़तवर किसान नहीं होने पाता जो अच्छी तरह से जूट, कपास, गन्ना जैसी मुख्य मुख्य फ़सल की खेती करके देश की सम्पत्ति को बढ़ावे। इस प्रथा के कारण खेतों की चकबंदी होने में बड़ी बाधा पहुँचती है। पाठकों को याद होगा कि एक क़िस्म के सारे खेतों का एक चक होने से कितना लाभ होता है।

ज़मींदारी प्राँतों के लिए काश्तकारी के आदर्श क़ानून

ऊपर हम हिन्दुस्तान के काश्तकारी क़ानून के एक आध दोषों का वर्णन कर चुके हैं। अब हम वर्तमान दशा में कुछ सुधार का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करेंगे।

आदर्श काश्तकार की कुछ आवश्यक बातें—

(१) किसानों का खेतों पर अरसे तक कब्ज़े का क़ायम रखना (Continuity of possession)—खेती में उच्चश्रेणी की उन्नति करने के लिए यह परमावश्यक है कि एक किसान के पास उसकी ज़मीन लगातार बनी रहे। ऐसा होने से किसान उस ज़मीन की उन्नति के लिए अधिक से अधिक परिश्रम करेगा और पैसा लगावेगा। इससे हम तो यही सिफ़ारिश करेंगे कि एक किसान की ज़मीन उसके पास ज़िंदगी भर रहे। इससे हर काश्तकार को हक़ हीनहयाती (Life tenure) दे दी जावे। क्योंकि ऐसा करने से हमको वे सब फ़ायदे प्राप्त होंगे जो कि दख़ीलकारी प्रथा में हैं, और उस प्रथा की कुछ बुराइयों से बच जावेंगे। वे बुराइयाँ ये हैं—(१) सब लड़कों में बराबर बटवारा होना, (२) काश्तकार को ज़मीन को गिरवीं रख कर क़र्ज़े का मिल जाना। अगर हम मौरूसी काश्तकारी की प्रथा को सब किसानों के लिए चालू करें तो कम से कम पहली बुराई तो तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक हिंदू और मुसलमानों के के उत्तराधिकार संबधी क़ानून न बदलें जावें और यह एक असम्भव बात है। इसलिए हमारी राय में काश्तकारों को हीन-हयाती का हक़ देना ही वाजिब है। इससे जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं बग़ैर किसी झंझट के दख़ीलकारी अधिकार की बुराइयाँ दूर हो जावेंगी और उसके सब फ़ायदे मिल जावेंगे।

इस प्रथा में काश्तकार के लगान को काश्तकारों और ज़मींदारों को छोड़ कर कोई तीसरा पक्ष यानी सरकारी-निश्चय करे तब ही

ठीक होगा। यदि लगान का घटाना बढ़ाना ज़मींदार के ही हाथ में रहा तो काश्तकारों की बढ़ती देख कर ज़मींदार इतना अधिक लगान बढ़ा देगा कि उस किसान को अपनी ज़मीन छोड़ देनी पड़ेगी।

किसान को हक़ हीनहयाती का देना और उसके लगान को बदलने का अख़्तियार किसी बाहरवाले को ही होना--इन दो बातों का परस्पर घनिष्ट संबंध है, और यह हक़ हीनहयाती देते समय ध्यान रखना चाहिये। अगर यह सच है कि जितने ही ज़्यादा समय तक किसान के पास उसकी ज़मीन रहेगी उतना ही अधिक वह उसमें परिश्रम करेगा और रुपया ख़र्च करेगा, तो हमको चाहिये कि हम उसे ज़मीन का एकदम मालिक बनादें। लेकिन हमें एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। वह ऐसी बात है कि जिससे ऊपर के कथन का कुछ काट होता है और जो कि खेती बारी में उन्नति होने के लिए उतनी ही ज़रूरी है जितनी कि पहली बात और वह यह है, कि हर किसान इस बात में स्वतंत्र हो कि जब चाहे तब वह अपने खेतों का रक़बा अपने परिश्रम व आर्थिक शक्ति के हिसाब से घटा-बढ़ा ले। अगर वह ऐसा नहीं कर सकता तो जो ज़मीन उसके परिवार, उसके परिश्रम और उसके मूलधन के अनुसार आर्थिक परिमाण की थी वही दूसरे के लिए जिसका परिवार या मूलधन कम या ज्यादा हो इसके विपरीत हो जावेगी। ऐसा करने के लिए उसपर कोई दबाव न डाला जावे बल्कि उसको हर प्रकार का सुभीता रहे। हाँ, ऐसा करते समय यह अवश्य ध्यान में रहे कि इससे दूसरे काश्तकारों की हानि न होने पावे।

(२) किसान के खेतों का एक चक होना

इस संबंध में हम पिछले अध्यायों में बहुत कुछ कह चुके हैं। यहाँ पर इतना कह देना काफ़ी होगा कि एक ही किसान के सारे खेतों को एक ही चक में रखने के लिए प्रयत्न करना अत्यंत आवश्यक है।

और ऐसा भी क़ानून बनाना चाहिये कि जिससे आयंदा चक-बंदी न टूटे।

(३) ज़मीन एक ही उत्तराधिकारी को मिले

हिंदुओं और मुसलमानों के वर्त्तमान उत्तराधिकार-क़ानून के विपरीत यह नियम बना दिया जावे कि बपौती ज़मीन का सभी भाई बहनों में बटवारा न किया जावे। बल्कि जिसकी रुचि और योग्यता खेती करने की हो उसे ही वह ज़मीन मिला करे। उत्तराधिकार की वर्त्तमान प्रथाओं को बार बार दुहराने की आवश्यकता नहीं है। पर यहाँ इतना कह देना अत्यंत अत्युक्ति न होगी कि यह किसानों की ग़रीबी का एक मुख्य कारण है। यही नहीं बल्कि खेतीबारी का स्थायी मूलधन भी उसी उत्तराधिकारी को मिले जिसको कि वह ज़मीन दी गई हो। बाक़ी सम्पत्ति भाई-बंधुओं में इस प्रकार बाँट दी जावे कि सभी उत्तराधिकारियों को उनके हक़ के अनुसार ही मिले। कोई घाटे में न रहने पावे। फिर यह ज़मीन टुकड़े टुकड़े करके रेहन या बै न की जा सके। जिसको रेहन या बैनामा दिया जावे उसको पूरी ज़मीन दी जावे। जो ख़ुद खेती करना चाहता है और दूसरे को पट्टे पर नहीं देना चाहता, ऐसे आदमी के हाथ रेहन या बैनामा किया जाय।

(४) काश्तकार अपने समय में खेतों में जो उन्नति करे उसपर लगान न बढ़ाया जाय

यह तो हम ऊपर कह ही चुके हैं कि अगर किसानों को हक़ हीनहयाती या दख़ीलकारी दिया जावे तो काश्तकारों के लगान का घटाना-बढ़ाना सरकार को अपने ही हाथ में रखना उचित होगा। अब यहाँ पर यह कह देना चाहिये कि लगान में परिवर्तन तभी किया

जावे जब फिर से बन्दोबस्त किया जाता हो। इस बीच में किसान ने जो उन्नति की हो, उस पर लगान न लगाया जावे। और जब एक बार लगान बढ़ाया जा चुका हो तो फिर कुछ नियत समय के लिए लगान दुबारा न बढ़ाया जावे। लगानबंदी के दो मौक़ों के बीच केवल किसी विशेष कारण से ही परिवर्तन किया जावे जैसे या तो ज़मीन में बहुत ख़राबी आ गई हो जिससे लगान के उस दर में काश्तकार को बहुत घाटा पड़ता हो, या उसमें बहुत उन्नति हो गई हो जिससे काश्तकार कुछ अधिक फ़ायदा उठाता हो।

यहाँ पर अब हम ज़रा इस बात पर विचार करेंगे कि सरकार और काश्तकार के बीच कोई दर्मियानी मालकाना हक़दार (ज़मींदार या मालगुज़ार) क़ायम रखना चाहिए या नहीं। मान लीजिये कि कोई दर्मियानी हक़दार नहीं है। अब यह देखना चाहिये कि ऊपर कहे हुए काश्तकारी क़ानून के सिवा इस अवस्था में कृषि-व्यवसाय में उन्नति के लिए और क्या क्या उपाय करने पड़ेंगे। लगान के स्थायी कर देने से और खेतों की चकबंदी कर देने से यद्यपि इस कार्य में बड़ी सहायता मिलेगी पर इतने से ही सारा काम न बन जावेगा। जब तक कि खेती के और कुछ उन्नतिशील उपाय, विशेषकर कृषि संबंधी नवीन यंत्रों का उपयोग जिनका आविष्कार दिन प्रति दिन होता जा रहा है, और उत्तम प्रकार के बीज, खाद आदि का उन किसानों को भली भाँति ज्ञान न हो जावे तब तक स्थायी लगान और चकबंदी से कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हो सकता। और इन सबके ज्ञान से भी उसे कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हो सकता जब तक उसके पास कृषि-संबंधी उन्नति के तरीक़ों को काम में लाने के लिए पैसा न हो। तब कृषि व्यवसाय में उन्नति करने के लिए सरकार को सबसे पहले कृषक समाज में उक्त विषयक ज्ञान प्रचार करना होगा। फिर चार चार पाँच पाँच गावों के बीच में तथा ज़िले ज़िले और प्रांत प्रांत में प्रयोग-

शालायें खोलनी होंगी जिससे इन उन्नतिशील व्यवहारों का किसानों को वास्तविक ज्ञान हो जावे।

हर खेत में आबपाशी और सिँचाई करने के लिए पानी निकालने की नालियाँ बनवाना अथवा इसी प्रकार की अन्यान्य उन्नति करनी होंगी, जिनके करने की शक्ति धनी किसानों में भी नहीं रहती। इंगलैंड जैसे धनी देश में भी ऐसे काम ज़मींदारों को करने पड़ते हैं। धनी किसान भी ऐसा काम क्यों नहीं कर सकते ? इसके कई कारण हैं। उनमें से एक कारण यहाँ के उत्तराधिकार का वह नियम है जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। अगर भारतवर्ष में ज़मींदारी प्रथा न रही तो यह काम सरकार को करना पड़ेगा। फिर ज़मींदारों के न होने से सरकार को सहयोगी बैंकों की स्थापना करने के लिए कोई विशेष इंतज़ाम करना पड़ेगा, जैसा कि ज़मींदारों का अपने कर्त्तव्यों से विमुख होने के कारण सरकार बहुत कुछ अब भी लाचार होकर कर रही है। अगर ज़मींदारों को अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान होता और वे उसके पालन करने की कोशिश करते तो सरकार को सहयोगी संस्थाओं के चालू करने में इतना प्रयत्न न करना पड़ता और सहयोगी संस्थाएँ आज के दिन विशेषरूप से उन्नतिशील नज़र आतीं।

ऊपर लिखी हुई सब बातों के करने के लिए सरकार को तीन संस्थाएँ खोलनी होंगी—एक स्वच्छता और खेती संबंधी ज्ञान प्रचार करने के लिए, दूसरी तरह तरह की सहयोगी संस्थायें स्थापित करने के लिए और तीसरी प्रयोगशालायें चलाने के लिए। फिर इन तीनों संस्थाओं को चलाने के लिए बहुत से अफ़सर, मुंशी और चपरासी रखने होंगे, जिससे सरकार का ख़र्च बढ़ जावेगा, और साथ ही ये नौकर चाकर उस सचाई और उत्साह के साथ काम न करेंगे जैसा कि उस ज़मीन में मालकाना हक़ रखनेवाला कोई दर्मियानी आदमी करेगा। इन्हीं कारणों से और कुछ अन्य कारणों से जो कि इसके

फलस्वरूप उत्पन्न होंगे, हमारी यह राय है कि एक दर्मियानी हक़दार की आवश्यकता है। अगर लोग यह आपत्ति करें कि इन ज़मींदारों ने अभी तक इस ओर उन्नति क्यों नहीं की तो इसके कई विशेष कारण हैं। एक तो शिक्षा के अभाव से उन्हें अपनी ज़िम्मेदारी का ज्ञान नहीं है और उनके अधिकारों के क़ानून में ही कुछ ऐसे दोष हैं, जिससे वे उन्नति नहीं कर सकते। संभव है कि इन दोनों शिकायतों के दूर हो जाने पर इंगलैंड की तरह यहाँ के ज़मींदार भी उन्नति करने लगें।

कम-ख़र्ची के सिवा ज़मींदारों का किसान और सरकार के बीच में होना इन कामों के लिए अधिक उपयोगी होगा, और ज़मींदार इन कामों को अधिक चाव से करेंगे। चाहे कितना ही बड़ा अफ़सर क्यों न हो पर उसमें ज़मींदार की तरह, जो कि उस ज़मीन को अपना समझता है, इन कामों के करने में उत्साह नहीं हो सकता।

ज़मींदार के अधिकार संबंधी नियमों की आवश्यकताएँ

(१) पास पास मिले हुये कुछ गाँवों पर ज़मींदारों का हक़ हो

जैसे एक किसान के सारे खेतों का एक चक होना लाभदायक है उसी प्रकार ज़मींदारों के सब गाँवों का एक दूसरे के आस-पास रहने से भी वही लाभ होता है। उसकी सारी ज़मींदारी इतनी बड़ी हो जिसका प्रबंध एक ज़मींदार आसानी से कर सके न तो अधिक बड़ी हो और न अधिक छोटी। आम तौर से जिस ज़मींदार के पास बहुत से गाँव होते हैं उसके पास काफ़ी धन भी होता है और उस धन की उपयोगिता एक हद तक औरों की बनिस्बत कम होती है। इसलिए वह अपनी ज़मीन की उन्नति करके अधिक पैदा करने की चेष्टा नहीं

करता। इससे राष्ट्र की हानि होती है। और अगर ज़मींदार शाह-ख़र्च हुआ तो वह किसानों से अधिकाधिक लगान वसूल कर भोग-विलास में नष्ट कर देता है। अगर ज़मींदार समझदार और अपने उत्तरदायित्व का समझने वाला भी हो तो भी वह अपनी ज़मींदारी के सारे कारबार को देख नहीं सकता और उसके लिए गुमाश्ता और कारिंदा रखता है जो उसे मनमाना लूटते हैं और उसके किसानों को भी मनमाना चूस लेते हैं। अगर ज़मींदारों के गाँव अलग अलग तहसीलों और ज़िलों में हुए तब तो उसे और भी अपने गाँवों की निगरानी करने का कम मौक़ा रह जाता है और कारिन्दे लोग और भी अंधेर मचाने लगते हैं। इस बात को, कि ज़मींदार को ज़मीन की उन्नति तथा ग़रीब किसानों की भलाई का कुछ ख़्याल ही नहीं रहता, अगर कोई मनुष्य देखना चाहे तो अवध के किसी तालुक़दारी या आगरे के किसी जमींदारी में जाकर ये सब बाते स्वयं देख ले।

(२) जायदाद केवल एक लड़के को मिलनी चाहिये— जिस लड़के को खेती करने की रुचि हो और जिसे इस विषय में शिक्षा मिल चुकी हो। दूसरे लड़कों में दूसरी संपत्ति का यथाविधि बटवारा कर देना चाहिए। ज़मींदारी बै की जा सके, रेहन या हिबा हो सके पर ठेके पर कभी न दी जा सके और न टुकड़े टुकड़े करके बै ही की जा सके।

(३) ज़मींदार के अधिकार—

ज़मींदारों का उसके किसानों के ऊपर कुछ न कुछ अधिकार अवश्य रहे, पर सोलह आने न रहना चाहिए जिससे कि काश्तकारों के ऊपर अत्याचार न कर सकें। अगर उन्होंने ज़मीन में कुछ उन्नति की है तो किसान से तै करके उसका कुछ लगान अवश्य बढ़ा दें। अगर आपस में तै न हो सके तो सरकार से तै करा लेवें। पर इसके लिए कोई ख़र्चीला

उपाय न हो और न स्टाम्प वग़ैरह का झगड़ा रहे। क्योंकि मुक़दमे बाज़ी से ग़रीब किसान की ग़रीबी और बढ़ती जाती है। लगान बढ़ाने के सिवा ज़मींदार को कुछ विशेष अधिकार भी दिए जायँ जिससे वह गाँव के छोटे-मोटे झगड़े का निपटारा स्वयं कर सके।

काश्तकारों के लगान को ऊपर कही हुई अवस्थाओं में जब कभी बढ़ाना हो तब केवल गाँव के पटवारी और अपने हलक़े के क़ानूनगो से पूछ-ताछ करके उसका मसविदा तैयार करे फिर वह मसविदा तहसीलदार के पास मंजूरी के लिए भेजा जावे। पर मंजूरी देने के पहले तहसीलदार उस काश्तकार से पूछ कर अपनी मंजूरी दे। लगान में परिवर्तन करने के दो मौक़ों में भिन्न भिन्न कृषि व्यवस्था के अनुसार भिन्न भिन्न समयों का अन्तर हो। बहुधा बारह से चौदह वर्ष का अन्तर होना चाहिए। इसके तिगुने चौगुने समय के बाद बन्दोबस्त किया जावे। मालगुज़ारी में किसी प्रकार की दुबिधा न हो और माल गुज़ारी नियत करने में अधिक समय न लगा करे।

(४) ज़मींदार की जवाबदेहियां—एक तरफ़ जमींदार अपनी ज़मीन में समय समय पर लगाए हुए सरकारी मालगुज़ारी का सरकार को देने का ज़िम्मेदार हो, और दूसरी ओर खेतों की उन्नति करने, ग्रामीणों की शिक्षा की निगरानी और सहयोगी बैंक आदि के संचालन का ज़िम्मेदार हो। और जहाँ जहाँ आवश्यकता हो वहाँ वहाँ कुएँ, तालाब, नहर, बांध, पुल, सड़क आदि बनवाना उसी का मुख्य काम हो। उसके अधिकार में जितने गाँव हों उन सब की निगरानी, पंचायत, सफ़ाई, लोगों की तन्दुरुस्ती सब उसे ही देखनी चाहिए। संक्षेप में यह कह देना चाहिए कि वह अपनी ज़मींदारी के सारे ग्राम-वासियों का सहारा और शिक्षक हो।

(५) **आवश्यक शिक्षा**—पर ज़मींदार को सब प्रकार से समझदार और जवाबदेह बनाने के लिए कृषिकला और विज्ञान, रियासत की देख भाल, सहयोगी संस्थाओं का समुचित ज्ञान इत्यादि इत्यादि बातों की शिक्षा अवश्य ही मिलनी चाहिए। उस उद्देश की पूर्ति के लिए कृषि-शिक्षालय की अत्यंत आवश्यकता है। पर अभी जैसे एक एक प्रांत में एक एक शिक्षालय है उसके बदले प्रत्येक ज़िले तथा अन्य सुभीते के स्थानों में जहाँ तहाँ ऐसे विद्यालय बना देने चाहिए।

तेइसवाँ अध्याय

खेती के सहायक तथा खेती पर निर्भर व्यवसाय

भारतवर्ष के जीवन का सच्चा दृश्य कलकत्ता व बंबई जैसे शहरों में नहीं देखा जा सकता। जैसा कि हम कह चुके हैं, हिंदुस्तान के ९० फ़ी सदी लोग गाँवों में रहते हैं व लगभग ७२ फ़ी सदी लोग खेती बारी से अपना जीवन निर्वाह करते हैं। हम यह भी लिख चुके हैं कि प्रत्येक किसान का साल में लगभग चार छः महीना बेकार जाता है। साल के प्रत्येक दिन खेती बारी का काम नहीं रहता। इससे प्रत्येक किसान के पास जितनी परिश्रम-शक्ति रहती है वह सबका सदुपयोग नहीं कर पाता और अपनी थोड़ी सी ज़मीन पर जो कुछ भी परिश्रम करके पैदा करता है उसमें से साहूकार का क़र्ज़ चुका देने, सरकारी लगान देने व गाँव के कुम्हार, धोबी, नाई इत्यादि को दे देने के बाद उसके पास बहुत कम रह जाता है। खेती करने के पहले जो उसकी अवस्था थी वह अवस्था उस ख़र्च के बाद कुछ सुधर नहीं जाती। उलटे बार बार किसी न किसी कारण से अदालत में पहुँचने के कारण बहुधा उसकी लुटिया तक बिक जाती है। इसी से बैल इत्यादि से भी अधिक परिश्रम करने पर भी भारतवर्ष का ग्रामीण समाज या यों कहना चाहिए कि हमारा असली भारतवर्ष ग़रीब है। फिर किसानों का उनकी ज़मीन के साथ जो संबंध होता है उसके कारण ही वे उसे छोड़

कर शहरों में पैसा पैदा करने के लिए नहीं जा सकते। इसी बेकारी ने देश के असली शुभचिंतकों के हाथ पैर जकड़ रक्खे हैं। जिस बृटिश साम्राज्य में सूर्य कभा अस्त नहीं होता, जो संसार के सबसे बड़े पाँच महाराष्ट्र—अर्थात् बृटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली और जापान में से एक है, और जो स्वतंत्र राष्ट्र कहलाता है, वहाँ के सदस्य संसार के कोने कोने में जीविका निर्वाह के लिए पहुँच कर वहां के आदिम निवासियों पर आधिपत्य जमाए हुए हैं। ऐसे बृटिश साम्राज्य में जिसका पाया गत योरोपीय महायुद्ध भी नहीं हिला सका था वहाँ भी बेकारी की समस्या है.और वहां की सरकार बृटिश जाति के लोगों की बेकारी दूर करने के लिए रूस से संबंध क़ायम करती है। क्योंकि रूस में व्यापार का बड़ा भारी केंद्र है। वहाँ के बेकार देहातियों को भारतवर्ष की फ़ौज में भारतवर्ष की राष्ट्रीय सम्मति के विपरीत भारतीय सिपाही से पँचगुना वेतन देकर ज़बर्दस्ती भरती किया करती है और वहाँ की बेकारी को दूर करने के लिए वहाँ के लोग भारतवर्ष में तरह तरह के कमीशनों के मेम्बर बना बना कर भेजे जाते हैं जिससे भारतवर्ष का लाखों रुपया बर्बाद होने के सिवा कोई ख़ास फ़ायदा नहीं होता। फिर भारतवर्ष जैसे परतंत्र देश की क्या कहें, जो केवल परतंत्र ही नहीं पर जहाँ का कला-कौशल विदेशी सरकार की केवल बेपरवाही से ही विदेशी प्रतिद्वंदियों द्वारा नष्ट हो चुका है। यहाँ के निवासी अपने ही देश की फ़ौज के लायक़ नहीं समझे जाते हैं। इनके पास जीवन निर्वाह के अन्य समुचित साधन भी नहीं हैं, और न इनकी उचित शिक्षा का प्रबंध ही है, जिससे वे अपनी समुचित उन्नति कर सकें। यहाँ के लिए तो बेकारी की समस्या दिन प्रति दिन उग्ररूप धारण कर रही है। इस लिए वर्तमान दशा को सुधारने के लिए केवल एक ही उपाय है। वह यह कि कुछ ऐसे रोज़गार क़ायम किए जावें जिन्हें किसान अपने बेकार समय में घर बैठे कर सके।

बहुधा लोगों की यह राय है कि खेती के रक़बे को क्यों न बढ़ाया जावे ? हमारा उत्तर यह है कि अवश्य बढ़ाया जावे। जहाँ जहाँ खेती के लिए जितनी ज़मीन और मिल सके उतनी ज़रूर खेती के काम में लाई जावे। इससे कुछ लाभ अवश्य ही होगा। पर हमारे आलोचकों को को दो बातें अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिए। एक तो यह कि इस प्रकार ज़मीन बढ़ाने की संभावना प्रत्येक स्थान में नहीं है। वह जहाँ कहीं बढ़ाई जा सकती है वहाँ भी एक हद से आगे नहीं बढ़ाई जा सकती। दूसरे यह कि खेती के रक़बे को बढ़ाने से प्रत्येक किसान का रक़बा तो बढ़ ही जावेगा पर इससे उनकी दर्मियानी बेकारी की समस्या पूरी तौर पर हल न हो जावेगी। पर खेती एक ऐसा उद्यम है जिसमें साल के ३६५ दिन काम नहीं हो सकता। शायद यह कहा जावे कि किसान अपने बड़े रक़बे पर इस तरीक़े से बोए कि साल के बारहो महीने उसमें काम रहे। पर कठिनता इस बात की है कि फ़सल भी तो दो ही हैं। फिर यह भी तो है कि किसान की बेकारी के कुल दिन एक साथ ही नहीं उत्पन्न होते पर साल भर में बिखरे हुए रहते हैं। इससे उस बटे हुए रक़बे में एक दिन या दो दिन, एक सप्ताह या दो सप्ताह भला क्या खेती कर लेगा।

इससे भारतवासियों की बेकारी दूर करने के लिए गाँवों में कुछ ऐसे उद्योग धंधे शुरू किए जावें जो या तो कृषिकर्म में सहायक हों या जो कृषि कर्म पर निर्भर हों। इससे न केवल उनकी बेकारी ही दूर होगी पर साथही साथ उनके कृषिकर्म में सहायता भी मिलेगी।

पर किसी भी सहायक उद्योग धंधे के क़ायम करने के पहले निम्न-लिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए। वे धंधे ऐसे न हों जिन्हें बीच बीच में छोड़ते रहने से उनकी हानि हो या उनमें लगा हुआ मूलधन व्यर्थ ही जकड़ा हुआ पड़ा रहे, जैसे कपड़ा बनाने के कारख़ाने इत्यादि। वे मौक़े मौक़े पर चालू रखने लायक़ हों जैसे, चर्खे इत्यादि।

फिर वे धंधे ऐसे न हों जिनको चलाने के लिए किसी विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता हो। जिन किसानों को साधारण शिक्षा ही दुर्लभ है उन्हें भला कहाँ से किसी विशेष प्रकार की शिक्षा मिल सकती है। वे अपनी खेती छोड़कर कब उस शिक्षा को ग्रहण करने जावेंगे। फिर उद्योग धंधा तो ऐसा हो जिसे स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी कर सकें, और जिसमें मूल धन अधिक न लगे। बिचारे किसानों के पास अगर मूल धन ही होता तो क्या वे अपनी कृषि दशा न सुधार सकते थे? फिर उनके लिए यह रोना ही क्यों होता; और असल में ग़रीबी दूर करने के लिए ही बेकारी को दूर करने की समस्या है।

वे उद्योग धंधे भी ऐसे हों जिनकी पैदावार किसानों की खेती के काम आसके या गाँव की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हो या जो सर्व ग्राह्य वस्तु हो। गाँव में हेज़लीन स्नो, मुँह में व दाँत में लगाने के पाउडर इत्यादि बनाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनकी खपत वहाँ असंभव है। फिर यह बात भी ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है कि ग्रामवासियों के लिए एक ही उद्योग धंधा नहीं बताया जा सकता। गाँव में ऐसे दो चार धंधे चला दिये जावें जिसे प्रत्येक आदमी अपनी अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार कर सके। उनके बेकार समय का कई प्रकार से सदुपयोग हो सकता है। आर्थिक दृष्टि से किसान को उसी उपाय का अवलंबन करना चाहिये जिससे उसे अधिक से अधिक लाभ हो सके। इसके लिए कोई सार्वजनिक सिद्धांत नहीं बताया जा सकता जिसके अनुकरण करने से सभी लोगों के बेकार समय का एकसा सदुपयोग हो सके। यह तो देश काल और अवस्था पर निर्भर है। कौन मनुष्य किस उद्योग धंधे का अवलंबन करे यह निश्चय करने के पहले बहुत सी बातों पर विचार करना होगा। जैसे उसके गाँव की अवस्था—उसके पास नदी, पहाड़, जंगल,

खान वग़ैरह हैं या नहीं, उसकी शिक्षा, उसका सामाजिक जीवन-अमुक काम करने से उसे जाति दंड का भागी तो न होना पड़ेगा, उसके घर की अवस्था, उसके घर में कितने स्त्री-पुरुष हैं व कौन कौन किस काम के लायक़ हैं, इत्यादि।

किसानों के बेकार समय के लिए दो प्रकार के काम चुने जा सकते हैं। एक तो वे जो खेती के लिए सहायक हों, दूसरे वे जिनका संबंध खेती से थोड़ा बहुत हो या न भी हो पर वे ग्राम्य जीवन के लिए उपयोगी हों।

पहली प्रकार का काम है, गाय, भैंस पालकर दूध, दही इत्यादि का रोज़गार करना। गाय भैंस पालने से केवल दूध, घी, दही का ही व्यापार नहीं होता पर साथ ही साथ गाय भैंस के बच्चे खेती के काम में आते हैं। गाय का गोबर और मूत्र खाद के काम आता है।

दूसरे प्रकार के काम हैं तरकारी, भाजी या फल फूल पैदा करना, बेत, बाँस या सरकंडे से मेज़, कुर्सी, टोकरी, मोढ़ा, चिक़ आदि बनाना, सन या मूँज से रस्सी बनाना, लकड़ी या मिट्टी से खिलौने बनाना, कपड़े बुनना, मुर्ग़ी पालकर अंडे का रोज़गार करना, ताड़ या खजूर के पत्ते से पंखे बनाना इत्यादि।

बंबई के कोआपरेटिव सोसायटी के भूतपूर्व रजिस्ट्रार मिस्टर यु० बैंक (Mr. Ewe Bank) ने यह पता लगाया है कि भारतवर्ष में एक करोड़ सत्तर लाख आदमी छोटे छोटे कारखानों में काम करते हैं। यह सच है कि देश में बहुत से कला-कौशलों में कारीगरों की वह पुरानी निपुणता नहीं रही; और उनकी कार्य-प्रणाली तथा उनके औज़ार बहुत मामूली हो गये हैं। पर मनुष्य संख्या के बढ़ने के कारण गाँव में ऐसे बहुत से छोटे मोटे धंधे बढ़ रहे हैं जिनमें विशेष कला कौशल व निपुणता की आवश्यकता नहीं रहती और उन उद्योग धंधों को थोड़े से ही परिश्रम से सीखा जा सकता है। इन धंधों को करने

के लिए कच्चा सामान (Raw material) वहीं गाँवों में मिल जाता है। जर्मनी के गृह उद्योग धंधों (Cottage industries) में वहाँ की जनता का ⅖ भाग लगा हुआ है और उन धंधों की संख्या वहाँ के कुल धंधों के हिसाब से ९० फ़ी सदी है। इसी प्रकार डेनमार्क के ८० फ़ी सदी कारख़ाने ऐसे छोटे छोटे हैं जिनमें पाँच या पाँच से भी कम लोग काम करते हैं। भारतवर्ष के बहुधा गृह-उद्योग धंधों का नाश तो इसी लिए हो जाता है क्योंकि उनके चलाने के लिए सुभीते से मूलधन नहीं मिलता। भारतवर्ष के कारीगर ग़रीबी के कारण एजंटों व विज्ञापनों के न चला सकने से केवल अपनी उपज बेंचने में ही असमर्थ नहीं हैं पर साथ ही अपनी उपज के लिए वे अच्छी सामग्री व अच्छे औज़ार का उपयोग भी नहीं कर पाते जिससे उनकी उपज भी ऊँचे दर्जे की नहीं होती। बहुत से कारीगर महाजनों के क़र्ज़दार रहते हैं और अपने अपने महाजनों के कहने के अनुसार उनके लिए वस्तु उत्पन्न करने में अपना जीवन बिता देते हैं। महाजनों को कभी भी यह शौक़ नहीं होता कि उनके देश में अच्छी अच्छी व सुंदर सुंदर वस्तुएँ बनें। वे लोग अपना तुरंत का फ़ायदा देखते हैं और काम चलाने लायक़ सस्ता व सादा माल ही बनवाना पसंद करते हैं।

गृह-उद्योग के लिए क़र्ज़ व सहयोगी संस्थाओं के सुभीते

यूरोप के महाद्वीप में वहाँ के भिन्न भिन्न देश की सरकारें कारीगरों को यंत्र आदि उधार देकर उनके कला कौशल को बढ़ाती रहती हैं। हंगरी देश की सरकार ने सन् १८९९ और १९०९ ईसवी के बीच १९२२ कारीगरों को लगभग ३७,६२,५६७ क्राउन अथवा १,३६,३९,-२७३ रुपयों की मशीन की सहायता दी थी। इस प्रकार मशीन और रुपये उधार देकर पाश्चात्य देशों की सरकार कारीगरों की सहायता तो करती ही है, इसके सिवा सहयोगी बैंक इत्यादि खोलकर भी उनकी कमी को दूर करती है। भारतवर्ष के कई स्थानों में कारीगरों की एक

प्रकार की सहयोगी संस्थाएँ खुल चुकी हैं जिनकी आर्थिक व्यवस्था करने के लिए कई व्यवसायिक संघ खुल चुके हैं। इन संस्थाओं से कारीगरों को काफ़ी फ़ायदा हो रहा है। पर व्यवसायिक संघों के नियमों को कुछ नम्र और सर्वग्राह्य होना चाहिए जिससे वे भिन्न भिन्न कला-कौशल की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में लागू हों। इन संस्थाओं से कारीगरों को बीजक या मज़दूरी चिट्ठी पर उधार मिल जाना चाहिए अर्थात् कारीगर अपनी चीज़ें बनाकर बेचनेवाली सहयोगी संस्था को दे देता है और संस्था उसको चिट्ठी देती है जिसमें कि उसके माल का पूरा विवरण और दाम लिखा रहता है। कारीगर को इस चिट्ठी की अमानत पर बैंकों से रुपया मिल जाता है। स्विटज़र लैण्ड के बैंक वहाँ के कारीगरों को ककून (कीड़ों द्वारा बनाया हुआ रेशमी अण्डे) की अमानत पर रुपया उधार देते हैं। कर्ज़दार से यह शर्त करा लेते हैं कि जब तक वह बैंक का कर्ज़ न चुका देगा तब तक वह अपना माल बाहर नहीं बेंच सकेगा। इसी प्रकार ढाका, मुर्शिदाबाद, मथुरा, बनारस तथा और केंद्रों के जुलाहों के लिए तरह तरह से सुभीता कर देने की आवश्यकता है। जुलाहों को इस बात की शिक्षा दी जानी चाहिये कि वे अपने कपास व रेशम के तार अपनी सहयोगी संस्थाओं से ख़रीदें। उन लोगों को कच्चा माल या उत्तम प्रकार के चरखे व करघे ख़रीदने के लिए रुपये उधार दिये जाने चाहिये व उन्हें यह सिखाना चाहिये कि वे अपना माल अपनी सहयोगी संस्थाओं के हाथ ही बेंचा करें, जो उन्हें इतनी सहायता दे रही है। इसी प्रकार रंगरेज़, चमार, बढ़ई, लोहार, सुनार, कसैर, ठठेर आदि अमीर या ग़रीब सभी कारीगरों को भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न सहयोगी संस्थाएं बना देनी चाहिये। ब्रह्मदेश में सहयोगी प्रथाओं द्वारा सहायता करने के लिए कपड़े बुनने, बर्तन बनाने और लाख की पालिश करने के काम चुने गये हैं व

उनके लिए कई सहयोगी संस्थाएँ भी स्थापित की गई हैं। उड़ीसा के वैद्यराज पुर में काँसे के बर्तन बनाने के लिए एक व्यापारी संघ खोला गया है। यूरोप में सहयोगी संस्थाओं के द्वारा जिनके पास ख़ुद की मशीनें, बिजली की रोशनी, व ताक़त (Power) इत्यादि रहती है पैदावार में उन्नति करने, उसमें नये नये आविष्कार करने व हर प्रकार से उन्नति करने के लिए गृह उद्योग कला (Cottage industries) को वही सहायता मिलती है जो किसी बड़े भारी कारख़ाने का प्राप्त हो सकती है। जहाँ कोआपरेटिव सोसायटी या सहयोगी संस्थाएँ आगे नहीं बढ़ती हैं वहाँ कारीगरों और कोआपरेटिव सोसायटी के बीच एक व्यापारी मंडल क़ायम कर देना चाहिये। स्विटजरलैण्ड देश के व्यापार के विषय में, जिसमें देहात के ३४,००० हज़ार मज़दूर काम करते हैं, यह एक बात जानने लायक़ है कि उन्हें क़ीमती औज़ार उसी प्रकार के व्यापारी मंडल से उधार मिलते हैं जिनसे वहाँ बहुत लाभ हो रहा है।

गृह उद्योग धंधे या कला (Cottage industries) का संगठन

गृह उद्योग कला में व्यापारी मंडल के न होने से बहुत बाधा पहुँचती है। बिखरे हुये व असंगठित गृह उद्योग कला में महाजनों द्वारा लूट मची रहती है। जर्मनी के छोटे छोटे रोज़गारियों के समुदाय एक में मिलकर कच्चा माल ख़रीदते हैं, एक में मिलकर मशीनों को बर्तते हैं और एक साथ मिलकर अपनी उपज को बेचते हैं। जो कुछ पैदा होता है वह व्यक्ति गत कारीगरों की सम्पत्ति होती है। इसी प्रकार भारतवर्ष में कुछ उन्नति ज़रूर ही हो रही है। मैसूर सरकार ने गृह उद्योग कला द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया है। प्रत्येक प्रांत में व्यापार के बड़े बड़े केंद्र व गोदाम खोले जा चुके हैं जैसे यू० पी० आर्ट्स एण्ड

क्रैफ्टस इम्पोरियम (संयुक्त प्रांत का कला कौशल भवन) लखनऊ, और पञ्जाब आर्ट्स एण्ड क्रैफ्टस इम्पोरियम, लाहोर। पर इसमें भी अधिक की आवश्यकता है। प्रत्येक प्रांत में अच्छे अच्छे नमूने, अच्छे अच्छे यंत्र, व्यापार कला आदि के प्रचार व विज्ञापन के लिए केन्द्र खोलने चाहिये। जर्मनी में सरकार की सहायता से कई उद्योग धंधे खड़े हो गये हैं जैसे घड़ी बनाना, पेंसिल बनाना, हाथी दाँत, सीप, व कछुवे की खोपड़ी आदि के व्यापार। भारतवर्ष में भी व्यापार की ओर यदि सरकार अग्रसर हो तो देश के मुख्य मुख्य उद्योग धंधों के सिवा प्राचीन काल के और भी बहुत से उद्योग धंधे चलने लग जावें और किसानों की बेकारी दूर हो जावे जिससे देश एक बार फिर धन धान्य से परिपूर्ण हो जावेगा। खिलौने बनाना, काग़ज़ के फल-फूल बनाना, दफ़्ती के डब्बे व संदूक़ बनाना, घास की चटाई व फ़र्श बनाना, गोटे किनारी बनाना तथा अन्यान्य प्रकार के कलाबत्तू के काम संभव हैं। स्थान व अवस्था भेद के अनुसार ऊपर लिखे हुये कामों के सिवा अन्यान्य उद्योग-धंधे भी खेती के साथ गाँवों में चलाये जा सकते हैं।

सरकार को लोगों में भिन्न भिन्न प्रकार के कला कौशल की शिक्षा प्रदान करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार की शिक्षा की पद्धति इस तरह कर दी जावे कि विद्यार्थी स्कूल से निकलते ही उत्तम श्रेणी की वस्तुएँ बना सकें। इन स्कूलों को पड़ोस के ऐसे स्कूलों से भी संबंध बनाये रखना चाहिए जिससे कि वे एक दूसरे की निपुणता को सीखते रहें।

चौबीसवाँ अध्याय

ग्राम्य जीवन का पुनरुद्धार-विषय का दिग्दर्शन

ज़रा ध्यान देने से मालूम होगा कि हिंदुस्तान की ग़रीबी के जितने कारण हैं उन सब कारणों का एक चक्र सा बन गया है। यह चक्र सदा ग़रीब भारतवासियों के गले पर चलता चला आता है जिससे कटते-कटते आज वे अत्यंत ही हीन दशा को प्राप्त हो गये हैं। एक विपत्ति किसी दूसरी विपत्ति का कारण है तथा उस विपत्ति का कारण कोई और विपत्ति है। इस प्रकार एक दूसरे से कारण-कार्य का कुछ ऐसा संबंध हो गया है कि यह निश्चय कर लेना आसान काम नहीं है कि उनकी ग़रीबी का सर्व प्रथम कारण कौन सा है। किन्तु कदाचित् मूलकारण सर्वसाधारण की अशिक्षा है। (शिक्षा का यहाँ बहुत विस्तृत अर्थ लगाना होगा)। अशिक्षा से लोगों के रहन-सहन का दर्जा बहुत घट जाता है। नीचे दर्जे के रहन-सहन से संतान और वस्तु-उत्पादन क्रियाओं में बहुत लापरवाही आ जाती है। इससे मनुष्य तो बढ़ जाते हैं पर जीवन-निर्वाह की सामग्रियाँ बहुत कम हो जाती हैं। जीवन-निर्वाह की सामग्री की कमी से यात्रा व समुचित शिक्षा के साधन नहीं प्राप्त होते। इस प्रकार दुर्भाग्य का यह कुचक्र सदैव चलता रहता है।

भारतवर्ष में ग़रीबी का सबसे मुख्य कारण सार्वजनिक शिक्षा

का अभाव है। शिक्षा का अर्थ यहाँ केवल अक्षर ज्ञान से नहीं है जिससे केवल पढ़ना व लिखना आ जाता है। पर उसका मतलब उस सार्वजनिक शिक्षा व अभ्यास से है जिससे मनुष्य को मनुष्यों व वस्तुओं के सार-तत्त्व का ज्ञान हो जाय और जिससे उसकी ज्ञानेन्द्रियों की पूरी तरह से उन्नति हो सके।

शिक्षा के विस्तृत अर्थ को छोड़कर यदि उसका अर्थ यहाँ पर केवल अक्षर ज्ञान ही लगावें तो हमें मालूम हो जावेगा कि इस अक्षर-ज्ञान से हीन होने से बहुत सी बुराइयाँ पैदा होती हैं। बिना लिखना-पढ़ना जाने मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों का विकास नहीं हो सकता। पर इस अभाव का सीधा असर भी मनुष्य पर पड़ता है। जीवन के किसी कार्य-क्षेत्र में देखिये, अशिक्षा उन्नति के मार्ग में बड़ा भारी रोड़ा है। हमारे समाज सुधारक गला फाड़ फाड़कर व्याख्यान देते हैं। लेख लिख लिखकर दस्तों व रीमों काग़ज़ बर्बाद कर देते हैं पर उनकी पुकार को केवल अरण्य-रोदन समझिये। असंख्य भारतवासी जो शहरों से दूर एकान्त ग्राम्य-जीवन व्यतीत कर रहे हैं उनके कानों तक सुधारकों की आवाज़ नहीं पहुँचती क्योंकि वे पढ़ना-लिखना नहीं जानते। उन्हें अक्षर ज्ञान तक नहीं है। विद्वानों द्वारा प्रस्ताव पास होते हैं, व्याख्यान दिये जाते हैं, साहित्य पर साहित्य तैयार होता है। पर हमारे देहाती समाज के लिए, जो कि भारत-वर्ष के असली बाशिन्दे हैं, अन्त में वही कहावत रही कि "भैंस के आगे बीन बजावे भैंस बैठ पगुराय।" मान लीजिए हमारी संस्था द्वारा नियुक्त कृषि विशेषज्ञ ने वर्षों सपरिश्रम अन्वेषण करके कृषि-अवस्था सुधारने के लिए एक बिल्कुल समुचित सिद्धांत निकाला जिससे यथार्थ में बहुत हो सकता है, किन्तु जिनको इन अन्वेषणों, व्याख्यानों, लेखों व सुधारों की आवश्यकता वास्तव में है, उनके अपढ़ होने के कारण ये सब काला अक्षर भैंस बराबर है।

धन्य है हमारे सुधारकों को और धन्य है हमारी उस सरकार को जो भारत को स्वतंत्रता देने के विरुद्ध सदैव इन दरिद्र नारायण की दुहाई देते रहते हैं किन्तु जिनके पढ़ने-लिखने का ऐसा अच्छा प्रबंध है कि आज तक वे पढ़ ही न सके। कृषि संबंधी कमीशन पर लाखों रुपये खर्च करने के बजाय यदि सरकार इसी पैसे को किसानों की ग़रीबी के वास्तविक कारण अशिक्षा को दूर करने में लगाती तो कहीं ज्यादा फ़ायदा होता। पर पराये से अपनी भलाई की आशा करना ही मूर्खता है। राष्ट्रीय सरकार होती तो कुछ हमें शिकायत करने का हक़ भी था। अस्तु भारतवर्ष में सहयोगी संस्था संबंधी वर्तमान साहित्य के पढ़ने से यह मालूम हो जावेगा कि जो लोग इससे संबंध रखते हैं उन लोगों की यही राय है कि निरक्षरता ही सहयोगी भावों की उन्नति करने में बड़ी भारी बाधा है।

जब शिक्षा का विस्तृत अर्थ लगाते हैं तो ऐसी शिक्षा का अभाव तो और भी ग़ज़ब ढा रहा है। इसी अभाव से हमारी जनता के विचार बहुत संकुचित रहते हैं। उनमें सदैव उदासी छाई रहती है व उनके ध्यान में यह कभी भी नहीं आता कि उनकी अवस्था सुधर सकती है। यह सच नहीं कि वे अपनी अवस्था सुधारना नहीं चाहते या यदि उन्हें उच्च दर्जे का जीवन-पथ बताया जावे और उसे पाने की उन्हें संभावना हो तो वे इन्कार कर देंगे। पर यह सच है, कि वे अपनी इस अवस्था को असाध्य समझते हैं और इसीसे उन्हें जो कुछ मिल जाता है उसी पर संतुष्ट रहकर जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। भविष्य में उन्नति की आशा उनके लिए इतनी बार भंग हो चुकी है कि उन्हें अपना भविष्य अंधकारमय दीखता है। इससे अक्षरज्ञान और वास्तविक शिक्षा के बिना भारतीय जीवन का आदर्श नीचे गिर जाता है। इन दोनों का परिणाम हमारे सारे कार्यों पर पड़ता है। यह निर्विवाद है कि रहनसहन के दर्जे से और मनुष्य की

उत्पादक शक्ति से घनिष्ठ संबंध है। एक में अन्तर होने से दूसरे में अवश्य ही अन्तर होता है। जिस मनुष्य की उत्पादक शक्ति कम है उसकी आय भी कम होगी और जिसकी आय कम है उसका रहन-सहन भी हल्का होगा। जिसका रहन-सहन ऊँचे दर्जे का होगा उसमें अधिक उत्पादक शक्ति भी होगी क्योंकि वह अधिक समझदारी के साथ व अधिक समय तक काम कर सकेगा। ऊँचे दर्जे के रहन-सहन वाला मनुष्य सब उत्पादक उपायों का संगठन अच्छी तरह से करेगा जिससे परिश्रम की उत्पादक शक्ति और भी बढ़ जावेगी। इससे आय भी बढ़ जावेगी और आय के बढ़ने से रहन सहन का दर्जा और भी बढ़ जावेगा।

समाज के रहन सहन के दर्जे और उत्पादक शक्ति में जिस प्रकार घनिष्ठ संबंध है उसी प्रकार उसके रहन सहन के दर्जे और संतानोत्पत्ति में भी संबंध है। यहाँ पर भी ऊपर कहे अनुसार एक दूसरे में कारण और कार्य का संबंध है। जिन लोगों का रहन-सहन ऊँचे दर्जे का होता है जब तक उन्हें यह विश्वास न हो जाय कि वे अपनी संतान का उचित पालन पोषण व शिक्षा का प्रबंध कर सकेंगे, ताकि वे आर्थिक दृष्टि से अधिक से अधिक काम करके अपने समुचित आराम के लिए काफ़ी रुपये पैदा कर लेंगे, तब तक वे संतान उत्पन्न करना नहीं चाहते। "समुचित आराम" की व्याख्या भी माता-पिता के रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर रहती है। उनको संतान की अमुक संख्या उत्पन्न करने पर सदैव इन विचारों की लगन लगी रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि अधिक संतान उत्पन्न कर लेने से जो आराम व सुख हमारे पास अभी है उसमें कमी हो जावे या जिसे प्राप्त करने की हमें आशा है उसे प्राप्त न कर सकें। जिस प्रकार रहन सहन का दर्जा उत्पादक शक्ति पर निर्भर रहता है उसी प्रकार संतान-उत्पत्ति का भी रहन सहन पर बड़ा असर पड़ता है। यहाँ पर ध्यान में रखना

चाहिए कि संतान-उत्पत्ति का रहन सहन पर सीधा असर नहीं पड़ता बल्कि पहले इसका असर वस्तु उत्पादन-शक्ति पर पड़ता है और फिर इसी से मनुष्य के रहन सहन पर भी पड़ता है।

हममें हमारी रहन सहन की श्रेणी नीची होने से दोहरी बुराई पैदा होती है। वस्तुओं का उत्पादन कम होता है, असंगठित रहता है, उनकी उन्नति नहीं हो सकती और साथ ही अयोग्य, कम समझ और कमज़ोर लोगों की संख्या बढ़ती जाती है, जिनमें उन्नति करने की न तो आकांक्षा है और न तो साहस ही है।

इस विषय में हम यहाँ पर जनसंख्या और वस्तु उत्पादन की विशेषताओं की कुछ चर्चा कर देना अनुचित नहीं समझते। हिंदुस्तान में लोगों का अकसर कम उम्र में विवाह कर दिया जाता है। इस कुप्रथा को रोकने के लिए श्रीयुत रायसाहब हरविलासजी शारदा के प्रयत्न से सरकार ने जो सन् १९२९ ईसवी में एक बाल-विवाह विरोधक क़ानून बनाया था उसके जारी होने के पहले, अर्थात् पहली अप्रैल सन् १९३० ईसवी के पहले, उस क़ानून से बचने के लिए हिंदू मतानुसार लगन न होने पर भी देवोत्थान के बाद से होली तक हिंदुस्तान में एक साथ ही हज़ारों विवाह हो गए हैं। यहाँ तक कि कलकत्ता, बंबई जैसे बड़े बड़े शहरों में एक एक दिन में विवाहों की संख्या एक हज़ार तक पहुँच गई थी। एक एक दो दो वर्ष के बच्चों का विवाह गोद में लेकर कर दिया गया है। बाल-विवाह के कारण एक दंपति की बहुत संतानें पैदा हो जाती हैं। देखा गया है कि हिंदुस्तान में किसी किसी लड़की के बारह वर्ष की ही उम्र में संतान होने लगती है। इससे संतान दुर्बल पैदा होती है। संतान की यह दुर्बलता प्रत्येक दश वर्ष के बाद बढ़ती जाती है। किसी भी भारतीय परिवार में जाकर देखिए; बाबा तो ६० वर्ष की उम्र में भी काफ़ी मज़बूत मिलेगा, उसका चालीस वर्ष का लड़का

तुलनात्मक दृष्टि से उससे कमज़ोर मिलेगा और नाती का तो बीस वर्ष की उम्र में जो ठीक लड़कपन के दिन हैं चेहरा पीला, आँखों पर चश्मा और गालों में गड्ढे दीख पड़ेंगे। यह सब विचार करने की बातें हैं कि आर्थिक जीवन पर व हिंदुस्तान की ग़रीबी पर इसका क्या असर पड़ता है। इसका प्रकट प्रभाव तो यही पड़ता है कि चूंकि हिंदुस्तानी औसतन शरीर और दिमाग़ से कमज़ोर होते हैं इससे पाश्चात्य देशवासियों की अपेक्षा उनकी वस्तु-उत्पादन शक्ति बहुत क्षीण होती है। फिर चूंकि दूसरे देशों की अपेक्षा औसतन भारतीय मनुष्य का जीवन काल बहुत कम होता है इसमें दूसरे देशों की अपेक्षा उस परिमित समय में परिश्रम करने पर भी देश को बहुत कम लाभ होता है। सुभीते के लिए साधारण सा उदाहरण ले लीजिए। मान लीजिए कि **अ** और **ब** नामक दो देश हैं। **अ** देश में मनुष्य की औसतन उम्र पचास वर्ष की है और **ब** देश में केवल ३५ वर्ष की है। दोनों देशों के मनुष्य २० वर्ष तक शिक्षा पाते हैं। उनमें से प्रत्येक की शिक्षा में तीन तीन हज़ार रुपये लगते हैं। शिक्षा के बाद उनमें से प्रत्येक की आमदनी १००) रुपये मासिक है। अब यही देख लीजिए कि उन दोनों में उत्पादन शक्ति के लिए जो ख़र्च हुआ है उसके अनुसार किस देश के आदमी ने अधिक पैदा किया। **अ** देश के मनुष्य ने सौ रुपये मासिक के हिसाब से बाक़ी के तीस वर्षों में ३६,००० रुपये कमाये और उसी हिसाब से **ब** देश के मनुष्य ने अपने बाक़ी के १५ वर्षों में केवल १८,००० रुपये पैदा किये। हम अब ज़रा यह विचार करें कि इस प्रकार की कमी का राष्ट्रीय जीवन पर क्या असर पड़ता है।

किसी देश की वस्तु-उत्पादन क्रिया पर तीन तरीक़ों से विचार कर सकते हैं—कृषि, उद्योग-धंधा और वाणिज्य व्यवसाय।

(अ) **कृषि**—भारतवर्ष का कृषि कर्म यहाँ की प्राकृतिक, धार्मिक, सामाजिक अवस्थाओं तथा देश में प्रचलित क़ानून पर निर्भर

है। इनमें से प्रत्येक अवस्था का एक दूसरे पर असर पड़ता रहता है। इस बात का ध्यान रखना बहुत ज़रूरी है कि कृषिकर्म पर देश की प्राकृतिक अवस्था के सिवा उपरोक्त अन्य अवस्थाओं का भी असर पड़ता है क्योंकि इसी जानकारी के आधार पर वर्तमान दशा को सुधारने के लिए उपाय किये जा सकते हैं। बहुधा लोगों की तो यह राय है कि इन अवस्थाओं के सुधार करने के लिए एक साथ ही प्रयत्न किये जावें क्योंकि जिन भिन्न भिन्न आर्थिक समस्याओं का असर खेती पर पड़ता है उनमें आपस में घना संबंध है।

अमरीका और फ्रांस की तरह यहाँ की प्राकृतिक अवस्थाएँ आशा-जनक नहीं हैं। यहाँ की ज़मीन में खनिज पदार्थ, ख़ासकर चूना और फ़ास्फेट (Phosphate) बहुत कम हैं जिसका यह परिणाम होता है कि यहाँ के अनाज वज़न में बहुत हल्के होते हैं। फिर चूँकि खेती की सारी ज़मीन तक नदियों की पहुँच नहीं है इससे यहाँ की खेती वर्षा पर बहुत निर्भर रहती है। इसी परवशता के कारण यहाँ बराबर अकाल पड़ा करते हैं जिससे कि यहाँ के लोग प्रारब्ध-वादी हो जाते हैं। इसी प्रारब्ध-वाद के कारण उनके अन्यान्य कामों के सिवा उनकी खेती बारी में बड़ी बाधा पहुँचती है। हिंदुस्तान के काश्तकारी क़ानून साम्यवादात्मक हैं। इसके विषय में पिछले अध्यायों में लिख चुके हैं इससे उन्हें यहाँ पर अधिक दुहराने की आवश्यकता नहीं है। जब तक एक कुटुंब संगठित रहता है तब तक तो सब काम अच्छी तरह से चलता रहता है परंतु परिवार में फूट होते ही जो बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं उन सबों का ज्ञान पाठकों को हो चुका है। जब तक जनसंख्या अधिक नहीं रही तब तक उत्तराधिकार के वर्त्तमान नियमों से कोई अधिक हानि नहीं होती थी पर अब इस बुराई को जहाँ तक हो सके शीघ्र ही नाश कर देने में भलाई है।

विद्वानों का कथन है कि ग़रीबी ग़रीबों को सत्यानाश कर

देती है। इस कथन की सचाई भारतवर्ष के किसानों को देखकर पूरी तौर से ज्ञात होती है। ग़रीबी के कारण वे लोग न तो उच्च-श्रेणी के औज़ार ही ले सकते हैं और न उन्नति शील उपायों को ही काम में ला सकते हैं। सदैव पुराने-पुराने औज़ारों से पुरानी प्रथा के अनुसार काम करते रहने से समय और परिश्रम शक्ति की बहुत हानि होती है।

ग़रीबी के कारण इतना पैसा भी नहीं जुटा पाते कि छप्परदार खलिहान या कोठार बना सकें। फ़सल के बाद सब काम खुली जगह में ही होते हैं जिससे पानी बरस जाने पर सब बना-बनाया काम बिगड़ जाता है। पाश्चात्य देशों में फ़सल काटने के बाद उसे साये में रखते हैं फिर वहीं से बाज़ार के लिए तैयार करते हैं।

हिंदुस्तान के कृषि-कर्म में बहुत से दोष हैं जिनसे खेती की वार्षिक उत्पत्ति में बहुत कमी आ जाती है। स्वर्गीय राय बहादुर गंगाराम के अनुसार इसका प्रधान कारण यह है कि जो ज़मीन जिस फ़सल के लायक़ है वह उसी फ़सल के पैदा करने में विशेषतया नहीं लगाई जाती। बृटिश भारत की कृषि-तालिका के देखने से यह मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों में एक ही रक़बे में भिन्न-भिन्न परिमाण में वही वही अनाज पैदा होता है। ज़मीन की योग्यता का ध्यान न रखकर सब स्थानों में प्रत्येक प्रकार की फ़सल पैदा की जाती है। जब यातायात के सुभीते नहीं थे तब ऐसा करना ठीक भी था। पर अब तो असुविधाएं दूर हो गई हैं अब सब प्रकार की उपज को एक ही स्थान में पैदा करने की प्रथा को दूर कर देना चाहिए। उपज में विशेषता प्राप्त करने से जो लाभ होता है उसके विषय में कुछ अंक देकर हम यह बता देना चाहते हैं कि उपज में इसके बिना कितनी कमी हो जाती है। संयुक्त-प्रांत और बिहार में एक एकड़ ज़मीन में ११½ मन तक गेहूँ पैदा होता

है। पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रांत में ७ मन तक होता है। कपास सिंध में १४ पौण्ड तक तथा ब्रह्मदेश में ७२ पौण्ड तक होता है। यह बहुत ही ख़राब बात है। यदि प्रत्येक प्रांत अपनी अपनी ज़मीन के अनुसार फ़सल पैदा करने लगे तो सारी राष्ट्रीय उपज में बहुत उन्नति हो।

फिर हमारे किसान रबी की फ़सल के बाद ज़मीन को बिना जुताई किये ही छोड़ देते हैं। नतीजा यह होता है कि मई-जून की गरमी से ज़मीन सूख कर बहुत कड़ी हो जाती है जिससे बरसात में पानी उस ज़मीन को पूरी तौर से लाभ नहीं पहुँचा सकता।

संक्षेप में कृषि की ग़रीबी के दो मुख्य कारण हैं। इस किताब के इन तेइसों अध्यायों को पढ़ लेने पर स्वयं पाठक ही यह नतीजा निकाल लेंगे कि हिंदुस्तान की ग़रीबी के मुख्य दो कारण हैं। पहला कारण है अभाव (want) और दूसरा कारण है अपव्यय (waste)। यहाँ निपुण और संगठित आयोजना की कमी है। परिश्रम और मूलधन में संगठन और आर्थिक परिमाण में खेती के रकबे के न होने की कमी है। और दूसरी ओर बर्बादी है। पुराने औज़ार व असंगठित परिश्रम शक्ति के कारण समय की बर्बादी, परिश्रम शक्ति की बर्बादी और इस समय खेती के लिए जो कुछ भी सामग्री मिल सकती है सदुपयोग न करने के कारण, उसकी भी बर्बादी होती है। इन्हीं दो मुख्य दोषों के कारण हमारा देश ग़रीब है और इन्हीं दोषों को दूर करके दूसरे देश धनवान हो गये हैं। इससे गाँवों को फिर से संगठित करते समय इन दोनों दोषों को दूर कर देने की बड़ी आवश्यकता है।

पचीसवाँ अध्याय

ग्राम्य जीवन का पुनरुद्धार—शिक्षा

पिछले अध्याय में भारत की दीन दशा और उसकी कृषि की हीनता की विवेचना कर लेने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँच चुके हैं कि इन सब के दो मुख्य कारण हैं—अभाव और बर्बादी। इन दोनों दोषों को दूर करने के केवल दो मुख्य उपाय हैं—एक तो शिक्षा और दूसरे सहयोगी संस्थाओं का प्रचार। शिक्षा से किसान को कृषि के उन्नतिशील उपायों का तथा कृषि संबंधी अन्यान्य आर्थिक पहलुओं का समुचित ज्ञान हो जावेगा और सहयोगी संस्थाओं से उसकी कमी तो पूरी हो ही जावेगी पर साथ ही उसको फ़िजूल खर्च न करने की आदत पड़ जाने से बर्बादी से भी उसकी बचत हो जावेगी।

सन् १९१९ ई० के सुधार क़ानून के बाद से प्रत्येक प्रांत में शिक्षा की उन्नति होती जा रही है और ग्रामों में प्रारंभिक शिक्षा पर बहुत ज़ोर दिया जा रहा है। यद्यपि गत दस वर्षों में इस विषय में बहुत कुछ उन्नति की गई है पर सच पूछा जावे तो अभी सार्वजनिक शिक्षा की समस्या एक अंशमात्र ही हल हो पाई है। इसका कारण यह नहीं है कि लोगों में विद्या पढ़ने का उत्साह नहीं है। पर असली कारण पैसे की कमी ही है। यह आशा की जाती है कि भविष्य में

इस काम के लिए अधिक पैसा मिल जावेगा और सार्वजनिक शिक्षा की अधिक उन्नति होती जावेगी।

पर हमें ऐसा मालूम होता है, हमारी शिक्षा संबंधी उन्नति के मसविदों में एक बात का ज़रा भी ख्याल नहीं किया गया है। वह यह कि शिक्षा-पद्धति कुछ ऐसी हो जावे कि विद्यार्थी विद्या प्राप्त करके गाँवों से अपना संबंध और सहानुभूति न तोड़ दें। लोगों की यह धारणा बहुत दिनों से चली आरही है कि वर्तमान शिक्षापद्धति बहुत ही अव्यवहारिक है और अभी तक ऐसी कोई भी कोशिश नहीं की गई है जिससे कि शिक्षा समाप्त करने के बाद विद्यार्थी इस लायक़ हो जावे कि आर्थिक-जीवन के किसी भी क्षेत्र—यथा व्यापार, कलाकौशल व्यवसाय कृषि इत्यादि, में बिना किसी कठिनाई के प्रवेश कर सके। उचित शिक्षा का मतलब उस शिक्षा से है जिससे उसके सब अवयव पूर्ण सज्ञान हो जावें, उसमें मनुष्यत्व की पूर्ण मात्रा आ जावे, उसके विचारों में स्वतंत्रता आजावे, सांसारिक विवेचना करने की शक्ति आ जावे और उसे भले और बुरे की विवेचना करने का ज्ञान हो जावे। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में इन शक्तियों के बीज रहते हैं। उन बीजों से अंकुर फूटना, उसमें पल्लव लगकर उसका पूर्ण विकास होना उसकी शिक्षा पर निर्भर रहता है। रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाने के लिए ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता होती है जिससे मनुष्य की सारी योग्यताओं को उत्साह मिले और उनका विकास संपूर्ण रूप से हो जावे। यदि हम मनुष्य जीवन की व्याख्या करें तो उसकी तीन प्रकृतियें निकलती हैं—भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक। भौतिक का अर्थ उसके शरीर तथा उसकी कर्मेन्द्रियों से है। मानसिक का अर्थ उसकी ज्ञानेन्द्रियों तथा मन के द्वारा सांसारिक बातों के जानने की शक्तियों से है। आध्यात्मिक का उसके दिल और दिमाग़ से संबंध है, जिसकी मदद से मनुष्य को संगत और असंगत, भले और बुरे का

ज्ञान होता है तथा उसका सांसारिक वस्तुओं और ईश्वर के साथ क्या संबंध है इसका ज्ञान होता है। मानसिक और आध्यात्मिक विवेक के बीच अंतर निकालना कुछ सरल काम नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक विवेक मनुष्य की मानसिक अवस्था का ही विकास मात्र है, जिसमें मनुष्य की मानसिक वृत्ति ही कार्य करती है। दोनों में अंतर उनके विभिन्न दृष्टिकोण और उनके अंतिम उद्देश्यों में है। प्रत्येक मनुष्य में इन प्रकृतियों की ये सब अवस्थाएँ थोड़ी बहुत वर्तमान रहती हैं। अंतर केवल यही होता है कि किसी में एक प्रकृति कम और दूसरी ज्यादा और किसी में इन तीनों का भली भाँति मेल होता है। यदि इन सर्वव्यापी सामूहिक अवस्थाओं में से किसी मनुष्य में भौतिक प्रकृति का विकास ज्यादा हुआ तो फिर वह मनुष्य पशु तुल्य हुआ। और यदि उसमें केवल अध्यात्मिक प्रकृति का बहुत ज्यादा विकास हुआ तो वह मनुष्यता को छोड़कर अधिकतर देवत्व की ओर झुकने लगता है। इन दो प्रकार के विकासों का चाहे जो कुछ महत्व हो पर चूंकि हम इस मनुष्य समाज में रहते हैं इससे हमको पशुत्व अथवा देवत्व के विकास से उतना संबंध नहीं है। हमको मनुष्यत्व के ही विकास की अधिक आवश्यकता है। और मनुष्यत्व का विकास ऊपर कही हुई तीनों अवस्थाओं के उचित संयोग से ही हो सकता है।

इससे किसी भी देश व किसी भी काल में शिक्षा की पद्धति इस प्रकार हो जिसमें मनुष्यत्व की सभी प्रकृतियों का संयोग हो सके। न तो वह पाश्चात्य देशों की तरह पूर्ण रूप से अर्थवाद (materialism) से भरा हो और न प्राचीन भारत की तरह पूर्ण रूप से अध्यात्मवाद से भरा हो। मनुष्य के शिक्षा-क्रम में पाश्चात्य देशों ने यदि अध्यात्मवाद को स्थान न देकर भूल की है तो हम भारतवासियों ने इससे भी भयंकर भूल की है। क्योंकि हमारी शिक्षा-प्रणाली से न

तो भौतिक जीवन, न मानसिक जीवन और न आध्यात्मिक जीवन ही बनता है। केवल विदेशी भाषा अंग्रेज़ी लिखने-पढ़ने की योग्यता आ जाती है जो सरकार के काम चलाने के लिए अत्यंत आवश्यक है। तब फिर आश्चर्य्य नहीं कि देश के इतने विश्व-विद्यालय और इतने कालेजों के होते हुए भी वास्तविक शिक्षित लोग इतने कम हैं। असली ज्ञान, वास्तविक शिक्षा तथा लाभदायक खोज ये हमारी शिक्षा के विधाताओं के उद्देश नहीं हैं! फिर ये अमूल्य पदार्थ हमे कहां मिलें? कुछ विरले ही चमत्कारिक पुरुष या ऐसे पुरुष जिनमें वंशपरंपरा से अपूर्व ज्योति फैल रही है, आजकल के इस अर्थवाद पूर्ण जीवन में चमक उठते हैं। पर यदि उनके चारों तरफ की अवस्थाएँ उनके अनुकूल होतीं तो उनका यह चमत्कार अवश्य ही अधिकाधिक बढ़ता।

यदि हम हिंदुस्तान में रहन सहन के दर्जे को बढ़ाना चाहते हैं, जो केवल यहाँ की कृषि की उन्नति पर निर्भर है, तो यहाँ की शिक्षापद्धति में अवश्य ही परिवर्तन कर देना चाहिए। उसको अधिक उदार और विस्तृत बना देना पड़ेगा। उसके उद्देश को बदल देना पड़ेगा। उसका यह उद्देश हो जाना चाहिए कि शिक्षा प्राप्त करने से मनुष्य की प्राकृतिक योग्यताएँ ख़ूब विकसित हो जावें! ऐसे बहुत कम लोग हैं जो नितांत जड़ स्वभाव के हों और समाज का उनमें उन्नति करने के लिए प्रयत्न करने पर भी उनकी अवस्था में परिवर्तन न हो सके। आमतौर से प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ योग्यता अवश्य ही होती है जिसका पता लगा-कर उन्नति करने से अवश्य ही उस मनुष्य में यह योग्यता परिपूर्ण हो जाती है। और तब वह अपनी योग्यता के अनुकूल उस काम को भली भांति कर सकता है। इस योग्यता को उस मनुष्य की रुचि कहते हैं।

इस रुचि के विषय में एक और आवश्यक बात है और वह यह

कि एकही रुचि वाले मनुष्यों में उस रुचि के भिन्न भिन्न पहलू पाये जाते हैं और एक एक पहलू एक एक मनुष्य में पुष्ट होता जाता है तथा उसके अनुसार एक मनुष्य उस कार्य के एक विभाग में निपुण होता जाता है। मान लीजिए कि दो विद्यार्थी जो अपने अपने विषय में विद्वान हैं, दोनों को अध्ययन से प्रेम है, पर उनमें से एक तो अर्थशास्त्र का शिक्षक हो जाता है और दूसरा दर्शनशास्त्र का और दोनों अपने अपने काम में पूरे दक्ष हो जाते हैं। एक मनुष्य का एक मार्ग में इस प्रकार की विशेषता का अर्थ यह नहीं है कि यदि किसी कारण से उसे दूसरे विषय की शरण लेनी पड़ती तो वह उसमें बिलकुल असफल हो जाता। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि वह दूसरे विषय में उतनी योग्यता नहीं पा सकता जितनी कि वह अपनी रुचि के अनुकूल विषय में पा सकता था।

अन्यान्य रुचि के तथा उनके विभिन्न पहलुओं के साथ उन पहलुओं की विभिन्न श्रेणियां होती हैं जिनके अनुसार एक ही कार्यक्षेत्र में लगे हुए अनेकानेक लोगों में विभिन्न मात्रा में निपुणता होती है। इससे प्रत्येक शिक्षा पद्धति इस प्रकार की हो जिससे कि मनुष्य की रुचि तथा उस रुचि के विशेष पहलू का पता लग जावे और फिर उस पहलू का उस मनुष्य में जहाँ तक हो सके वहाँ तक विकास हो।

पर किसी भी शिक्षा पद्धति का उद्देश्य मनुष्य की रुचि का पता लगाने और उसका विकास करने से ही पूरा नहीं हो जाता। एक मनुष्य में अथवा एक संप्रदाय के संप्रदाय में काम करने की चाहे पूरी शक्ति हो, जैसा कि भारतवर्ष व यूरोप दोनों स्थानों में बहुधा पाया जाता है, पर सब योग्यताओं का सार मनुष्यत्व यदि किसी मनुष्य में नहीं तो उस मनुष्य को मनुष्य नहीं केवल एक यंत्र समझना चाहिए। फिर मनुष्यों में एक और उच्च विचार—एक सद्गुण

की आवश्यकता होती है जो व्यक्ति गत उन्नति के लिए भले ही जरूरी न हो पर राष्ट्रीय जीवन के लिए उसकी बड़ी भारी आवश्यकता होती है। इस उच्चविचार का नाम स्वदेश प्रेम है। स्वदेश प्रेम व्यक्ति विशेष में दृष्टिकोण विस्तृत, हृदय उदार, सहिष्णुता का विकास और अपने भाइयों के प्रति सहानुभूति पैदा करना है। मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि नागरिक की हैसियत से उसका देश के प्रति क्या कर्त्तव्य है तथा, मनुष्य की हैसियत से उसका अन्तर्राष्ट्रीय समाज में क्या कर्त्तव्य है। उसे अपने अधिकारों और उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान हो जाता है।

इसलिये हमारी शिक्षा पद्धति का दूसरा उद्देश्य यह होना चाहिए कि मनुष्यों में इन सद्गुणों का पूर्ण रूप से विकास हो क्योंकि मनुष्य जीवन के लिए इन गुणों की बड़ी आवश्यकता है।

शिक्षा पद्धति के आदर्श सिद्धांत

किसी भी आदर्श शिक्षा पद्धति का सर्व प्रथम सिद्धांत यह होना चाहिए कि प्रत्येक शिक्षा पद्धति की दो विभिन्न अवस्थाएँ हों। पहली अवस्था में तो विद्यार्थियों की रुचि का पता लग जावे और दूसरी अवस्था में उस रुचि का जहाँ तक हो सके वहाँ तक विकास हो जावे। फिर पहली अवस्था के भी दो भेद करने चाहिए। पहले में तो विद्यार्थी में केवल लिखने-पढ़ने की योग्यता आजानी चाहिए। भाषा का यथोचित ज्ञान जहाँ तक हो जल्द हो जावे। इस उद्देश्य के लिए ऐसी भाषा पढ़ाई जानी चाहिए जिसे विद्यार्थी जल्दी से जल्दी सीख सके। इसके लिए प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी मातृ भाषा ही सबसे सरल होगी। भाषा ऐसी अप्राकृतिक न हो जैसे हिंदुस्तान में अंग्रेजी भाषा है। जिसका साधारण ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा में ही अमूल्य जीवन का बहुत सा समय लग जाता है। प्रारंभिक शिक्षा का उद्देश्य केवल भाषा

का ज्ञान करा देना ही न होना चाहिए। इसी अवस्था में प्रत्येक विद्यार्थी को गणित, भूगोल, राष्ट्रीय इतिहास, धर्म, नीति, स्वास्थ्य शास्त्र तथा कुछ अन्य प्राकृतिक विषयों का भी प्रारंभिक ज्ञान करा देना चाहिए। दूसरी अवस्था में, जिसका कि उद्देश्य मनुष्य की रुचि का जानना है, शिक्षा-क्रम बहुत विस्तृत होना चाहिए। इस अवस्था में सभी विषयों का कुछ न कुछ ज्ञान करा देना चाहिए और शिक्षक-गण इस बात का ध्यान रखें कि किस विद्यार्थी की रुचि किस ओर को है। यहाँ ऊपर कहे गये विषयों के सिवाय अन्यान्य विषय, कारीगरी व हस्त-कला के काम भी सिखाये जाने चाहिये जैसे—नाव चलाना, बढ़ई गीरी, बाग़-वानी इत्यादि।

तीसरा सिद्धांत यह होना चाहिए कि देश के मनुष्यों की भिन्न भिन्न रुचि के अनुसार प्रत्येक विषय के विद्यालय हों जिससे एक एक विषय की सविस्तार शिक्षा दी जा सके और जिससे विद्यार्थी की विशेष योग्यता का पूर्ण विकास हो सके और जब विद्यार्थी किसी विषय में अपनी शक्ति के अनुसार शिक्षा प्राप्त करले और उससे आगे न बढ़ सके तो फिर उसे उसी विषय में या उस विषय से मिलते जुलते हुए किसी अन्य विषय में उस सीमा तक व्यवहारिक ज्ञान दिया जाना चाहिए जिस सीमा तक उसे उस विषय का शाब्दिक ज्ञान हो चुका है।

चौथा सिद्धान्त यह होना चाहिए कि विद्यार्थियों में मौलिकता का भाव बढ़े। उन्हें स्वयं पढ़ने से रुचि हो जावे, स्वयं किसी बात को सोच लें और स्वयं उसके किसी नतीजे पर पहुँच सकें। इस सिद्धांत का तो महत्व केवल वे लोग ही समझ सकते हैं जिन्होंने किसी हिंदुस्तानी विश्वविद्यालय और किसी पाश्चात्य विश्वविद्यालय दोनों स्थानों में शिक्षा प्राप्त नवयुवकों को तुलनात्मक दृष्टि से देखा हो। इस देश की प्रत्येक शिक्षा पद्धति कुछ ऐसी है जिससे यहाँ के विद्यार्थियों

में मौलिकता का भाव नहीं आने पाता। पाश्चात्य देशों में इस भाव का उत्पन्न करना वहाँ की शिक्षा का प्रधान उद्देश है।

पाँचवाँ आवश्यक सिद्धांत यह है कि शिक्षा की प्रत्येक अवस्थाओं में मनुष्य की तीनों प्रकृतियों अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक की संयुक्त उन्नति करने का सदैव ध्यान रखा जाय क्योंकि इन्हीं तीनों प्रकृतियों के मेल से मनुष्य वास्तव में मनुष्य बनता है जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। युवा अवस्था की अपेक्षा अधिकतर प्रारंभिक काल में ही शारीरिक और आध्यात्मिक प्रकृतियों की उन्नति करने का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि इसी अवस्था में लगभग पाँच वर्ष से लेकर अठारह वर्ष की उम्र तक कच्ची लकड़ी की तरह बच्चों के शरीर और आचरण जिधर चाहें उधर झुकाए जा सकते हैं। इस अवस्था में जो उन पर छाप लग जाती है वह आगे चलकर बहुत मुश्किल से मिटती है।

इसी उम्र में हम स्वदेश प्रेम के भाव उत्पन्न करने पर अधिक ज़ोर देंगे। शिक्षा ऐसी हो ताकि प्रत्येक के हृदय में स्वदेशाभिमान उत्पन्न हो। वह स्वदेशाभिमान ऐसा न हो जिससे लोग दूसरे राष्ट्रों को घृणा की दृष्टि से देखने लगें। बल्कि स्वदेशाभिमान से लोगों के हृदय में वह उत्साह आजाय जिससे उनके हृदय में उदारता, साहस और उत्तर-दायित्व के भावों का संचार हो। यह तो तभी तक हो सकता है जब तक कि मनुष्य उस विशेष अवस्था में न पहुँचा हो जहाँ कि उसको अपनी शक्ति किसी विशेष काम में लगा देनी पड़ती है। यानी शिक्षा प्रणाली की उस अवस्था में जहाँ कि उसकी रुचि की खोज होती है। इन गुणों को उत्पन्न करने के लिए इतिहास, साहित्य, दर्शन, कला धर्मादि विषयों की ओर विशष ध्यान दिया जाना चाहिए। हिंदुस्तानी विद्यार्थियों को बहुधा विदेशी बातें सिखाना व विदेशी आदर्श उनके सामने रखना, जिनसे कि उन्हें सहानुभूति नहीं है, नितांत मूर्खता है और अपने देश

की अच्छी अच्छी बातों को छोड़ देना तो और भी बड़ी भारी मूर्खता है। इससे ग़ुलामी के भाव पैदा होते हैं और लोग अपने को दूसरी क़ौमों से नीचा समझने लगते हैं। मनुष्यत्व के नाम पर ऐसे भाव कभी भी किसी देश के मनुष्यों में पैदा नहीं किए जाने चाहिए। शिक्षा की प्रत्येक अवस्था में धार्मिक शिक्षा भी देना अत्यंत आवश्यक है। किंतु स्मरण रहे कि धर्म के नाम से धर्मान्धता न सिखलाई जावे। हमारे विचार में धर्मज्ञान के विना शिक्षित से शिक्षित मनुष्य भी निरा पशु है और हिंदुस्तान में ऐसे शिक्षित लोग बहुत पाए जाते हैं। इसी से हम इस बात पर अधिक ज़ोर दे रहे हैं। हम चाहे सभी बातों को छोड़ दें पर धर्म जिसका वास्तविक अर्थ, ईश्वर में अनन्य विश्वास और लोकसेवा है, कभी नहीं छोड़ सकते।

शिक्षा की पद्धति को इन आदर्शों के अनुसार बदल देने से मनुष्य का जीवन उच्च हो जावेगा जिससे उसका रहन-सहन भी ऊँचे दर्जे का हो जावेगा। हमारे देश में ज्यादातर लोगों का रहन-सहन बहुत हल्का होता है। जिस प्रकार इंगलैण्ड में सामाजिक और राजनैतिक विशारदों को सदैव वहाँ के लोगों में अध्यात्मवाद तथा धन-लोलुपता के नाश के भाव फैलाने की चिंता रहनी चाहिये उसी प्रकार हिंदुस्तान में लोगों की ग़रीबी को दूर करने और उनके रहन-सहन के दर्जे को बढ़ाने की चेष्टा की जानी चाहिए। महात्मा गाँधी की शिक्षाओं की हिंदुस्तान की अपेक्षा यूरोप में अधिक आवश्यकता है क्योंकि हिंदुस्तान के वर्तमान काल की समस्या धन के वितरण की नहीं उसकी उत्पत्ति की है। पर हमारे देश में भी बहुत से ऐसे साहूकार, व्यापारी, ज़मींदार तथा अन्य पूँजीपति हैं जो पाश्चात्य देश के मनुष्यों की तरह अत्यंत धन लोलुप हो गये हैं और अपने ग़रीब भाइयों का उस वैभव के सुख में हिस्सा देने में मुँह मोड़ते हैं। इनके लिए भी महात्मा गाँधी की शिक्षा की आवश्यकता है। महात्मा गाँधी की शिक्षाओं का राष्ट्रीय संगठन और

स्वराज्य की दृष्टि से चाहे जो महत्व हो पर इन धन लोलुपों के लिए तो उनकी शिक्षाओं और सिद्धांतों की नितांत आवश्यकता है। हमारे विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा के सर्वथा अभाव होने पर भी पाश्चात्य अर्थवाद के विपरीत देश की प्रकृति अध्यात्मवाद की ओर झुक रही है। यह हमारे लिए गौरव की बात है।

यह नहीं कहा जा सकता कि हिंदुस्तान अंत में पश्चिम के अर्थवाद की ओर अथवा पूर्व के प्राचीन सौम्य तथा स्वस्थ जीवन की ओर झुकेगा। पर संसार में ऐसी अनेकानेक शक्तियाँ काम कर रही हैं जिन्हें देखने से यह पता लगता है कि इन दोनों सिद्धांतों का भविष्य में संयोग हो जावेगा। न तो मर्यादाहीन अर्थवाद रह जावेगा और न अध्यात्मवाद ही। यदि संसार में शीघ्र प्रलय न होना हो तो इस प्रकार के संयोग की परमावश्यकता है। हमारे विचार में तो इस प्रकार के संयोग के लक्षण भी प्रकट हो रहे हैं। एक ओर तो विशेषकर पाश्चात्य देशों में स्वार्थ, लालच, जातीयता इत्यादि विनाशक शक्तियाँ काम कर रही हैं। दूसरी ओर विशेषकर पूर्व की ओर सब से अधिक हिंदुस्तान में विश्व-प्रेम और मनुष्यत्व के लक्षण दिखलाई दे रहे हैं। साधारण व्यक्ति को तो रूस का साम्यवाद, इंगलैण्ड में मजदूरों का आंदोलन और हिंदुस्तान के राष्ट्रीय आंदोलन शांति भंग के कारण मालूम होते हैं। पर हमारी राय में उथल-पथल एक अवश्यम्भावी विश्वप्रेम, स्वार्थत्याग और विश्वव्यापिनी शांति के सूचक हैं।

छब्बीसवाँ अध्याय

ग्राम्य जीवन का पुनरुद्धार—सहयोगी संस्थायें

संक्षेप में गाँवों में तीन प्रकार के सुधार करने चाहिए—अच्छी खेती, अच्छा व्यवसाय, और अच्छा जीवन। अच्छी खेती के माने ये हैं कि खेती वर्तमान वैज्ञानिक उपायों से करनी चाहिए। अच्छे व्यवसाय के लिए व्यवसाय के आधुनिक सिद्धांतों को काम में लाना चाहिए। गावों में अच्छे जीवन के लिए गृहस्थ और सामाजिक जीवन को संगठित कर देने की आवश्यकता है जिससे लोगों का झुकाव शहरों के रहन-सहन की ओर न होने पावे। यह तो तभी हो सकता है जब ग्राम्य जीवन में सभी सुख प्राप्त हो सकें और ग्रामीण पुरुष की योग्यताओं को इस प्रकार विकसित होने का अवसर दिया जावे जिससे केवल व्यक्तिगत ग्रामीण का ही वहीं बल्कि सारे समुदाय का लाभ हो सके। गावों की उन्नति करने के लिए एक प्रधान मुख्य उपाय यह है कि ग्रामीणों के आर्थिक संगठन करने के उद्देश्य से उनकी सेवा के लिए कुछ ऐसी संस्थायें खोली जावें जिससे उनमें मितव्ययता का ज्ञान आवे और उनके व्यवसाय में उन्हें अधिक लाभ हो, तथा उन संस्थाओं को सभी ग्रामीण आपस में मिलकर चलाते रहें।

हिंदुस्तान में अब संस्थाओं में परिवर्त्तन होना आरंभ हो गया है और यहाँ के लोग बहुत सी प्राचीन बातों को छोड़कर नवीनता की ओर

झुक रहे हैं। वर्तमान आर्थिक शक्तियों का ही यह असर है कि गावों का पतन होता जारहा है और भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि शिथिल पड़ता जा रहा है, क्योंकि उससे अब यथोचित लाभ नहीं होता। रहन सहन के दर्जे के ऊँचे हो जाने से और आवश्यकताओं के बढ़ जाने से गाँव वालों की आर्थिक दशा बहुत शोचनीय होती जारही है। शहरों का बढ़ना गाँवों के पतन का कोई बड़ा कारण नहीं है। समस्या यह नहीं है कि गाँव वाले शहरों में जाकर बसते जारहे हैं, पर समस्या यह है कि शहरवाले स्वयं गाँववालों का दरवाज़ा खटखटा रहे हैं। हमें यह ध्यान से देखना चाहिए कि शहर की सभ्यता किस प्रकार गावों में धीरे धीरे किंतु निश्चयात्मक रूप से प्रवेश कर वहाँ की पुरानी प्रथाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर रही है। शहरवालों का यह सिद्धांत है कि ग़रीबों को पछाड़कर ही धनिक अधिक धनवान बन सकता है, इसी से वे लोग ग़रीब किसानों की ग़रीबी और अज्ञानता से मनमाना फ़ायदा उठाने में लगे हैं। इसी से पूँजीपति ग़रीबों को निचोड़ रहे हैं। एक ओर तो धनिक अधिक धनी होते जारहे हैं, दूसरी ओर ग़रीब और भी अधिक ग़रीब होते जारहे हैं। पर ग्रामीणों का सिद्धांत इससे बिल्कुल विपरीत है। इस प्रकार दो विरुद्ध सिद्धांतों के संघर्ष से बहुत हानि हो रही है। गावों में अब एक दूसरे की सहायता के बदले एक दूसरे पर घोर अविश्वास करने लगे हैं। मुक़दमे-बाज़ी बढ़ती जारही है जिससे ग्रामीण समाज का पतन होता जा रहा है। अब गाँववालों का ध्यान उनकी ज़मीन और उसकी उन्नति की ओर नहीं है। क्योंकि अब उन्हें यह मालूम हो गया है कि खेती में अब कोई विशेष फ़ायदा नहीं रह गया है और वे शहरों में जाकर अधिक पैसा कमा सकते हैं। जब तक ग्रामीण पास पैसा है जिससे वह अपना जीवन निर्वाह कर सके तब तक उसे खेती पर निर्भर रहना उचित नहीं, जिसका परिणाम सदैव अनिश्चित रहता है।

गाँवों की उन्नति करने में हमें ऐसी ही समस्याओं पर विचार करना पड़ेगा। केवल खेती की उन्नति, गाँवों की सफ़ाई या ढोरों की अच्छी नसल पैदा करने से ही काम न चलेगा। गाँवों की उन्नति करने के लिए सब से भारी आवश्यकता शिक्षा की है, जिसका वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि वास्तविक शिक्षा का क्या रूप होना चाहिए।

गाँवों की उन्नति की ओर बहुत दिनों से सरकार और जनता का ध्यान आकर्षित हो रहा है और दोनों की ओर से इसके लिए कुछ कोशिशें भी की गईं हैं। पर जन साधारण में शिक्षा का अभाव होने से इन कोशिशों से कोई लाभ नहीं हुआ है। गाँवों में उन्नति के जो कुछ उपाय हम बतावें, हमें उन लोगों पर उन उपायों का असर स्थायी रखना चाहिए। पर ऐसा करना उन लोगों की अशिक्षा के कारण संभव नहीं है।

गाँवों में करने लायक़ सारी उन्नति पर एक साथ ध्यान रखना चाहिए। एक एक उन्नति के काम को छिन्न-भिन्न कर देने से समय और पैसे दोनों की हानि होती है। एक एक काम के लिये अलग अलग इतने सरकारी और ग़ैर-सरकारी लोगों का दौरा होता रहता है, जिससे उन्नति होना तो दूर रहा बल्कि उलटे गाँव वाले ही ऊब जाते हैं। यदि उतने ही पैसे से एक विशेष विभाग, जिसका काम ग्राम्यजीवन की उन्नति करना हो, क़ायम कर दिया जावे तो बहुत लाभ हो। पर बिना शिक्षा की उन्नति के किसी भी उपाय से लाभ न होगा। सार्वजनिक शिक्षा के विषय में हम पिछले अध्याय में बहुत कुछ लिख चुके हैं। इससे उसके यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

सार्वजनिक शिक्षा के साथ सम्बन्ध रखनेवाली एक गूढ़ समस्या सार्वजनिक आर्थिक संगठन की है, जो गावों की उन्नति के लिए अत्यंत

आवश्यक है। किसान को उसकी भूमि से अधिक से अधिक लाभ होना चाहिये और उसे उसकी उपज का पूरा दाम मिलना चाहिये। कहने का तात्पर्य्य यह है कि उपज, वितरण, उपयोग और खपत सभी में पूरा लाभ होना चाहिये। गाँव वालों के लिए रुपये पैसे को सावधानी से मिलने की समस्या को सार्वजनिक कार्य से हल करना गाँव वालों के पारस्परिक सम्मेलन पर निर्भर है। भारत में इस आधार पर बनी हुई सहयोगी संस्थाओं का आरंभ हो चुका है, जिससे गावों के रोज़गार के लिये रुपये उधार मिला करते हैं। सहयोगी संस्थाओं ने कार्य आरंभ कर दिया है, जिसके समुचित संगठित हो जाने से गावों की उन्नति करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। भारत में सहयोगी संस्थाओं ने जड़ जमा ली है, यह इस बात के देखने से प्रगट हो जावेगी कि इस देश में आजकल लगभग ६७००० सहयोगी कृषि संस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं जिसमें लगभग २२५८००० सदस्य हैं और जिनमें २५ करोड़ रुपये से अधिक मूलधन चलतू हिसाब में लगा हुआ है। सहयोगी संस्थाओं से जो लाभ होते हैं वे पाठकों को इस पुस्तक में पहले बताये जा चुके हैं। हिन्दुस्तान की उपरोक्त ६७००० संस्थाएँ कृषि समाज को बहुत से लाभ अब भी पहुँचा रही हैं। पर अभी इसके संमुख एक बड़ा विस्तृत कार्य-क्षेत्र पड़ा हुआ है। यद्यपि इन संस्थाओं से निर्धन किसानों को रुपये की सहायता मिल जाती है पर अब भी बहुत से ऐसे किसान पड़े हैं जिन्हें बनियों या महाजनों की कृपा पर निर्भर रहना पड़ता है। हमारे पाठकों को यह मालूम हो चुका है कि महाजनों की ग़रीब किसानों पर कितनी कृपा रहती है। सभी किसानों को सहयोगी संस्थाओं से मदद नहीं मिल सकी है इसका कारण यह है कि अभी इन सहयोगी संस्थाओं का प्रचार पूरी तरह नहीं हुआ है। जिन लोगों पर इस कार्य की ज़िम्मेदारी है उन्होंने सहयोगी संस्थाओं

को बढ़ाने में देश की प्रचलित प्रथाओं का ध्यान नहीं रखा, नहीं तो इन संस्थाओं से देश को आज तक अधिक लाभ पहुँच गया होता। हिन्दुस्तान के गावों में सामाजिक संस्थाओं व अन्य कार्यों में सामाजिक एकता का बहुत प्रचार हो चुका है। सब लोगों के लिए एक चरागाह, लकड़ी काटने में समाज का अधिकार, आबपाशी का सम्मिलित प्रबन्ध, पूरे ग्राम की ओर से बढ़ई लोहार का लगाना इन सब बातों की उत्तमता देखने से यही धारणा होती है कि यहाँ गावों के प्राचीन सहयोगी सिद्धांतों को क़ायम रखना ज़रूरी है। जापान, रूस और इटली में इसी लिए वहाँ की सहयोगी संस्थाओं को बहुत सफलता मिली है। इससे गावों की सहयोगी संस्थाओं में धनी व ग़रीब सभी को मिलाकर एक सूत्र में बाँध रखना चाहिये। संभव है कि इससे कहीं कहीं धनी लोग ग़रीबों पर अत्याचार करने की कोशिश करें पर इस दोष के दूर करने के लिए इन संस्थाओं पर अधिकारी वर्ग की निगाह रहनी चाहिये।

यदि सहयोगी संस्थायें सब प्रकार से लाभदायक हैं तो उन्हें उन सब कार्यों को अपने ऊपर ले लेना चाहिये जिन्हें आज तक गाँव के साहूकार और महाजन लोग करते रहे हैं जैसे कम सूद पर रुपया उधार देने के सिवाय अन्यान्य प्रकार से संस्था के सदस्यों को उनकी आर्थिक अवस्थाओं की उन्नति करने के लिए सहायता देना, उनकी उपज शक्ति को बढ़ाना और उनकी उपज का पूरा पूरा मूल्य दिलाना इत्यादि। केवल खेती की पैदावार में उन्नति कर लेने से क्या हो सकता है जब कि किसान को उसकी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल सकता। इसलिए हमारी संस्थाओं में कुछ परिवर्तन कर देने की बड़ी भारी आवश्यकता मालूम होती है। इन एक उद्देशीय संस्थाओं से गाँव की कोई ख़ास उन्नति नहीं हो सकती है। हानि भले ही हो जावे। हमें ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो रुपये

उधार देने का काम करें, किसानों को सस्ते दामों में उनके व्यवसाय की सामग्रियों को दिलाने का काम करें तथा उनकी उपज का पूरा मूल्य दिलाने का कार्य करें। उनके व्यवसाय में उनकी आय से सब प्रकार के खर्चे को काट कर जो कुछ बचा रहे, उसीसे यह संस्थायें गावों में शिक्षा आदि का प्रबंध करें, जिससे गावों की वास्तविक उन्नति हो सके। इन संस्थाओं का प्रबंध गावों के स्कूल मास्टरों द्वारा प्रांत के केन्द्र स्थल के बैंक की सहायता से हो सकता है। केन्द्रस्थल के बैंकों में भी संगठन की आवश्यकता है।

अब हम देखते हैं कि इस प्रकार शहरों के असर से गावों को बचा रखने में ही उनकी भलाई है। गाँव वालों के सामने ऊँचे दर्जे के रहन-सहन का आदर्श रख कर उनको स्वावलंबन की शिक्षा दी जानी चाहिए। इस आशा से वे अवश्य ही अधिक कर्त्तव्यशील हो जावेंगे। बिहार और उड़ीसा प्राँत में १९२२ के एक क़ानून (Village Administration Act) के द्वारा बनाये गये एक यूनियन बोर्ड द्वारा वहाँ गाँवों की उन्नति करने में बड़ी सहायता मिल रही है। यदि इस बोर्ड को सरकार और जनता की उचित सहायता मिली तो पूरा विश्वास है कि वह यूनियन बोर्ड ग्रामों में पूरी उन्नति करने में समर्थ हो जावेगी। पर जैसा हमने आरंभ व बीच बीच में कहा है वैसे ही यहां पर भी कहे देते हैं कि पूरी उन्नति व आदर्शवाद का मूल्य सार्वजनिक शिक्षा ही है।

ग्रामों की उन्नति करने में कई प्रकार की बाधाएँ पड़ेंगी कई बार स्वयं गाँव वाले भूल से कुछ उन्नतिशील उपायों का विरोध करेंगे पर इससे क्या? सुसंगठित रूप से सब कार्य करने से शीघ्र ही सफलता मिल जावेगी।

सत्ताइसवाँ अध्याय

ग्राम्य-जीवन का पुनरुद्धार—शेषांश

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदुस्तान बहुत कुछ स्वावलम्बी देश था। यद्यपि यह कहना उचित न होगा कि वह दूसरे देशों को माल नहीं भेजता था और दूसरे देशों से माल नहीं मँगाता था, पर यह कहना असत्य न होगा कि उसकी जितनी संकुचित आवश्यकताएँ थीं उनको पूरा कर लेने के लिए सभी सामग्री, अनाज व अन्यान्य वस्तुएँ वह उत्पन्न कर लेता था। ऐसी बहुत कम वस्तुएँ थीं जो हिंदुस्तान से विदेशों को भेजी जाती थीं व हिंदुस्तान में विदेशों से मंगाई जाती थीं। नियत (Export) की मुख्य वस्तुएँ मलमल, शाल और कलाबत्तू के काम किए हुए कपड़े (Brocades) थे, और आयत (Import) की वस्तुएँ मसाला, हथियार, हाथी दाँत और ऊनी कपड़े थे। देश की प्रत्येक वस्तु सादे औज़ारों की सहायता से हाथ से ही बनाई जाती थी। पर निरंतर इसी प्रकार काम करते रहने से कारीगरों में वह निपुणता वह हाथ की सफ़ाई आ गई थी जिससे बड़ी बड़ी मशीनवाले सुंदर वस्तुएँ बनाने में उनकी बराबरी नहीं कर सकते थे। उनकी इसी कला कुशलता के कारण इन बनी हुई चीज़ों को देखकर विदेशी लोग मोहित हो जाते थे। माध्यमिक काल की इस व्यवसायिक अवस्था के साथ साथ उस समय के लोगों का रहन-सहन भी बहुत सरल

और विनम्र था। मलमल और कीमखाब जो आज-कल साधारण श्रेणी के लोग पहनते हैं वही उन दिनों में बड़े बड़े राजे, महाराजे और और रईसों के घर की शोभा बढ़ाते थे। वस्तु उत्पादन की और रहन-सहन की उस समय की सादगी के संयोग से उस समय का भारतीय जीवन साधु था। जीवन की प्रत्येक अवस्था में एक ऐसी शांति छाई रहती रहती थी जो वर्तमान भारत में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती।

ज्यों ज्यों पाश्चात्य देशों से सम्पर्क बढ़ने लगा त्यों त्यों आवागमन के सुभीते के बढ़ने से और पाश्चात्य लोगों के यहाँ आधिपत्य बढ़ाने से इस देश के प्राचीन व्यवसायिक व्यवहार बदलने लगे। भारत की पराधीनता, उद्योग-धंधों में नई नई खोज तथा विदेशों के कलाकौशल में उन्नति, इन तीनों कारणों से इस देश के प्राचीन उद्योग-धंधों का पाया हिलने लगा। इस प्रकार की क्षीणता और असमर्थता ५० वर्ष तक चली आई जिसके बाद हिंदुस्तान की वह हालत हो गई कि जो वस्तुएँ यहाँ बन कर विदेशों में भेजी जाती थीं उन्हीं वस्तुओं को अब विदेशों से मंगाना पड़ता है। पर जब हिंदुस्तान में भी वस्तु उत्पादन के पाश्चात्य उपायों का प्रचार होने लगा तो यहाँ की अवस्था फिर से बदलने लगी। इस प्रकार हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों को उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में पूरी तरह से नया रूप मिल गया और तब से इस ओर दिन प्रति दिन उन्नति हो रही है। इस औद्योगिक परिवर्तन के साथ साथ हमारे रहन-सहन व आचार-विचार में भी परिवर्तन हो रहा है।

जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में मशीनों के उपयोग से और मशीनों के परिणाम स्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पादन से घनी आबादियें, शराबख़ोरी, बीमारी, व्यभिचार तथा मृत्यु बढ़ने लगी उसी प्रकार हिंदुस्तान में भी पाश्चात्य देशों के उद्योग-मार्ग के अनुकरण करने से वही परिणाम

प्रगट हो रहे हैं। जैसे पाश्चात्य देशों में वर्तमान औद्योगिक अवस्था के कारण रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने लगा, पूंजीपति बहुत हो गए और ग़रीबों में बेचैनी हो गई है वही सब बातें आज हम अपनी आँखों हिंदुस्तान में देख रहे हैं। हिंदुस्तान में भी, यद्यपि पाश्चात्य देशों से कम परिमाण में, प्रत्येक मनुष्य को धन संचय करने की अपार इच्छा हो रही है। इसी पूंजीपति प्रथा के बढ़ने से जो बुराइयाँ हो सकती हैं वे प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ रही हैं। सार्वजनिक असंतोष फैल रहा है, और पूंजीपति तथा मज़दूर दल में अविराम युद्ध हो रहा है। आज सुनने में आता है कि गिरनी कामगार यूनियन ने तीन महीने से हड़ताल कर दी है तो कल जमशेदपुर से ख़बर आती है कि वहाँ की ताता कम्पनी के सारे लोग पूंजीपतियों के अत्याचार से पीड़ित हो कर हड़ताल कर रहे हैं। कभी जी० आई० पी० रेलवे के हड़तालियों में उनके पूंजीपति स्वामियों के कारण दुर्भिक्ष सा पड़ रहा है तो कहीं गोलमुरी में टिन प्लेट मज़दूरों के आर्तनाद सुने जा रहे हैं।

इन्हीं कष्टों को देखकर महात्मा गांधी इस नवीनता के विरुद्ध घोर प्रतिवाद कर रहे हैं और हिंदुस्तान को प्राचीन गृह-उद्योग-कालीन सभ्यता की ओर ले लाने के लिए अटूट परिश्रम कर रहे हैं तथा और बहुत से देश-भक्त भी इन पूंजीपतियों से मज़दूरों की रक्षा करने के लिए ही किसान और मज़दूर सभा खोलने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इस परिवर्तन को अनिवार्य और उसकी बुराइयों को आवश्यक समझते हैं। हम यहाँ पर यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि उद्योग-धंधे के वर्तमान उन्नतिशील कार्य का अनुसरण किस प्रकार से किया जावे जिससे उपरोक्त बुराइयाँ पैदा न हों। हमारे निम्नलिखित विषय को 'सरल और उच्च विचार' शीर्षक दिया जावे तो अनुचित न होगा।

हम कह चुके हैं कि माध्यमिक काल में हिंदुस्तान की एकांत

ग्राम्य आर्थिक जीवन और आर्थिक स्वावलम्बन के अनुसार औद्योगिक अवस्था थी। पर अब वह एकांतावस्था, वह आर्थिक स्वावलम्बन, वह सरल जीवन सभी लुप्त होते जा रहे हैं। जो लोग वर्तमान पाश्चात्य देशों की औद्योगिक अवस्थाओं का अध्ययन करके यह कहते हैं कि भारतवर्ष में उन उपायों को ग्रहण करने से ही बुराइयाँ आ गईं हैं उन लोगों के इस कथन से हम असहमत नहीं हैं। पर जब वे लोग यह कहते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों को छोड़ कर हम लोगों को एकदम प्राचीन पद्धति की ओर फिर वापस जाना चाहिए तो हम उनकी इस धारणा को स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि एक तो हम उस प्राचीनता से इतने आगे बढ़ गए हैं कि फिर से उसी प्राचीन रूप को ग्रहण करना असंभव मालूम होता है। फिर दूसरे यह कि पाश्चात्य देशों की वर्तमान उद्योग धंधे की प्रथा की जो बुराइयाँ हैं वे हमें असाध्य नहीं मालूम होतीं। न तो पाश्चात्य देशों की तरह हमारी अवस्थाएँ हैं और न व्यवस्थाएँ फिर हमारा औद्योगिक संगठन व जीवन उन्हीं की तरह कैसे हो सकता है।

जो लोग प्राचीनता के उत्कट पक्षपाती हैं उनका कहना है कि हमारे धार्मिक, आर्थिक, औद्योगिक व व्यवसायिक जीवन में इतना परिवर्तन हो जाने पर भी हम प्राचीन सभ्यता की सरलता को अपना सकते हैं जिससे जीवन की सरलता व व्यक्तिगत स्वतंत्रता बनी रहे। इन विचार-वादियों की यह भी राय है, क्योंकि वे देश भक्त भी हैं, कि देश में रेल, नहर, जहाज़ आदि भी बने रहें, देश में राष्ट्रीय फ़ौज व जहाज़ी बेड़ा क़ायम हो जावे, देश में कला व विज्ञान के आधुनिक सिद्धांत भी प्रचलित हो जावें। पर साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि हमारा देश अन्य देशों की तरह स्वाधीन हो जावे जिसमें प्रत्येक गाँव स्वावलंबी हो। यद्यपि यह संयोग बहुत ही उत्तम व ग्राह्य होगा पर उन्हें यह भी तो विचार करना चाहिए कि क्या वे सब बातें हमारे

देश की इन सामाजिक व आर्थिक अवस्थाओं में संभव हो सकती हैं ? यदि हम अपने देश को स्वतंत्र बनाना चाहते हैं तो हमारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि किसी भी अन्य देश के बराबर हमारा देश भी सब बातों से सुसज्जित हो जावे। नवीन अवस्थाएँ अब एक अंतराष्ट्रीय विषय हो गई हैं। हमारे राष्ट्र को साथ साथ चलना होगा।

इन विचार-वादियों के दूसरी ओर कुछ ऐसे भी हास्यास्पद लोग हैं जो यह कहा करते हैं कि चूँकि हमारी पुरानी हालत कुछ बदल गई है इससे हमारे सारे जीवन व औद्योगिक अवस्थाओं को भी बिल्कुल बदल देना पड़ेगा, सब गृह-उद्योगों के स्थान में बड़े बड़े कारखाने खुल जाने चाहिए, गाँवों की जगह में बड़े बड़े शहर बस जाने चाहिए और अपनी अपनी अवस्थाओं के अनुसार प्रत्येक स्थान वही वस्तुएँ उत्पन्न करे जिसके लिए वह स्थान उचित है। संक्षेप में इनका कहना यह है कि दूसरे देशों से सम्पर्क हो जाने से यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे देश का रहन-सहन व औद्योगिक संगठन की सारी अवस्थाएँ उन्हीं देशों के अनुसार हो जावें। ऐसे लोगों के मन में यह बात ज़रा भी नहीं आती कि किसी देश की वस्तु उत्पादक शक्ति उस देश की केवल प्राकृतिक अवस्थाओं पर ही निर्भर नहीं रहती पर साथ ही उसपर उस देश के सामाजिक व धार्मिक जीवन का भी बड़ा भारी असर पड़ता है।

इस सारे वातावरण का एक रहस्य है। प्रत्येक समुदाय एक बार इस समस्या के केवल एक ही पहलू की ओर ध्यान देता है। प्राचीनता का पक्षपाती इस बात को भूल जाता है कि भारत का विदेशों से संपर्क का यहाँ के उद्योग धंधों पर क्या असर पड़ता है। संपूर्ण परिवर्तन-वादी इस बात को भूल जाते हैं कि देश के उद्योग धंधों पर उसके धार्मिक व सामाजिक प्रवाह का क्या असर पड़ता है। हम इन समस्याओं को एक ही प्रकार से हल करते हैं—वस्तु उत्पादन

करने के उपाय तो बिल्कुल वर्तमान और उन्नतिशील हों पर रहन सहन हिंदुस्तानी हो। इस शर्त के अनुसार न तो यही होगा कि हिंदुस्तान के सब गृह-उद्योग टूट जावें और सब काम बड़ी बड़ी मशीनों से बड़े बड़े कारखानों में हुआ करें और न यह होगा कि हिंदुस्तान वस्तु उत्पादन के आधुनिक उन्नतिशील उपायों को एक दम से छोड़ कर बिल्कुल पीछे हट जावे। भारत में भविष्य में ऐसी औद्योगिक अवस्थाएँ हो जानी चाहिए जिससे अपने अपने क्षेत्र में गृह-उद्योग व फ़ैक्टरी दोनों साथ साथ काम करते रहें। गृह उद्योग द्वारा और फैक्टरी (कारखानों) द्वारा, केवल वही काम किये जावें जिनसे हमारे मज़दूर और मूलधन विदेशों की प्रतिद्वन्द्विता कर सकें। यह कोई प्राकृतिक नियम नहीं है कि मशीन द्वारा किया गया काम सदैव हस्तकला से बाज़ी मार ले। बाज़ी मारना तो हस्तकला, मशीन या बिजली द्वारा उत्पन्न किये हुये वस्तु के तुलनात्मक दाम पर निर्भर है। यूरोप और अमरीका में, जहाँ कि यह अन्ध विश्वास फैल रहा है कि जिस राष्ट्र की आवश्यकताएँ जितनी ही ज्यादा होती हैं उतना ही वह राष्ट्र सभ्य माना जाता है, हस्तकला का कोई स्थान नहीं और उन सभ्य समाजों की बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए मज़दूरों को मशीनों का सहारा लेना पड़ता है। पर भारत में अब भी ऐसी बहुत सी चीज़ें हैं जो कि हाथ से बनाई जाती हैं और जिनका मूल्य मशीन की बनाई हुई चीज़ों की बनिस्बत सस्ता पड़ता है। हम यह मानते हैं कि अभी हमारे यहाँ के गृह उद्योग दूसरे देशों की तरह सस्ते में काम नहीं चला सकते पर अगर भारतवासियों में भी जर्मनी और जापान के कारीगरों की तरह निपुणता आजावे और यदि उन्हें इनकी मज़दूरी से आधा भी मिलने लगे तो फिर वे भी उन्हीं के टक्कर की चीज़ें बनाने लगेंगे और उनसे प्रतिद्वंद्विता करने में समर्थ हो जावेंगे। हममें वह सभ्यता न आने पावे

जिसका कि यह सिद्धांत है कि सभ्य वही है जिसकी आवश्यकताएं अपार हैं। हमारे कथन का मतलब यह नहीं है कि हमारे मज़दूरों को आजकल की तरह आवश्यकता से कम खाना और कपड़ा मिला करे। उनके जीवन को सुखमय बनाने के लिए हर तरह से प्रयत्न किया जाना चाहिये। पर एक हद के भीतर। यदि हम संयम और संतोष के साथ अपना जीवन व्यतीत करें तो अवश्य ही मशीन द्वारा बनाई हुई वस्तुओं की बराबरी कर सकेंगे।

इसी प्रकार—अर्थात् उद्योग धंधों में नये नये उपायों को काम में लाकर जीवन को भारत के प्राचीन आदर्श के अनुसार सरल बनाये रख कर ही हम सस्ते दामों में वस्तु उत्पन्न करके वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता की बुराइयों से बच सकते हैं। पाश्चात्य देशों के उद्योग कला के इतिहास हमारे सामने वर्तमान हैं। हमें चाहिए कि उनकी बुराइयों को दूर कर केवल उनकी अच्छाई को ही ग्रहण करें ताकि हमारे देश में बड़े बड़े कारख़ाने खुलने पर भी हमारा देश सभ्य और स्वस्थ बना रह सके। कारख़ानों के कारण बहुधा शहरों में जो अधिक आबादी हो जाने से लोगों के व्यवहार और स्वास्थ्य भ्रष्ट हो जाता है, उससे बचने के लिए हमारा कर्तव्य है कि मज़दूरों के लिए साफ़ और स्वस्थ मकान बनावें तथा उनके पूंजीपति मालिकों में सदैव मनुष्यत्व के भाव पैदा करते रहें जिससे वे लोग अपने मज़दूरों से सहिष्णुता का व्यवहार करते रहें। उनसे अधिक समय तक काम न लिया करें जिसमें उनको अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए भी समय मिल जाया करे। जिस प्रकार मज़दूरों को एक सीमा के भीतर ही अपनी आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिए उसी प्रकार पूँजी-पतियों को भी एक सीमा के भीतर ही अपने व्यवसाय से लाभ उठाना चाहिये। पूँजीपतियों और मज़दूरों के बीच में अच्छी तरह से समझौता हो जाने पर पाश्चात्य औद्योगिक अवस्था की बहुत सी

बुराइयों से छुटकारा मिल जावेगा। फिर हमें बड़े बड़े कारखानों से पूरा लाभ उठाने में कोई बाधा न पड़ेगी। निस्संदेह ही इसके लिए पूंजीपतियों को बड़ा भारी स्वार्थ त्याग करना पड़ेगा। यदि वे लोग यह त्याग स्वयं न करेंगे तो देश में ऐसी कई शक्तियाँ काम कर रही हैं जिससे उन्हें लाचार होकर यह काम करना पड़ेगा।

फिर बड़े कारख़ानों से वस्तु उत्पन्न करने में यहाँ के लोगों के बसने के ढँग में भी तबदीली करनी पड़ेगी। हम ऐसी औद्योगिक अवस्था से आगे बढ़ रहे हैं जब कि लोग देश में चारों तरफ़ बिखरे हुए थे और अब उस ओर जा रहे हैं जब कि बहुत से लोगों को कुछ चुने हुए स्थानों में एकत्रित होकर रहना पड़ेगा। हमारे उस समय में भी परिवर्तन हो गया है जब कि देश में बहुत से राजा एक दूसरे से स्वतंत्र होकर राज्य करते थे और अब यह अवस्था आ गई है जब कि सारे देश में एक ही राज्य स्थापित हो गया है। इस अवस्था में अपनी आबादी को पुरानी प्रथा के अनुसार बनाए रखना असंभव है। हमें अब शहरों की संख्या बढ़ानी पड़ेगी। कितने शहर और बढ़ाने पड़ेंगे यह इस बात पर निर्भर है कि अब प्राचीन प्रथाओं में हम कितना परिवर्तन कर देंगे। पर चूंकि तब भी भारतवर्ष का मुख्य रोज़गार खेती रहेगा इससे यह संभव नहीं कि यहाँ सब गाँव लुप्त हो जावें। हमारी नई सभ्यता में ये गाँव भी मौजूद रहेंगे। निस्संदेह ही गांव की कुछ अन्यान्य संस्थाओं में परिवर्तन हो जावेगा। पर इन नई संस्थाओं के आ जाने से गाँवों का लुप्त हो जाना ज़रूरी नहीं है। गाँवों में से बेकार मध्यम श्रेणी के लोग शहरों में पैसा पैदा करने के लिए चले जावेंगे। गाँवों से साहूकार लोग लुप्त हो जावेंगे और उनकी जगह में सहयोगी बैंक स्थापित हो जावेंगे जिससे ग्राम्य जीवन सुखकर और लाभदायक हो जावेगा। पर इस प्रकार की नवीनता से काश्तकार और ज़मींदारों के मिट जाने का कोई डर नहीं

है। यदि हिंदुस्तान का मुख्य रोज़गार खेती रहा तो ज़मींन के जोतने वाले तो अवश्य ही रहेंगे। फिर काश्तकारों के ज़मींदार भी रहेंगे। हाँ भविष्य का ज़मींदार आज कल के ज़मींदारों की तरह न रहेगा जो कि काश्तकारों से लगान लेकर उनका कोई उपकार किए बिना सब धन बेकार भोग-विलास में ख़र्च कर देता है। भविष्य में ज़मींदार काश्तकारों की खेती और गाँव के अन्यान्य कामों में गाँववालों का आदर्श व सहारा रहेगा। काश्तकारों की अवस्था भी भविष्य में आजकल की तरह न रहेगी पर यह सोचना भी ग़लत है कि उनके मकान खेतों में बनवा दिए जावेंगे। शिक्षा के प्रचार से उनकी दशा अब से अवश्य ही कुछ अधिक सुधर जावेगी।

भविष्य के गाँवों में गाँव के नौकर-चाकर, नाई, धोबी आदि बने रहेंगे। खेती के उत्तम उपायों को ग्रहण करने व संगठन के प्रचार से कुछ गाँवों में संभव है कि बढ़ई, कुम्हार, लुहार आदि की संख्या घट जावे। अभी जैसे प्रत्येक गाँव में एक बढ़ई, एक लोहार, एक कुम्हार होता है वैसे ही संभव है कि भविष्य में दस दस गाँवों के बीच एक लुहार, एक बढ़ई, और एक कुम्हार रह जावे। इससे एक दो गाँव को भले ही हानि हो जावे पर सब गाँवों को इकट्ठा मिलाकर इस घटती से लाभ ही होगा। इन लोगों को अब तक जो उनके त्योहारों में एक नियमित परिमाण में अनाज दिया जाता था संभव है कि वह भविष्य में पैसे के रूप में दिया जावे। इस प्रकार के साधारण परिवर्तनों के सिवाय यह नहीं कहा जा सकता कि गाँवों में कुछ अधिक परिवर्तन हो जावेगा।

ऊपर जो कुछ कह चुके हैं उससे मालूम होता है कि भविष्य में भारतवर्ष के औद्योगिक जीवन में ऐसा परिवर्तन न हो जावेगा जिसे देख कर कोई पहचान न सके कि क्या यह भारतवर्ष ही है या इंगलैण्ड? हमारे विचार में तो गाँवों की प्राचीन अवस्था का ही एक उन्नतिशील

रूप प्रगट हो जावेगा। परिवर्तन काल में कुछ उथल-पथल अवश्य ही होगा पर अंत में आदर्श उसी जीवन की ओर पहुँच जावेगा जिसकी अब तक केवल कल्पना करते रहे हैं। यदि हम इसी परिवर्तन काल में अपना आदर्श निश्चय कर लें तो भविष्य में नाना प्रकार के प्रयोग करके हमें अपना समय नष्ट न करना पड़ेगा।

चित्र—(अ)

भारतवर्ष में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग।

वर्ष	भारतवर्ष में खेती की ज़मीन का कुल रक़बा	चावल	गेहूँ	जौ	कपास	ईख	जूट	चना	ज्वार	बाजरा	अलसी	सरसों	तिल	नील	चाय	मक्का	रागी
१८९१—१८९४	१९३६८६	३४	११	२	५	१·४	१	५	११	६	२	...	१	·७	·२	२	२
१८९४—१८९७	१८७६७८	३६	१०	३	५	१·५	१	६	११	६	१·५	...	·१७	·९	·२	३	३
१८९७—१९००	१९१०४५	३८	१०	४	५	१·५	१	५	१२	६	१	१	१·७	·६	·३	३	३
१९००—१९०३	२००६८८	३५	१०	३	५	१·३	१	५	११	७	१	१·७	२	·४	·२	३	३
१९०३—१९०६	२०७८९३	३५	११	४	६	१·२	१·४	५	१०	६	१	१·६	२	·२	·२	३	२·५
१९०६—१९०९	२१४३१६	३५	१०	४	६	१·२	१·६	५	१०·५	७	·९	१·८	२	·२	·२	३	३
१९०९—१९१२	२२०६५३	३५	११	४	६·४	१·१	१·३	६	९	७	१·३	१·९	२	·१	·२	३	३
१९१२—१९१५	२२३६८०	३५	११	३	६·७	१·२	१·५	५·४	९·५	७	१·२	१·७	२	·०८	·३	३	३

चित्र—(इ)

पंजाब तथा सरहद्दी सूबे में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग।

वर्ष	कुल रक़बा	चावल	गेहूँ	जौ	ज्वार	बाजरा	चना	ईख	कपास	सरसों	तिल	नील	मक्का
१८९१—१८९४	२१९५५	३	३४	७	११	९	१४	२	३	...	·९	·४	६
१८९४—१८९७	१८३५२	४	३१	६	१०	८	१०	२	६	...	१	·५	६
१८९७—१९००	१७९७०	४	३८	७	८	९	५	२	५	...	१	·३	८
१९००—१९०३	२४११४	३	३०	५	६	९	९	१	४	४	·७	·२	७
१९०३—१९०६	२६२६२	२	३४	५	५	७	११	१	४	४	·५	·२	५
१९०६—१९०९	२६८५३	३	३७	६	६	११	१४	१	५	५	·४	·२	६
१९०९—१९१२	२६५८४	३	३८	६	४	९	१७	२	५	५	·६	...	६
१९१२—१९१५	२७४०८	३	३७	५	५	११	१५	१	४	४	·७	...	५

चित्र—(उ)

संयुक्तप्रान्त में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग।

वर्ष	कुल रकबा	चावल	गेहूँ	जौ	ईख	सरसों	अलसी	ज्वार	बाजरा	कपास	तिल	नील	चना	मक्का
१८९१—१८९४	३४१६४	२२	१४	६	४	...	२	२	२	४	·५	·८	११	४
१८९४—१८९७	३२४८८	२३	१७	१३	४	...	१	६	४	४	·६	१	१७	५
१८९७—१९००	३३१८२	२१	१९	१४	४	·३	१	७	५	६	·५	·९	१५	६
१९००—१९०३	३४९६९	२०	१९	१२	३	·४	१	७	६	३	·८	·५	१५	६
१९०३—१९०६	५३८७०	१क	२१	१२	३	·४	२	७	६	३	·९	·३	१५	६
१९०६—१९०९	३५२२०	२०	१७	१३	४	·४	·५	८	७	४	·९	·१	१३	७
१९०९—१९१२	३६१४७	१६	·२०	१४	३	·५	१	६	७	३	१	·१	१७	६
१९१२—१९१५	३५४७१	१८	२०	१३	४	·५	·९	६	७	४	१	...	१६	६

चित्र—(ऋ)

बंबई तथा सिन्ध में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग

वर्ष	कुल रक़बा	चावल	गेहूँ	ज्वार	बाजरा	कपास	मक्का	चना	तिल	अलसी	रागी
१८९१—१८९४	२७८००	८	९	२९	२०	१०	·५	३	१·४	१	२
१८९४—१८९७	२५८४०	९	८	२८	१९	११	·६	३	१·९	१·४	२
१८९७—१९००	२५४७९	१०	७	३४	१८	९	·७	२	१·५	·८	२
१९००—१९०३	२५९४७	९	६	२८	२५	११	·५	२	१·७	·७	२
१९०३—१९०६	२६५६५	९	७	२९	१८	१४	·६	२	१·८	१·३	२
१९०६—१९०९	२८४८३	१०	६	२५	२२	१४	·६	२	१·६	·५	२
१९०९—१९१२	२८१६०	१०	६	२४	२१	१६	·६	२	१·५	·६	२
१९१२—१९१५	२९६९६	१०	७	२५	२२	१५	·५	२	१·२	·५	२

चित्र—(ए)

मध्यप्रान्त तथा बरार में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग

वर्ष	कुल रक़बा	चावल	गेहूँ	ज्वार	चना	कपास	अलसी	तिल	मक्का
१८९१—१८९४	२२७८०	१९	२१	१५	५	१३	९	३	·२
१८९४—१८९७	२२२४४	२२	१५	१८	६	१३	६	३	·४
१८९७—१९००	२१५९१	२३	११	२२	४	१३	३	४	·५
१९००—१९०३	२२५६०	१९	११	२३	४	१६	३	५	·६
१९०३—१९०६	२३८९५	१८	१४	१९	४	१९	४	४	·५
१९०६—१९०९	२४०६७	१८	१३	१९	४	१९	२	४	·६
१९०९—१९१२	२४९४७	१९	१४	१७	५	१८	५	४	·६
१९१२—१९१५	२४७३९	२०	१४	१६	५	१९	५	३	·६

चित्र—(ख)

बिजनौर ज़िले में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फसल का भाग।

सूचना—प्रत्येक संख्या हज़ारों में है अतः ००० बढ़ा कर पढ़ना चाहिये।

वर्ष	गेहूँ	जौ	चावल	बाजरा	ईख	कपास
१८९१—१८९४	९६	३२	२११	४४	७२	३४
१८९४—१८९७	१३३	६७	२१४	४०	६७	३१
१८९७—१९००	१३४	६८	२१६	४३	७३	२६
१९००—१९०३	१५४	७२	१९३	६१	६६	३५
१९०३—१९०६	१७१	६९	१६८	७१	७४	३१
१९०६—१९०९	१५३	७२	१८१	६२	८२	३५
१९०९—१९१२	१८७	८७	१२५	५६	७९	३५
१९१२—१९१५	१६७	८१	१६१	५५	८८	३८

चित्र—(ग)

कानपुर ज़िले में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फसल का भाग

सूचना—प्रत्येक संख्या हज़ारों में है अतः ००० बढ़ा कर पढ़ना चाहिये।

वर्ष	गेहूँ	जौ	कपास	ज्वार	बाजरा	चना
१८९१—१८९४	५६	१३१	८२	३	१	३४
१८९४—१८९७	८८	१५४	७०	१३६	१३	१७८
१८९७—१९००	१२०	१४१	६४	१३३	३१	१८४
१९००—१९०३	१२३	१३८	७४	१५४	२८	१८५
१९०३—१९०६	१२७	१५०	६०	१५२	५०	१७०
१९०६—१९०९	८३	१२७	७५	१६८	३६	१४९
१९०९—१९१२	१०५	१५५	५७	१४२	६३	१८६
१९१२—१९१५	११७	१२८	७८	१५८	४६	१४९

चित्र—(घ)

मेरठ ज़िले में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का भाग।

सूचना—प्रत्येक संख्या हज़ारों में है अतः ००० बढ़ा कर पढ़ना चाहिये।

वर्ष	गेहूँ	जौ	ज्वार	बाजरा	ईख	कपास
१८९१—१८९४	२७४	४५	६२	१९	११३	४८
१८९४—१८९७	३६२	६०	८९	१६	११४	६१
१८९७—१९००	३६२	६०	८९	१५	११४	६०
१९००—१९०३	३७९	६१	१०२	३२	११९	६३
१९०३—१९०६	३९१	६१	१०७	३२	११७	६८
१९०६—१९०९	३२४	७२	११०	४४	११६	९३
१९०९—१९१२	३९८	७५	९२	३३	१३५	७२
१९१२—१९१५	३५६	७०	९५	३९	१४३	७८

चित्र—(ङ)

आगरा ज़िले में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का भाग।

सूचना—प्रत्येक संख्या हज़ारों में है अतः ००० बढ़ा कर पढ़ना चाहिये।

वर्ष	गेहूँ	चना	बाजरा	ज्वार	कपास	जौ
१८९१—१८९४	९९	७२	२३	७	८६	८९
१८९४—१८९७	१०६	१२१	१२६	९१	१०४	९५
१८९७—१९००	९७	१०६	१७५	१०३	८०	१०२
१९००—१९०३	१०५	१२३	१८१	११०	१००	८४
१९०३—१९०६	९९	१४०	१६८	९९	१००	१०२
१९०६—१९०९	७९	१२१	१८४	९४	११९	९१
१९०९—१९१२	१०३	१९६	१६२	८१	७६	११९
१९१२—१९१५	९१	१२७	१७६	८५	९८	९८

चित्र—(प)

भारतवर्ष के कुछ प्रान्तों में ईख, कपास और गेहूँ की खेती का प्रतिशत क्षेत्रफल और प्रति एकड़ उपज।

प्रान्त	ईख		कपास		गेहूँ	
	भारतवर्ष की खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रतिशत भाग	प्रति एकड़ उपज पौंड	भारतवर्ष की खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रतिशत भाग	प्रति एकड़ उपज पौंड	भारतवर्ष की खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रतिशत भाग	प्रति एकड़ उपज
बंबई	३	६९५०	२८	१०२		
संयुक्त प्रान्त	५३	६९००	९	१७०	२९	१०५०
मध्य प्रान्त			३२	८६		
सिन्ध					२	१३६६
पंजाब					३८	७९१

चित्र—(च)

भारतवर्ष में गेहूँ की खेती के क्षेत्रफल में प्रत्येक प्रांत का प्रतिशत भाग।

वर्ष	भारतवर्ष	प्रतिशत भेद	संयुक्त प्रान्त	पंजाब	बंबई	मध्यप्रान्त और बरार	बंगाल (पुराना)
१८९१—१८९४	२१२९४	१००	२३	३५	११	२२	८
१८९४—१८९७	१९१५९	९०	२९	३५	११	१७	७
१८९७—१९००	१८७५९	८८	३३	३६	९	१३	८
१९००—१९०३	१९४०९	९१	२९	३७	८	१३	७
१९०३—१९०६	२३१७५	१०९	३२	३८	८	१५	६
१९०६—१९०९	२१५८७	१०२	२८	४६	८	१४	६
१९०९—१९१२	२४०६४	११३	३०	४२	७	१४	६
१९१२—१९१५	२३९९९	११३	२९	४२	८	१४	६

चित्र—(त्र)

भारतवर्ष में कपास की खेती के क्षेत्रफल में प्रत्येक प्रान्त का प्रतिशत भाग।

वर्ष	भारतवर्ष	प्रतिशतभेद	संयुक्त प्रान्त	बंगाल (पुराना)	बंबई सिन्ध सहित	मध्य प्रान्त तथा बरार	मद्रास	पंजाब सरहद्दी सूबा सहित
१८९१—१८९४	९४१४	१००	१३	२	३०	३१	१५	७
१८९४—१८९७	९५९२	१०२	११	२	२८	२९	१६	११
१८९७—१९००	८८२३	९३	११	२	२७	३३	१६	९
१९००—१९०३	१०३३८	१०९	११	१	२७	३५	१४	१०
१९०३—१९०६	१२६७१	१३५	९	१	३०	३६	१५	६
१९०६—१९०९	१३५४६	१४३	१०	१	२९	३३	१५	९
१९०९—१९१२	१४०६३	१५०	८	१	३१	३१	१७	७
१९१२—१९१५	१५०६८	१६०	९	१	२९	३१	१६	११

पृष्ठ ८८ के संबंध में
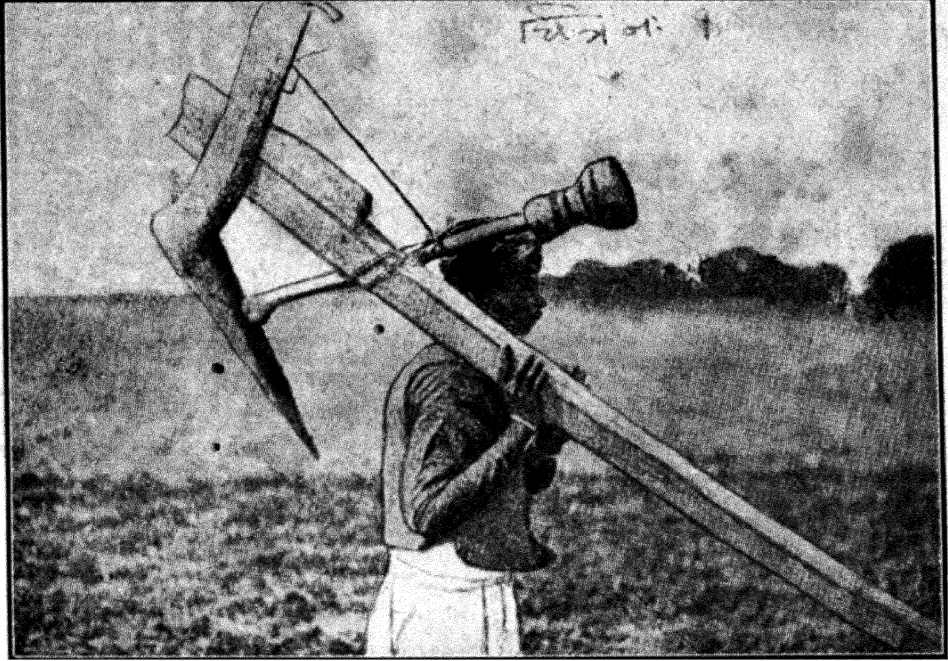
देसी हल

पृष्ठ ८९
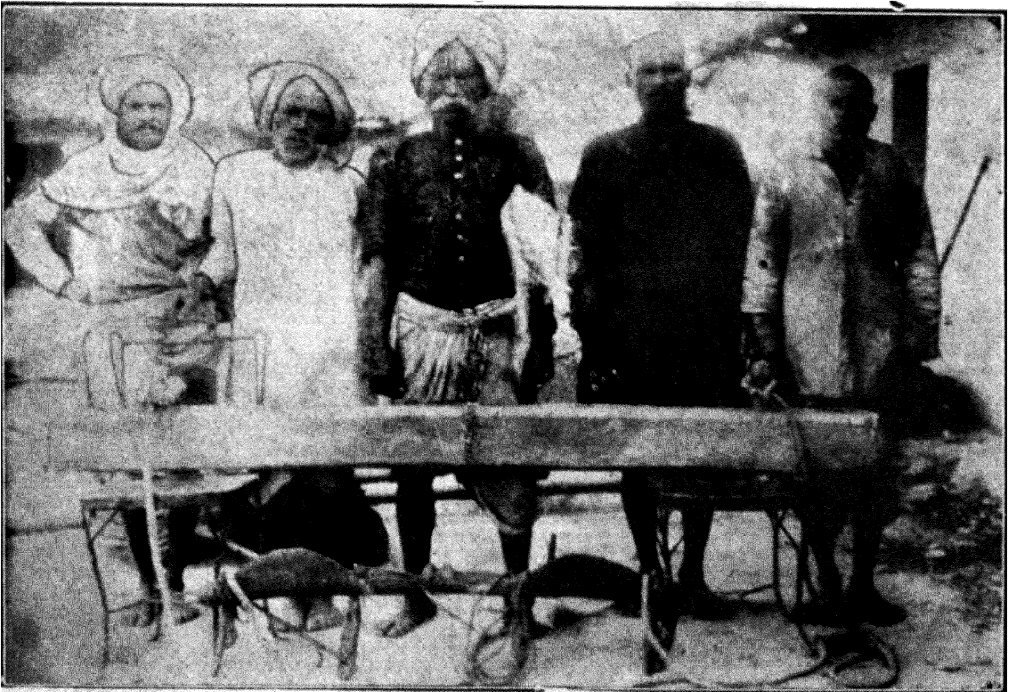
खेती के औज़ार
(पटेला, जुआ, जोत इत्यादि)

(जुआ, पुर)

खेती के औज़ार
(गिर्री)

पृष्ठ ९०
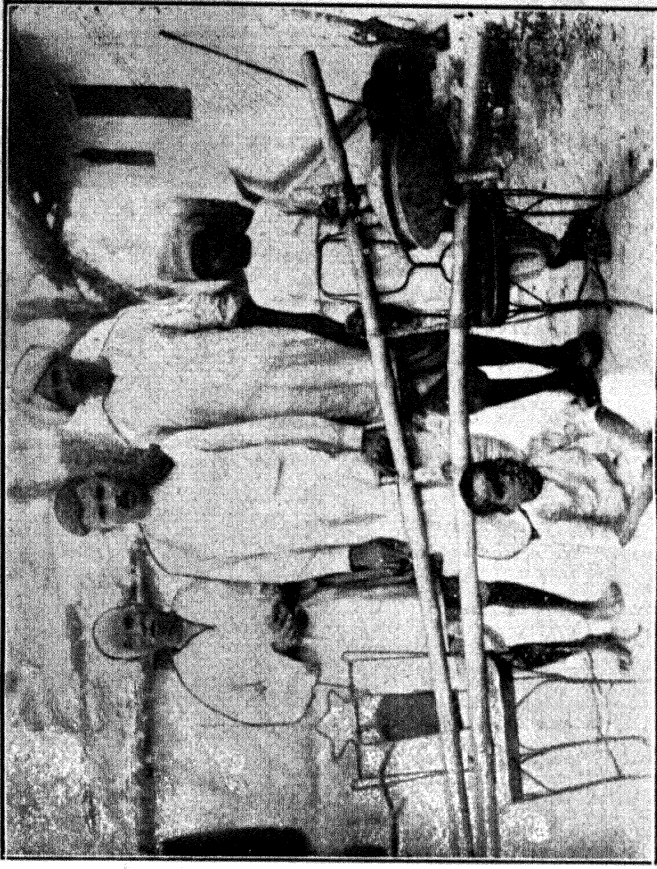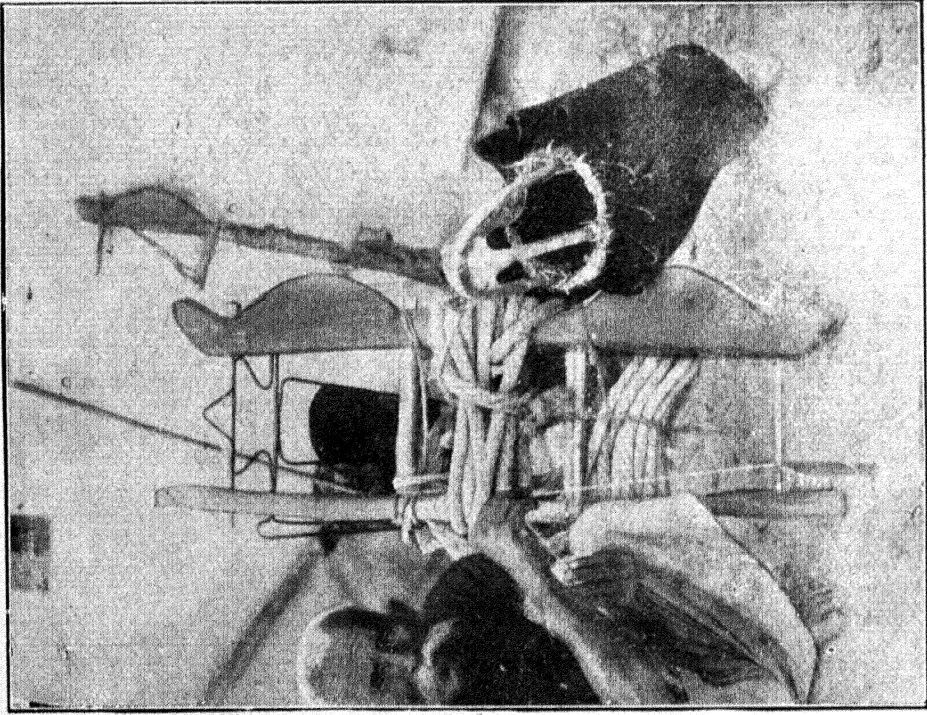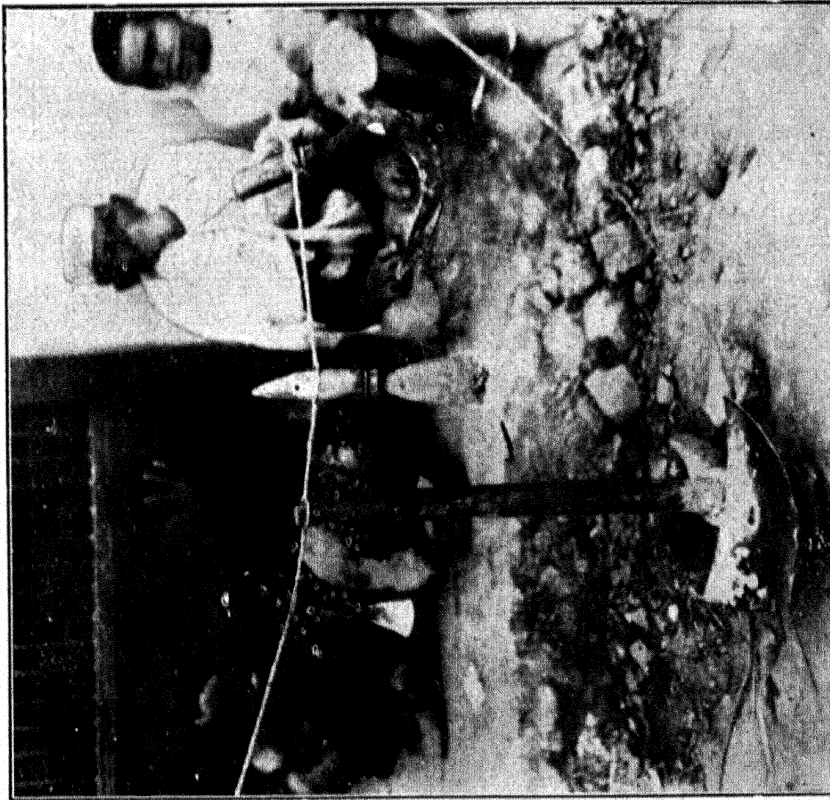
खेती के औज़ार
(खरपी. फावडा इत्यादि)
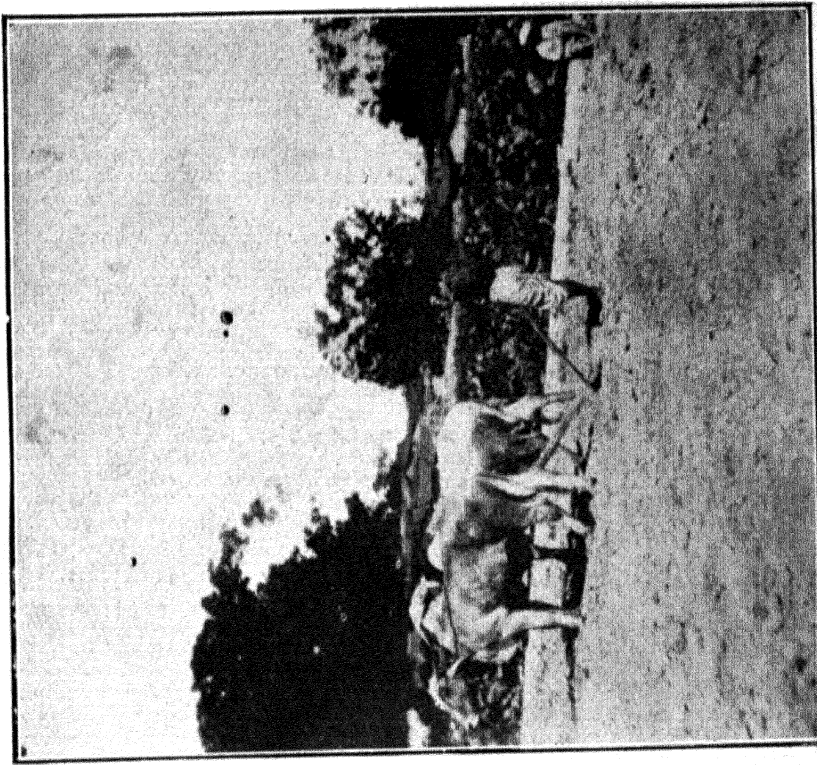
पृष्ठ १०५
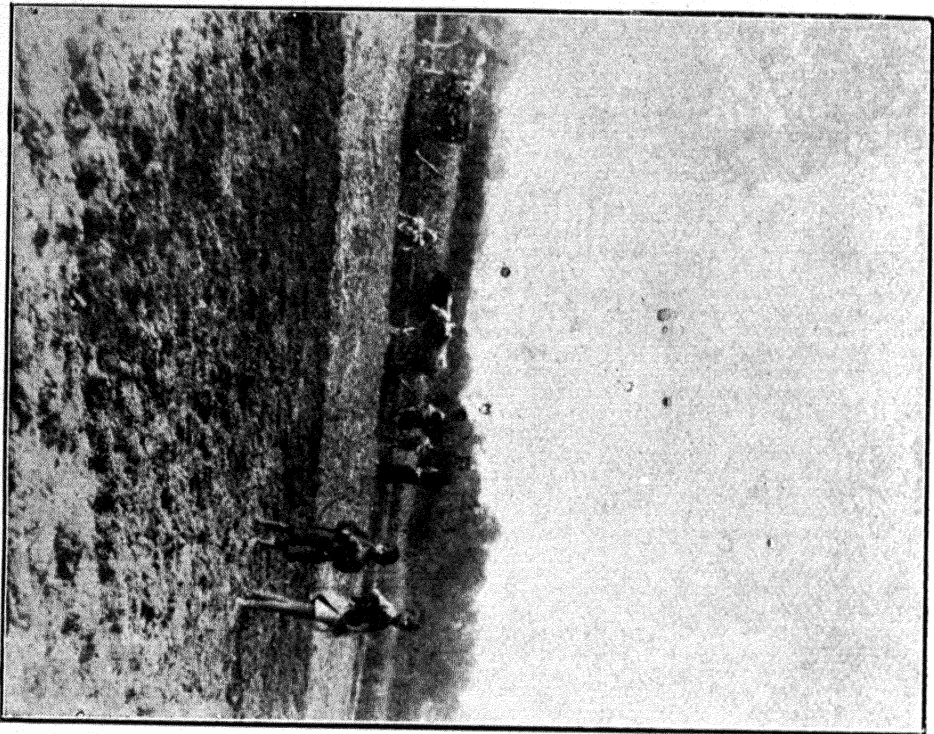
देसी हल से जुताई

पृष्ठ १०५

दो ज्वारे की जुताई
(देसी हल से)
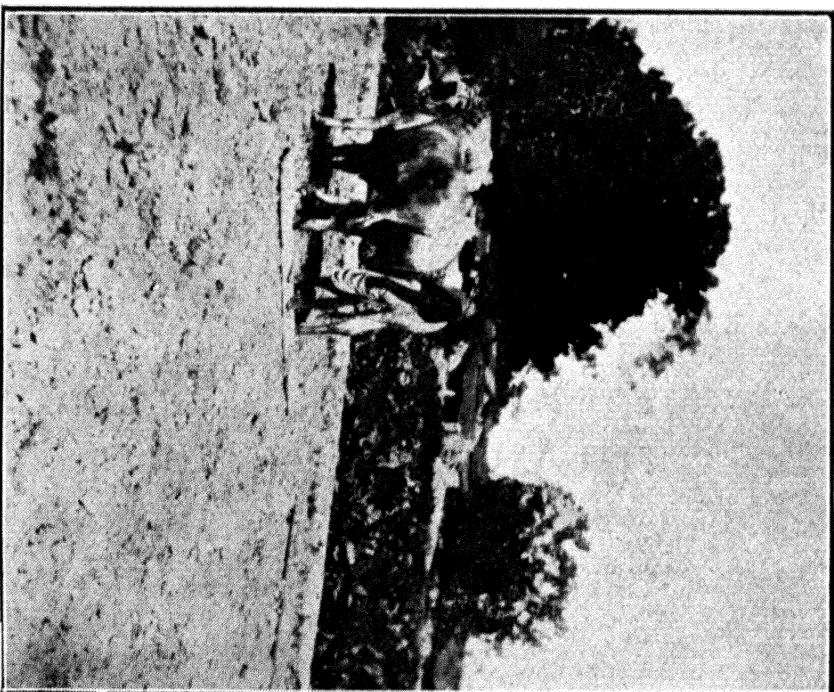
पृष्ठ १०५

पटेला देना ·

पृष्ठ १०५

पुराने तरीक़े से बुवाई

पृष्ठ १०५
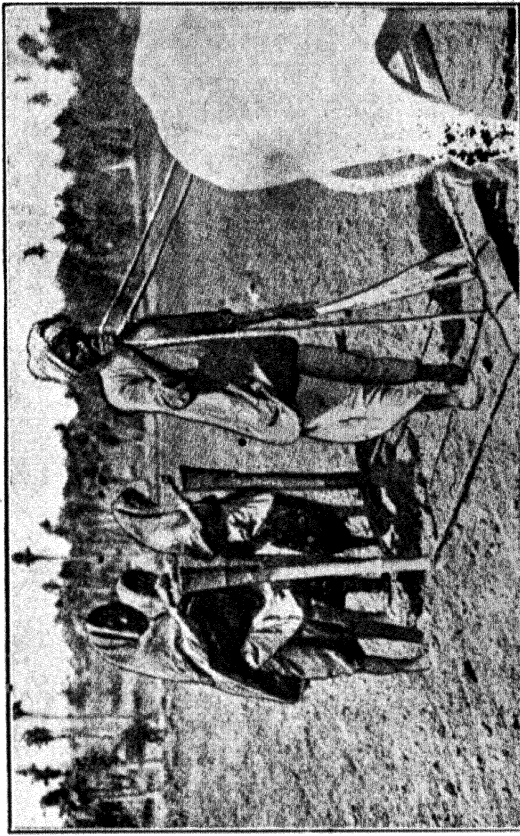
क्यारियाँ बना कर नये
तरीक़े से बुवाई

पृष्ठ १०६
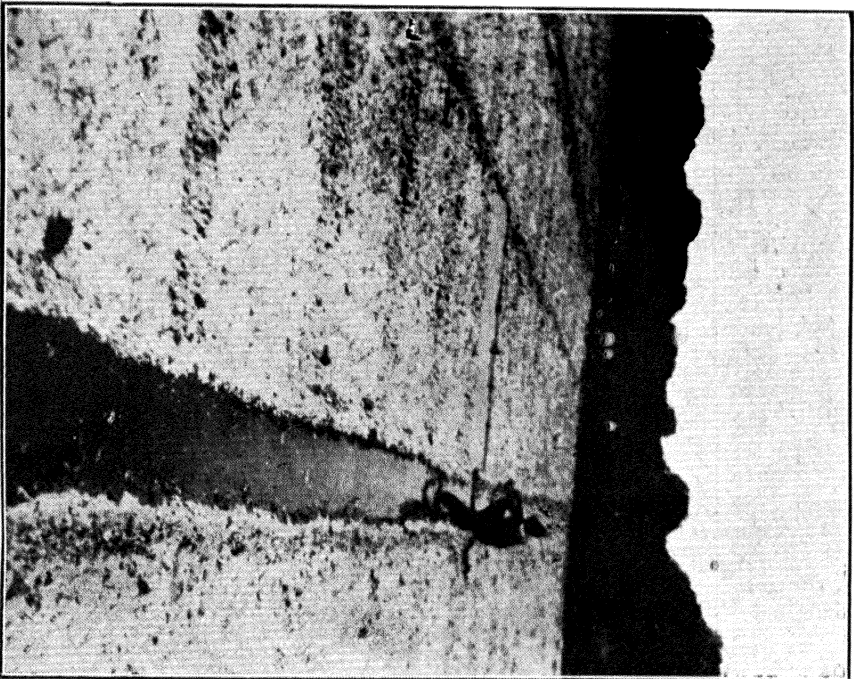
खेत में पानी देने की रीति

पृष्ठ १०६

पक्का कुआ और पनघट

पृष्ठ १०६
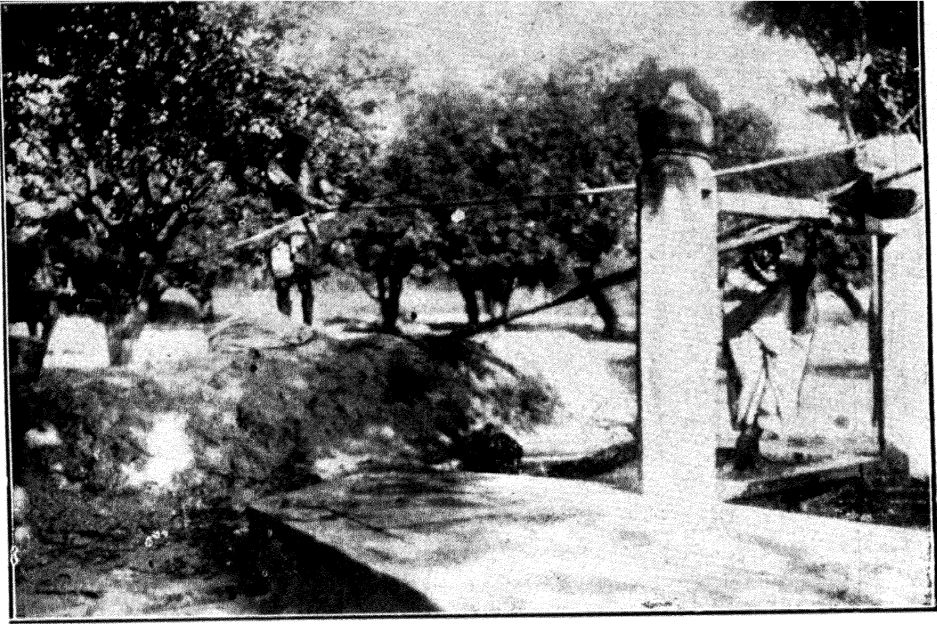
चरस द्वारा कुए से पानी निकालना

पृष्ठ १०८

परतवाई

पृष्ठ १०८
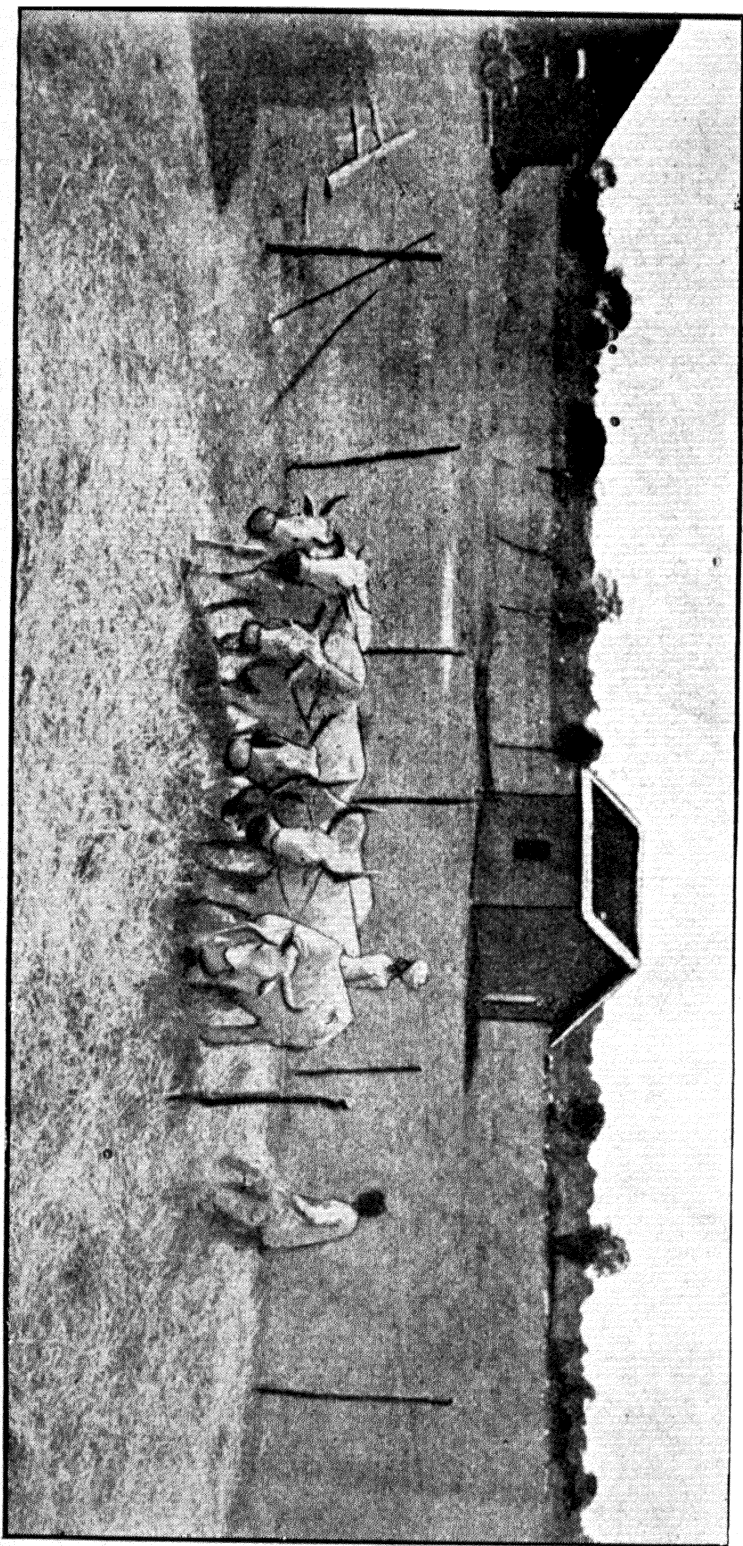
दाँय चलाई
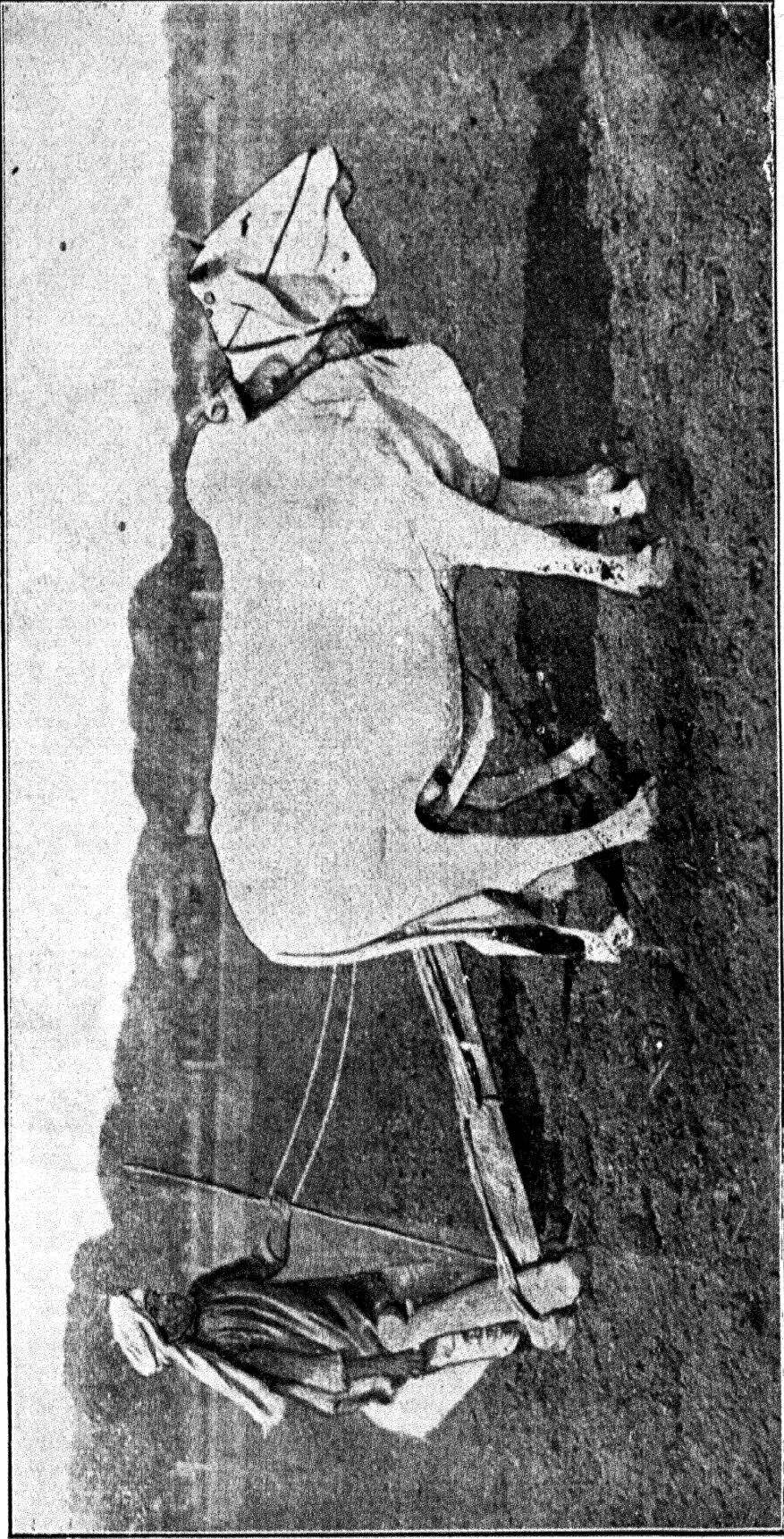
पंजाब के राजा हल से जुताई
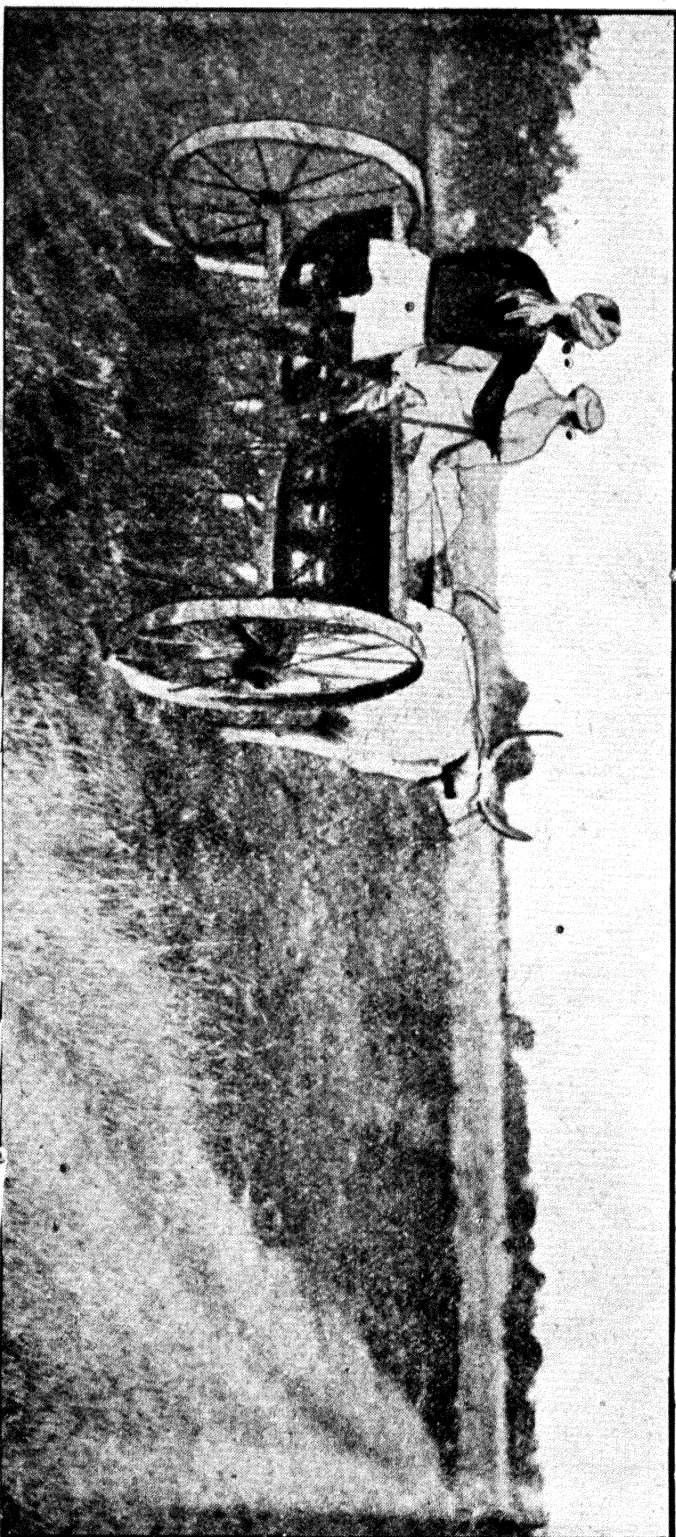
हो और बार हैरो

गेहूँ काटने की मशीन
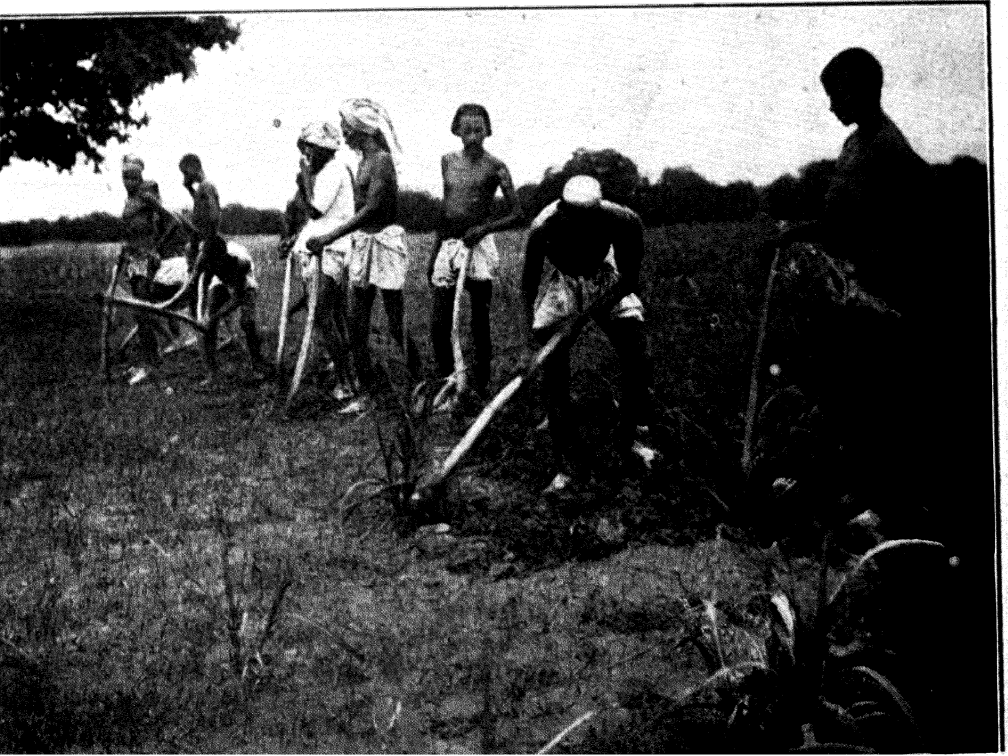
कुदालों से खेत की सफ़ाई

कुट्टी काटने की रीति

नाज का बटवारा

अनुक्रमणिका